ओ३म्

सांख्यदर्शनम्

विद्योदयभाष्यम्

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्तचार्य, शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

* ओ३म् *

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

३

सांख्यदर्शनम्

(विद्योदयभाष्यसहितम्)

विद्याभास्कर, वेदरत्न

उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

हमारे यहाँ से प्रकाशित लेखक द्वारा प्रणीत ग्रंथ

1. न्यायदर्शन भाष्य
2. वैशेषिकदर्शन भाष्य
3. सांख्यदर्शन भाष्य
4. योगदर्शन भाष्य
5. मीमांसादर्शन भाष्य
6. ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन भाष्य)
7. सांख्यदर्शन का इतिहास
8. सांख्य सिद्धान्त
9. प्राचीन सांख्य संदर्भ
10. वेदान्तदर्शन का इतिहास
11. वीर तरंगिणी (विभिन्न विषयों पर लेख)

ISBN : 81-7077-049-1

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110 006
दूरभाष : 23977216, 65360255
e-mail : ajayarya@vsnl.com
Website : www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 85वाँ वर्ष (1925-2010)

संस्करण : 2010

मूल्य : 160.00 रुपये

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

SANKHYADARSHANAM
by Acharya UdayVeer Shastri

प्रस्तावना

महर्षि दयानन्द ने आर्य मन्तव्यों के निर्धारण में जिन आर्ष ग्रन्थों को प्रामाणिक और पठनीय माना, उनमें वेदांगों और उपांगों को विशेष स्थान दिया है। वेदांग हमारे वे ग्रन्थ हैं जो वेदार्थ समझने में हमारी मौलिक सहायता करते हैं, जैसे— शिक्षा, व्याकरण, छन्द, कल्प, ज्योतिष और निरुक्त। ये ६ वेदांग किसी विशेष ग्रन्थ के नाम नहीं हैं। हमारे वाङ्‌मय के इतिहास में आचार्यों ने इन सब पर समय-समय पर मूल्यवान् ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें पाणिनि की शिक्षा और अष्टाध्यायी, पिंगल का छन्दशास्त्र, लगध का वेदांग ज्योतिष, यास्क का निरुक्त और कल्प-सम्बन्धी श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि हैं (मेरे निजी विचार में रसायन, शिल्प, आदि शास्त्र भी एक प्रकार से कल्प हैं—यज्ञेन कल्पन्ताम्)। वेदांगों के अनन्तर उपांगों की महत्ता है जिन्हें हम अपने दर्शनशास्त्र कह सकते हैं। भारतीय परम्परा में तीन वर्गों में विभक्त ६ उपांग निम्न हैं—(१) वैशेषिक और न्याय, (२) सांख्य और योग, (३) उत्तर मीमांसा अर्थात् शारीरक सूत्र (वेदान्त) और पूर्व मीमांसा। इन ६ दर्शनों के आचार्य क्रमशः कणाद मुनि, गोतम मुनि, कपिल मुनि, पतञ्जलि, बादरायण व्यास और जैमिनि हैं। इन सभी दर्शनों पर अनेक आचार्यों की वृत्तियाँ और भाष्य हैं जिनके माध्यम से विचारधाराओं का विस्तार सूक्ष्मता से किया गया है। ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट अन्ध-गज न्याय का संकेत करके यह स्पष्ट कहा है कि इन उपांग या दर्शनग्रन्थों में कोई विरोध नहीं है, और ये सभी वेद के तत्त्वज्ञान को अपने-अपने क्षेत्रों में व्यक्त करते हैं। इन दर्शन-ग्रन्थों पर हमारे आचार्यों ने भी तर्कसम्मत भाष्य किये हैं। ऋषि दयानन्द के लेख के अनुसार, "पूर्व-मीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गोतममुनिकृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिल मुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिभाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायन-मुनिकृत भाष्य, अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्ति-सहित पढ़ें-पढ़ावें।"

ऋषि दयानन्द ने जिन भाष्यों का उल्लेख किया है, वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं। आर्य जनता स्वामी दर्शनानन्दजी के सांख्य और वैशेषिक-भाष्यों से परिचित है। स्वामी दयानन्द को अपने जीवन में दर्शनों के भाष्य करने का अवसर न मिला; किन्तु उन्होंने विशेष बात यह घोषित की कि सांख्यदर्शन नास्तिकता का प्रति-

पादक नहीं है। कपिलजी की ईश्वर और वेद के सम्बन्ध में वैसी ही आस्था है, जैसी अन्य दर्शनों के आचार्यों की।

वर्तमान युग में भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्रों ने प्रकृति और द्रव्य के नवीनतम रहस्यों का जो उद्घाटन किया है, वह अपने वैचित्र्य के लिए प्रसिद्ध है। उन्नीसवीं शती के अन्त में ऊर्जा, द्रव्य, गति, आवेग, चर (momentum) आदि के सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ थीं, वे बीसवीं शती के वर्तमान दशकों में पूर्णतया बदल गई हैं—डाल्टन, न्यूटन, जे० जे० टामसन, जी० पी० टामसन, क्यूरी, रदरफोर्ड, ऐस्टन, फर्मी, चैडविक, डिराक, मैक्सप्लांक, श्रौडिंजर, हाइजनवर्ग (Dalton, Newton, J. J. Thomson, Curie, Rutherford, Aston, Fermi, Dirac, Chadwick, Max Planck, Schrodinger, Heisenberg) आदि अनेक भौतिकी और रसायनशास्त्र, एवं सांख्यिकी के आधुनिक अनुशीलकों ने द्रव्य, ऊर्जा और उनके रूपान्तरों एवं पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्रों में प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं।

दर्शनशास्त्रों पर आचार्य उदयवीर जी ने गहन अध्ययन किया है। सांख्यदर्शन के इतिहास पर तो उनका अद्वितीय अध्ययन रहा है, वे इस दर्शन के निर्विवाद मूर्धन्य विद्वान् हैं। उनके वैशेषिक और सांख्यदर्शनों के विद्योदय-भाष्यों में यह प्रयास किया गया है कि कपिल और कणाद मुनियों के तत्त्व-विज्ञानों का आज के वैज्ञानिक विचारों के साथ समन्वय किया जाए। यह कार्य कोई सरल नहीं है। रसायनशास्त्र में पंचमहाभूत अथवा वैशिष्य के नवद्रव्यों के स्थान पर तत्त्वों की संख्या १०९ या ११० के निकट तक पहुँच गई है, जिनमें से यूरेनियम (९२वाँ तत्त्व) से आगे के समस्त तत्त्व, जिन्हें हम ट्रांस-यूरेनियम तत्त्व कहते हैं, वे सभी कृत्रिम तत्त्व हैं जिनको वर्तमान विज्ञानवेत्ताओं ने प्रयोगशाला में स्वयं निर्मित किया है। इनकी जीवन-अवधि भी बहुत थोड़ी ही है। नेप्ट्यूनियम और प्लूटिनियम को छोड़कर ये तत्त्व प्रकृति में स्वतः नहीं पाए जाते हैं। वैशेषिक विचारधारा के ही परमाचार्य प्रशस्त-पाद ने एकाणुक, द्वैणुक, त्रश्वैणुक आदि की कल्पना प्रस्तुत की, जिसके आधार पर संसार महर्षि कणाद को अणुसिद्धान्त का जन्मदाता स्वीकार करता है। किन्तु बॉयल और डॉल्टन के बाद परमाणु और अणु के भेद समझने का प्रयास रसायनज्ञों ने किया। एक अणु में केवल एक परमाणु भी हो सकता है, जैसे कि हिलियम, आर्गन आदि। इसी प्रकार किसी तत्त्व के अणु में दो भी परमाणु हो सकते हैं और इससे अधिक भी। बाद को मोसली (Mosely) आदि रासायनिक वैज्ञानिकों ने परमाणु-संख्या की कल्पना प्रस्तुत की जिससे स्पष्ट हुआ कि हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तत्त्व तक तत्त्वों की संख्या केवल ९२ है।

वैज्ञानिक विचारों की प्रामाणिकता, उपादेयता आदि का मूल्यांकन करने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। न कपिल या कणाद पूर्णज्ञ थे

और न आज के वैज्ञानिक पूर्णज्ञ हैं। कणाद और कपिल का अपने युगों में वही विशिष्ट स्थान था जो आज के युग में वैज्ञानिकों का है। पूर्व-समय में यदि वे न होते तो हम विज्ञान की वर्तमान स्थिति तक भी न पहुँच सकते। हमें प्रसन्नता है कि आचार्य उदयवीर जी ने अपने सांख्य और वैशेषिक भाष्यों में प्राचीनतम से लेकर नूतनतम विचारधाराओं से हमें परिचित कराया है। निश्चय है कि इन उपांग दर्शनों के आचार्यों में उदयवीर जी का श्रेष्ठ स्थान है और हमें गर्व है कि वे अपनी वर्तमान दीर्घ आयु में अभी तक हमारे बीच में विद्यमान हैं। ९५ वर्ष से अधिक के इस आचार्य के प्रति हमारी अनेकानेक वन्दना है।

प्रसन्नता की बात है आर्य-संसार के प्रसिद्ध प्रकाशक श्री गोविन्दराम हासानन्द (दिल्ली) आचार्य श्री उदयवीर जी के दर्शनों के प्रकाशन की व्यवस्था कर रहे हैं।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

प्रस्तावना

'विद्योदय' भाष्य की विशेषता—प्रायः ऐसा देखा जाता है, कि दर्शनों के हिन्दी में किए गए आधुनिक व्याख्यान या तो पहले लिखे गए संस्कृत व्याख्यानों के अनुवादमात्र होते हैं, अथवा उनके आधार पर कुछ न्यूनाधिक करके लिख दिए जाते हैं। परन्तु ऐसी कोई बात प्रस्तुत भाष्य में नहीं है। मूल सूत्रपदों के अनुसार और गुरुपरम्पराद्वारा प्राप्त सांख्यज्ञान के गम्भीर विवेचन के आधार पर सांख्यसिद्धान्तों की जिन वास्तविकताओं को यथार्थरूप में समझा गया है, उन्हीं के अनुसार यह भाष्य प्रस्तुत किया गया है, इसमें न पुराने व्याख्यानों का अनुकरण है, और न निर्देशपूर्वक उनका प्रत्याख्यान है। उस समय के वातावरण और परम्पराओं के अनुसार उन व्याख्याकारों ने जैसा समझा, वैसा व्याख्यान किया, उनकी आन्तरिक ज्ञाननिधि पर किसी प्रकार की प्रतिकूल भावना करना अनुचित होगा, उनके साथ अन्याय करने के तुल्य होगा। अब परिस्थिति और साधनों में अन्तर आ गया है, साम्प्रतिक वातावरण में अनेक प्रकार की प्रचलित भ्रान्तियों से दबे हुए अर्थों को उनकी वास्तविकता के रूप में उभार लिया गया है; जिनके कारण सांख्य के अनेक यथाभूत तत्त्वार्थों को समझने में पर्याप्त अनुकूलता हुई है। फलतः यह स्वाभाविक था, कि इस भाष्य में पहले व्याख्यानों का अन्धानुकरण न किया जाए। इसप्रकार यह भाष्य सांख्य की अति प्राचीन परम्पराओं की यथार्थता को उभारने में पर्याप्त सीमा तक सहायक होगा।

षडध्यायीरूप सांख्यसूत्रों के विषय में प्रचलित भ्रान्तियां—षडध्यायीरूप सांख्यदर्शन–जिसका अपरनाम 'षष्टितन्त्र' है–भारतीय परम्परा के अनुसार अति प्राचीन काल से परमर्षि कपिल की रचना माना जाता रहा है। शुंगकाल से कुछ शताब्दी पूर्व तथा कुछ अनन्तर काल तक सांख्यविषय पर जो साहित्य लिपिबद्ध किया गया, उसे ठीक प्रकार से न समझकर वर्त्तमान शताब्दी में भारतीय परम्परा की उक्त मान्यता पर सन्देह किया जाने लगा। अनेक[1] आधुनिक विद्वानों ने ऐसा

१. मैक्समूलर, 'सिक्स सिस्टम् ऑफ इण्डियन फ़िलासफ़ी' पृ० १५३
कीथ, 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिट्रेचर' पृ० ४८९
सत्यव्रत सामश्रमी, 'निरुक्तालोचन' पृ० ९८
बाल गंगाधर तिलक, 'गीतारहस्य' प्रथम संस्करण, पृ० १५३
चिन्तामणि विनायक वैद्य, 'महाभारतमीमांसा' पृ० ५१८
राजाराम शास्त्री, 'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ'

विचार प्रकट किया है, कि वर्त्तमान षडध्यायी सांख्यदर्शन कपिल की रचना नहीं है। इसके लिए तीन बातों को प्रबल प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है—

१—सांख्य के कुछ सूत्र कारिकारूप हैं, अतः कारिकाओं [ईश्वरकृष्ण-रचित-सांख्यसप्तति] के आधार पर बाद में किसी के द्वारा उनकी रचना की गई होगी।

२—शंकराचार्य सायण आदि ने अपने ग्रन्थों में सांख्यसूत्रों का कहीं उल्लेख नहीं किया, और न उद्धरण ही दिए हैं, जबकि कारिकाओं के उद्धरण उन ग्रन्थों में मिलते हैं। इसलिए सूत्रों की रचना सायण आदि के बाद होनी चाहिए।

३—सांख्यदर्शन के सूत्रों में कुछ स्थलों पर जैन एवं बौद्ध मतों का उल्लेख और उनका प्रत्याख्यान पाया जाता है, तथा न्याय वैशेषिक आदि का नाम उपलब्धहोता है, जो इन सूत्रों की प्राचीनता का बाधक है और इन्हें कपिल की रचना मानने में सन्देह उत्पन्न करता है।

एतदतिरिक्त अनेक विद्वानों ने विशेषरूप से पाश्चात्य विचारकों ने यह भी कहा, कि कपिल नाम का कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हुआ, यह एक पौराणिक कल्पनामात्र है। तब उसके द्वारा किसी शास्त्र की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। इसप्रकार की अनेक भ्रान्तियां षष्टितन्त्र [सांख्यदर्शन] और उसके रचयिता के विषय में आजकल प्रचलित हैं।

हमने सांख्यविषयक भ्रान्तियों का प्रामाणिक विवेचन अपने ग्रन्थ '**सांख्य-दर्शन का इतिहास**' में किया है जिसकी अध्यायवार विषयवस्तु नीचे दी जाती है—

१—प्रथम अध्याय में कपिल की ऐतिहासिकता में अनेक प्रमाणों का संग्रह किया गया है। प्राचीन साहित्य में यथोपलब्ध इतिहास तथा कपिल के माता-पिता सगे-सम्बन्धी तथा जन्मभूमि आदि का वर्णन यथाप्राप्त किया गया है।

२—द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया गया है कि कपिल ने 'षष्टितन्त्र' की रचना की, उसका ही दूसरा नाम 'सांख्यशास्त्र' अथवा 'सांख्यदर्शन' है। विविध साहित्य के प्रमाणों से इस विषय को सुपुष्ट किया गया है। 'कपिल ने षष्टितन्त्र की रचना की' यह केवल परम्परा ही नहीं, प्रत्युत विभिन्न साहित्य में इसका तथ्यरूप में उल्लेख होता रहा है, यथामति उन सबका संग्रह पाठक इस अध्याय में पायेंगे।

३—सांख्यसूत्र कपिल की रचना नहीं, इसमें जो पहला हेतु दिया जाता है, कि कतिपय सूत्र कारिकारूप होने से उन्हीं के आधार पर किसी ने इन सूत्रों की रचना कर दी होगी; इस कथन का सुपुष्ट प्रमाणों से निराकरण तृतीय अध्याय में किया गया है। यहां यह भी निश्चित किया गया है, कि कापिल सूत्रों के वास्तविक पाठ कारिकारूप नहीं हैं, इनको कारिकारूप बाद में दिया गया है, जो क्रम आज भी चालू है।

४—शंकर सायण आदि के ग्रन्थों में सूत्रों के उद्धरण न होने के रूप में जो हेतु इन सूत्रों के अकापिल होने में कहा जाता है, उसका विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। सायण तथा शंकर के ग्रन्थों के अतिरिक्त सायण से लेकर ईश्वरकृष्ण तक के साहित्य में लगभग पन्द्रह-सोलह सूत्र उद्धृत किए गए यहां दिखाए गए हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन साहित्य में अनेक सांख्यसूत्र उद्धृत हुए हैं, उनका भी उल्लेख इस अध्याय में किया गया है।

५—सांख्यसूत्रों के कपिल-रचना न होने में तीसरी बात कही जाती है, कि इन सूत्रों के कुछ स्थलों में जैन बौद्ध आदि का खण्डन तथा न्याय वैशेषिक आदि का नामोल्लेख है। पांचवें अध्याय में इस धारणा का विशद विवेचन किया गया है, और सुपुष्ट आन्तरिक साक्षियों के आधार पर सांख्यदर्शन में कतिपय सूत्रों का प्रक्षेप पकड़ लिया गया है। इन सूत्रों में 'पाटलिपुत्र' और 'स्रुघ्न' नगरों का भी नामोल्लेख है, जिससे इस निश्चय पर प्रकाश पड़ता है, कि इन सूत्रों का प्रक्षेप शुंगकाल के आसपास किसी व्यक्ति ने किया होगा, जब दोनों नगर अपनी उन्नतदशा के कारण प्रसिद्ध थे, इत्यादि विश्लेषण विज्ञपाठक इसी अध्याय में पायेंगे।

६, ७—छठे और सातवें अध्याय में यथाक्रम सांख्यसूत्रों के पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों तथा सांख्यकारिका के टीकाकारों के प्रादुर्भावकाल का निर्णय किया गया है, इस विषय में अन्य जो कुछ आधुनिक समय में लिखा गया है, उसका यथायथ विवेचन भी विज्ञ पाठक यहीं पायेंगे।

८—आठवें अध्याय में ईश्वरकृष्ण से प्राचीन सांख्याचार्यों का यथोपलब्ध वर्णन है। उनमें से जिन आचार्यों के कोई सन्दर्भ विभिन्न साहित्य में उद्धृत उपलब्ध हुए हैं, उनका संग्रह यहां कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त 'विन्ध्यवासी रुद्रिल' तथा एक विस्मृत सांख्याचार्य 'माधव' का वर्णन भी किया गया है।

महर्षि कपिल का ईश्वरवाद

अनेक शताब्दियों से यह प्रवाद प्रचलित रहा है, कि कपिल अनीश्वरवादी था। परन्तु वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी का गम्भीर तर्कपूर्ण अध्ययन इस परिणाम पर नहीं पहुँचाता, तब यह विवेचनीय हो जाता है, कि इस प्रवाद का रहस्य क्या रहा होगा ?

सांख्यशास्त्र के साथ कपिल का नाम उसके आदि काल से जुड़ा हुआ है। इस विचार में भारतीय समस्त वाङ्मय निर्विवादरूप से एकमत है, कि सांख्य का प्रवक्ता आदि विद्वान् परमर्षि कपिल है। कपिल के अनन्तर सांख्यपरम्परा में अनेक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने कतिपय विषयों में कपिल के विचारों से अपना मतभेद प्रस्तुत किया है। उनमें एक मुख्य आचार्य वार्षगण्य है। उसका कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं, पर सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में उसके कतिपय उद्धृत सन्दर्भ उपलब्ध

होते हैं, जिनके आधार पर वार्षगण्य के विचारों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। उसका एक सन्दर्भ युक्तिदीपिका [पृ० १०२] में उद्धृत है—

'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणा आदिसर्गे वर्त्तते'।

आदिसर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति, चेतनारहित [अप्रत्यया] अर्थात् पुरुष से अपरिगृहीत-अननुगृहीत-अप्रेरित ही हुआ करती है। इससे स्पष्ट है, वार्षगण्य प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन-प्रेरणा की अपेक्षा स्वीकार नहीं करता, यह मान्यता जगत् के प्रति ईश्वर के नियन्त्रण को हटा देती है। भारतीय साहित्य पर सांख्य के अनुपम प्रभाव का लाभ उठाने की भावना से अनीश्वरवादी बौद्ध विद्वानों ने अपने उदय-काल में 'वार्षगण्य' के इस सिद्धान्त का सांख्य के नाम से प्रचार किया, जो कालान्तर में सांख्य के साथ 'कपिल' का अटूट सम्बन्ध होने से 'कपिल' पर आरोपित होगया, अनन्तर उक्त विचार के प्रभाव में मध्य-कालिक विद्वानों द्वारा सांख्य के 'ईश्वरा-सिद्धेः' सूत्र के वास्तविक अर्थ समझने में भ्रान्ति होजाने के कारण इस विचार को काफी हवा दी गई, और इस आधार पर 'कपिल' अनीश्वरवादी मान लिया गया।

वस्तुतः कापिल सांख्य में जड़ प्रकृति को जगत् का मूल उपादान स्वीकार करने के कारण ईश्वर को जगत् का केवल अधिष्ठाता व नियन्ता माना गया है; इसीकारण प्रकृति से अतिरिक्त ईश्वर तथा अन्य किसी तत्त्व को जगत् के उपादान होने का निषेध किया गया है। 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र में भी जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है। सर्वजगन्नियन्ता ईश्वर का यहां निषेध नहीं है। पूर्वापर प्रसंग के अनुसार यह अर्थ किसप्रकार स्पष्ट होता है, यह उस सूत्र के प्रक-रण और उसकी टिप्पणी में विस्तार के साथ प्रकट कर दिया है। सांख्य के अन्य प्रसंगों [३।५६–५७, तथा ५।२–१२] में भी ईश्वर के जगन्नियन्ता व अधिष्ठाता होने तथा प्रकृति के जगदुपादान होने का विस्तृत वर्णन है।

इससे स्पष्ट है, कि वास्तविक सांख्यसिद्धान्त अकाल में ही किस प्रकार भ्रान्ति-घटाओं से आच्छादित होते रहे हैं। प्रस्तुत भाष्य में उनको विच्छिन्न कर वास्तविकताओं को स्पष्ट करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है। विवेकशील पाठक मनन करने पर स्वयं अनुभव करेंगे।

विनीत—

उदयवीर शास्त्री

विषयवस्तुसूची

ओ३म्

सांख्यदर्शनम्

(षष्टितन्त्रापरनामधेयम्)

विद्योदय-भाष्यसहितम्

अनन्त दुःख सागर में डूबी हुई जनता का उद्धार करने की इच्छा से आदि-विद्वान् परमर्षि कपिल ने अतिप्राचीन काल में सांख्य अथवा षष्टितन्त्र नामक मोक्षशास्त्र का उपदेश किया, जिसका प्रथम सूत्र है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।।१।।

[त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः] तीन प्रकार के दुःखों की अतिशय निवृत्ति [अत्यन्तपुरुषार्थः] मोक्ष है, [अथ] उसका (उसके प्रतिपादक शास्त्र का) प्रारम्भ करते हैं।

पुरुषार्थ पद का अभिप्राय है—पुरुष का प्रयोजन। सांख्यशास्त्र में पुरुष पद का प्रयोग चेतन तत्त्व के लिए होता है, जिसमें परमात्मा और जीवात्मा दोनों का समावेश है। प्रस्तुत सूत्र में 'पुरुष' पद केवल जीवात्मा के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि शास्त्र का आरम्भ इसी के लिये है। शास्त्र जीवात्मा के दो प्रयो-जनों का निर्देश करता है, एक भोग दूसरा अपवर्ग। भोगरूप प्रयोजन का निर्देश तृतीय सूत्र में किया जायगा। सांख्य मोक्षशास्त्र है, अतएव सर्वप्रथम सूत्र में अप-वर्ग का उल्लेख किया गया है। यह मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट सर्वातिशायी प्रयो-जन है, इसलिये इसको 'अत्यन्तपुरुषार्थ' कहा है। इसी के अपर नाम अपवर्ग अथवा मोक्ष आदि हैं। आत्मा के लिए मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन करना इस शास्त्र का प्रयोजन है, अतएव सर्वप्रथम मोक्षस्वरूप के निर्देश के साथ इस शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है।

सूत्र में 'अथ' पद का अर्थ अधिकार अथवा प्रारम्भ करना है। यह पद उच्चारण मात्र से माङ्गलिक भी समझा जाता है। सर्वप्रथम इस पद का उच्चारण शास्त्रचर्चा में माङ्गलिक भावनाओं का उद्भावक है, जिससे शास्त्र की सफलता तथा अध्ययनाध्यापन में उपस्थित होने वाले विघ्नों के अपहरण का संकेत किया गया है। जिससे श्रोता प्रवक्ता अध्येता उपदेष्टा सदा मंगलमय भावनाओं से युक्त रहें, तथा मंगलमय स्थिति को प्राप्त करें।

जिस मोक्ष का प्रतिपादन करने के लिए इस शास्त्र का प्रारम्भ किया जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है ? सूत्रकार ने अतिसंक्षेप में उसका निर्देश किया— 'त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्ति:' तीन प्रकार के दु:खों से अतिशय छूट जाना। संसार में हम दु:खों से छूटने के लिये धन आदि अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं, थोड़े बहुत समय के लिए हम किसी एक दु:ख से छुटकारा पाते भी हैं, पर फिर हमें शीघ्र अन्य दु:खसमूह आ घेरता है, किसी एक दु:खनिवृत्ति के काल में भी अन्य दु:ख आते रहते हैं। इसप्रकार सांसारिक साधनों के द्वारा न तो हमारे दु:ख अधिक समय के लिये छूट पाते हैं और न उतने काल में नैरन्तर्य की स्थिति आ पाती, क्योंकि जितने समय के लिये कोई कष्ट दूर होता है, उसके अन्तराल में अन्य कष्ट आ उपस्थित होते हैं। अतएव इन अवस्थाओं को परमपुरुषार्थ, मोक्ष या अपवर्ग नहीं कहा जा सकता। मोक्ष की अवस्था वही है, जहां तीनों प्रकार के दु:खों की अधिकाधिक समय के लिये निवृत्ति हो जाय और उसमें नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे। अभिप्राय यह है कि उतने समय में किसी प्रकार के दु:ख का अस्तित्व न रहना चाहिये।

दु:ख के समस्त प्रकारों का तीन वर्ग में समावेश किया गया है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। आध्यात्मिक दु:ख वह है, जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का है, एक शारीर दूसरा मानस। शरीर के वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से अथवा आहार, विहार आदि के वैषम्य से जो दु:ख उत्पन्न हो जाता है, वह 'आध्यात्मिक शारीर' दु:ख कहा जाता है, तथा जो काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदि मनोविकारों के कारण दु:ख उत्पन्न होता है, उसे 'आध्यात्मिक मानस' दु:ख कहते हैं। आधिभौतिक वह दु:ख है, जो अन्य भूतों अर्थात् प्राणियों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। सांप, बिच्छू आदि के काटने से, अन्य हिंस्र प्राणियों द्वारा आघात पहुंचाने से, किसी के मारने पीटने अथवा कटु वाक्य कहने से, इसी ढंग की किसी भी रीति से होने वाला दु:ख इस वर्ग में आता है। आधिदैविक दु:ख वह है, जो वर्षा, आतप, हिमपात, विद्युत्पात भूकम्प तथा वायु आदि जनित उत्पातों के कारण उत्पन्न होता है।

इन तीनों प्रकार के दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति अथवा आत्मा का इन दु:खों से अलग हो जाना अत्यन्तपुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहा जाता है; उसके प्रतिपादक शास्त्र का प्रारम्भ करते हैं ॥१॥

चिकित्साशास्त्र के समान यह मोक्षशास्त्र भी चतुर्व्यूह होता है। चिकित्सा शास्त्र में जैसे रोग, रोग का निदान, आरोग्य तथा आरोग्य के हेतु-भैषज्य आदि का प्रतिपादन होकर शास्त्र की पूर्णता होती है, इसी प्रकार मोक्षशास्त्र में हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय इन चार समूहों का प्रतिपादन होता है। दु:ख 'हेय'

है, अर्थात् त्याज्य, जिससे हम छुटकारा चाहते हैं। अविवेक 'हेयहेतु' है, सांख्यशास्त्र में आत्मा के दुःख का कारण 'अविवेक' बताया गया है, चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात् ज्ञान न होना अविवेक है। जब तक प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक आत्मा दुःख भोगा करता है। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति 'हान' है, इसप्रकार मोक्ष का अपर नाम हान' होता है। इसका उपाय है—विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। इन चार व्यूह-समूह चरण अथवा आधारभूत स्तम्भों पर शास्त्र के भव्य भवन का निर्माण किया जाता है। प्रथम सूत्र में 'हेय' और 'हान' इन दो व्यूहों का संक्षेप से निर्देश किया गया है। अब 'हानोपाय' अर्थात् मोक्ष के साधनों का प्रतिपादन करना है, जो शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन है। यदि अन्य उपायों से दुःख की निवृत्ति हो सकती है, तो व्यर्थ में शास्त्र का आरम्भ क्यों किया जाय ? सूत्रकार कहता है—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥२॥

[दृष्टात्] दृष्ट उपाय से [तत्सिद्धिः] अत्यन्त दुःखनिवृत्ति की सिद्धि [न] नहीं, [निवृत्तेऽपि] एक दुःख के निवृत्त होने पर भी [अनुवृत्तिदर्शनात्] अन्य दुःखों की अनुवृत्ति (सिलसिला) देखे जाने से।

दुःख निवृत्ति के लिए लोक में दो उपाय देखे जाते हैं, एक साधारण लौकिक उपाय धन आदि का अर्जन,तथा दूसरा वैदिक उपाय यज्ञ याग आदि का अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र में प्रथम उपाय के सम्बन्ध में विवेचन है, दृष्ट उपाय धनाद्यर्जन आदि से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि धन, वनिता, भव्य भवन, दास, दासी तथा अन्य विविध साज सज्जा संभार रहते हुए भी, किसी एक दुःख का अभाव भले ही हो जाय, अन्य अनेक प्रकार के दुःखों का सिलसिला बना रहता है। फिर ये साधन स्थायी नहीं, आज हैं कल नहीं, बहुत जल्दी नष्ट होने वाले। इसलिये धनादि दृष्ट उपाय से अत्यन्त दुःखनिवृत्ति की सिद्धि होनी नहीं ॥२॥

यदि धनादि अर्जन की यही स्थिति है, तो समस्त जनता इस ओर प्रवृत्त क्यों होती है ? वस्तुतः लोक में उसकी पूर्ण उपयोगिता है, इसी बात को सूत्रकार ने कहा है—

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥३॥

[प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्] प्रतिदिन की क्षुधा (भूख) के प्रतीकार के समान [तत्प्रतीकारचेष्टनात्] अन्य दुःखों के प्रतीकार के लिए प्रयत्न किये जाने से [पुरुषार्थत्वम्] (धनादि का अर्जन भी) पुरुषार्थ है।

प्रतिदिन हम को भूख लगती है, अन्न आदि का उपयोग कर हम उसका प्रतीकार कर देते हैं। भूख हमें फिर सताती है और फिर हम वही उपाय करते हैं। कुछ समय के लिये भूख शान्त हो जाती है, पर वह हमारा पीछा नहीं छोड़ती।

इसी प्रकार लोक में धनादि अर्जन हमारी अनेक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, पर यह आवश्यकता की खाई कभी पूरी न हो पाई। चाहे किसी अंश तक हो, लौकिक स्थिति में धनादि अर्जन की महती उपयोगिता है, क्योंकि धनादि के द्वारा दैनिक आवश्यकताओं की पूत्ति होने पर जिज्ञासु अत्यन्त पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए आत्म-चिन्तन में प्रवृत्त हो पाता है। इसीलिए कपिल ने इसको पुरुषार्थ बताया है। पर यह केवल 'पुरुषार्थ' है 'अत्यन्तपुरुषार्थ' नहीं ॥३॥

इसी कारण सर्वांश में इसको उपादेय न मानकर हेय पक्ष में रक्खा गया है, सूत्रकार ने यह अर्थ स्पष्ट किया है—

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ॥४॥

[सर्वासम्भवात्] सब अवस्थाओं में संभव न होने से, [सम्भवेऽपि] संभव होने पर भी [सत्तासम्भवात्] दुःख बने रहने अथवा दुःखनिवृत्ति न होने से [प्रमाण-कुशलैः] प्रमाणकुशल (मुमुक्षु) व्यक्तियों द्वारा (मोक्ष के लिये दृष्ट उपायों का अवलम्बन) [हेयः] त्याज्य है।

सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं में दृष्ट उपायों का होना संभव नहीं, इसलिये दुःखों की वास्तविक निवृत्ति के लिए ये उपाय सर्वथा अधूरे हैं। रोग होने पर प्रत्येक देश,काल या अवस्था में चिकित्सक या भैषज्य की प्राप्ति होजाना, भूख लगने पर उपयुक्त अन्न आदि का मिल जाना, इसी प्रकार की अन्य आव-श्यकताओं के होने पर उनकी पूत्ति या प्रतीकार के लिए आवश्यक उपायों का प्राप्त हो जाना, निश्चित नहीं, इसलिए इन उपायों की निस्सारता स्पष्ट है। यदि ये उपाय किसी प्रकार संभव हो सकें, तो भी इनसे अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का होना संभव नहीं। कभी कभी तो ये उपाय साधारण दुःखनिवृत्ति में भी असमर्थ रहते हैं। इसलिए प्रमाणकुशल व्यक्तियों के द्वारा त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति-रूप प्रयोजन के लिए दृष्ट उपायों का अवलम्बन सर्वथा हेय है, परित्याज्य है।

कपिल प्रत्येक अवस्था में संसार को हेय नहीं कहता, जो व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग में रत है, उसके लिये समस्त लौकिक वैदिक कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना उसकी दृष्टि में आवश्यक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को घर-बार छोड़कर जंगल में चले जाने का उपदेश नहीं करता। उसने तो इसे भी 'पुरुषार्थ' की कोटि में रक्खा है। न यह भावना वैदिक मान्यताओं की परम्परा में स्थान पा सकी है। वस्तुतः यह विकृत बौद्ध विचारों की देन है, जिसने बाद में आर्य साहित्य में अवकाश पाया, इस सम्बन्ध में कपिल के विचार सूत्र के 'प्रमाणकुशलैः' पद से स्पष्ट हो जाते हैं। 'प्रमाण' पद का अर्थ तत्त्वज्ञान का साधन शास्त्र है, जो व्यक्ति अध्यात्मशास्त्र में कुशल हैं, जिन्होंने प्रवृत्ति मार्ग की अस्थिरता को समझकर उधर से विरत हो अध्यात्म मार्ग को अपना लिया है, उन्हीं के लिये दृष्ट उपायों को हेय बताया गया

है। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं। पर इस मार्ग पर जाने का अधिकार सबको समान है, और सबके लिये यहाँ स्वागत है ॥४॥

मानव जीवन का परमलक्ष्य दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाना है। उसकी उपादेयता केवल इतने पर आधारित नहीं कि वह दृष्ट उपायों से अप्राप्य है, प्रत्युत वेद भी उसके उत्कर्ष की घोषणा करता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥५॥

[मोक्षस्य] मोक्ष के [उत्कर्षादपि] उत्कर्ष से भी (उसकी उपादेयता सिद्ध है) [सर्वोत्कर्षश्रुतेः] वेद उसे सबसे उत्कृष्ट बताता है।

वेद मोक्ष की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करता है, मानव के लिए सबसे ऊँचा लक्ष्य मोक्ष का प्राप्त करना है, इसलिए उत्कर्ष रूप कारण से भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है। वह यत्न, बिना उन उपायों के जाने हो नहीं सकता, अतः उन उपायों के प्रतिपादन के लिए शास्त्रारम्भ आवश्यक है।

वेद में 'अमृत' पद से आत्मा की मोक्ष अवस्था का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद [७।५९।१२] में जीवात्मा प्रार्थना करता है—'मैं मृत्यु से छुटकारा पा जाऊँ, अमृत से नहीं'। वेदों के समस्त पुरुषसूक्तों [ऋ० १०।९०, यजु० ३१ आदि] में अमृत पद से मोक्ष की महिमा का वर्णन है। अथर्ववेद [१९।६।३], यजुर्वेद [३।६०] और ऋग्वेद [३।३४।२।। ४।२।९ आदि] के अनेक स्थलों में अविनाशी सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए विविध प्रार्थनाओं का उल्लेख है। आत्मा की यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट बताई गई है ॥५॥

यह ठीक है कि त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति लौकिक उपाय से नहीं हो सकती, पर वेदप्रतिपाद्य यज्ञ याग आदि के अनुष्ठान से हो जायगी। वेद में कहा भी है, 'अपाम सोमममृता अभूम' [ऋ० ८।४८।३], हम सोम का पान करते हैं, अमर हो जाते हैं। सोमपान यज्ञ यागादि अनुष्ठान का संकेत करता है, ऐसी स्थिति में मोक्ष के अन्य उपायों का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ की क्या आवश्यकता है? सूत्रकार इस सम्बन्ध में कहता है—

अविशेषश्चोभयोः ॥६॥

[उभयोः] (दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिये) दोनों प्रकार के (लौकिक वैदिक) उपायों का [अविशेषः] अविशेष-साम्य है।

जहाँ तक दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का प्रश्न है, लौकिक धन आदि पदार्थ तथा वैदिक यज्ञ याग आदि अनुष्ठान, दोनों प्रकार के उपायों में कोई विशेषता नहीं है। जैसे लौकिक धन आदि साधनों से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार केवल यज्ञ याग आदि के अनुष्ठान से भी नहीं हो सकती। यज्ञादि का अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा विवेकज्ञान में उपकारक या सहायक अवश्य

है, पर वह मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं। सांख्यसूत्रों [३।२३-२५] में इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। मोक्ष का साक्षात् उपाय प्रकृति-पुरुष अथवा चेतन अचेतन का अनुभूतिरूप विवेकज्ञान है। मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप से उपस्थित विवेकज्ञान के साथ अन्य किसी के समुच्चय अथवा विकल्प का अवकाश नहीं। परन्तु विवेकज्ञान होने तक शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते रहना आवश्यक है। फलतः विवेकज्ञान के लिए शास्त्रारम्भ अपेक्षित है, जिससे तत्त्वों के वास्तविक विवेचन में सहयोग प्राप्त हो सके।

इस प्रसंग के आधार पर कुछ विद्वानों का यह विचार है कि कपिल ने वैदिक यज्ञ याग आदि कर्मों के प्रति, उन्हें मोक्ष का साधन न मानकर, उपेक्षा अथवा अनादर की भावना प्रकट की है। पर वस्तुतः कपिल की ऐसी कोई भावना प्रतीत नहीं होती। यह एक स्थिर विचार है कि वैदिक काम्य कर्म केवल भोग के साधन होते हैं, अपवर्ग के नहीं। निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक होते हैं। शुद्धान्तःकरण मुमुक्षु अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होता है तथा समाधि आदि के द्वारा आत्मज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार होने पर अपवर्ग को प्राप्त करता है। इसप्रकार निष्काम कर्म भी आत्मज्ञान अथवा विवेकज्ञान में उपकारक-मात्र होते हैं। यही स्थिति उनकी अपवर्ग के प्रति कही जा सकती है। वैदिक कर्म अपवर्ग के साधन नहीं हैं, इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि आत्मज्ञान अथवा विवेकज्ञान मोक्षसाधनरूप में वैदिक या वेदप्रतिपाद्य नहीं हैं। प्रत्युत ज्ञान को वेद में स्पष्ट ही आत्मप्राप्ति के साधनरूप में वर्णित किया गया है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' [यजु० ४०।१४] ज्ञान द्वारा अमृत की प्राप्ति होती है। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] अचेतन प्रकृति से परे प्रकाशस्वरूप चेतन उस महान पुरुष को मैं (आत्मज्ञानी) जानता हूं। उसको ही जानकर मृत्यु के पार जाया जाता है, मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की एक कण्डिका इस अर्थ को अति स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म[1] तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥१७॥

---

१. हमने इस ग्रन्थ में अन्यत्र इस विचार को स्पष्ट किया है, कि वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर 'ब्रह्म' पद का प्रयोग, ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों पदार्थों के लिए हुआ है। उन स्थलों में इस पद से कहीं तीनों, कहीं दो और कहीं एक का ग्रहण होता है। इसकी व्यवस्था प्रकरणानुसार स्पष्ट हो जाती है। प्रस्तुत कण्डिका के उत्तरार्द्ध में दो बार 'ब्रह्म' पद का प्रयोग है। प्रथम अर्द्ध का प्रयोग तीनों के लिए हुआ है और द्वितीय का केवल ईश्वर के लिये। जहाँ

ब्रह्म का उत्कृष्ट स्वरूप ऋषियों ने इस प्रकार गाया है कि उस ब्रह्म में तीन अविनाशी तत्त्व सुप्रतिष्ठित हैं। आत्मज्ञानी ऋषि उनके भेद को जानकर सांसारिक दुःखों से छूट, मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस रूप में वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य के अनेक सन्दर्भ उक्त अर्थ को पुष्ट करते हैं ॥६॥

द्रव्यार्जन औषधोपचार आदि लौकिक तथा यज्ञ याग आदि वैदिक काम्य कर्म मोक्ष के वास्तविक उपाय नहीं, इसलिये वस्तुभूत उपाय-विवेकज्ञान की सिद्धि के लिए शास्त्रारम्भ आवश्यक है। पर अब विचारणीय यह है कि मोक्ष तो उसी का हो सकता है, जो बन्धन में पड़ा हो। आत्मा के मोक्ष का प्रतिपादन करने के लिए प्रथम यह आवश्यक है कि उसके बन्धन की स्थिति को स्पष्ट किया जाय। तब सोचना चाहिए कि क्या आत्मा स्वभाव से बन्धन में रहता है, अथवा किसी निमित्त से वह बद्ध हो जाता है ? सूत्रकार कहता है—

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥७॥

[स्वभावतः] स्वभाव से [बद्धस्य] बन्धन में पड़े आत्मा के [मोक्षसाधनोपदेशविधिः] मुक्ति प्राप्त कराने वाले उपदेशों का विधान [न] संगत नहीं।

यदि आत्मा स्वभाव से बद्ध मानां जाय, तो उसके मोक्ष के लिए किन्हीं साधनों के उपदेश का होना युक्त नहीं कहा जा सकता ॥७॥

कारण यह है, कि—

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥८॥

[स्वभावस्य] स्वभाव का [अनपायित्वात्] विनाश न होने से [अननुष्ठानलक्षणम्] उसके लिए व्यर्थ अनुष्ठान [अप्रामाण्यम्] प्रमाण हीन है।

किसी भी वस्तु के स्वभाव को हटाया नहीं जा सकता। वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है, अपना आत्मा है। स्वभाव के हटने से वस्तु के स्वरूप का ही अस्तित्व न रहेगा। उष्णता अग्नि का स्वभाव है, यदि उष्णता न रहे, तो व्यवहार में अग्नि का अस्तित्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में यदि बन्धन आत्मा का स्वभाव है तो उसे हटाया नहीं जा सकता। तब उसके लिए जो उपदेश होगा, वह अप्रामाणिक होगा, क्योंकि उसका अनुष्ठान करना सर्वथा व्यर्थ होगा। वह उपदेश केवल कथन रहेगा, उसे प्रयोग अथवा व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, उसका कोई भी फल होना संभव नहीं। इसलिए यदि आत्मा स्वभाव से बद्ध माना जाता है, तो उसके मोक्ष के लिये शास्त्र का आरम्भ सर्वथा व्यर्थ होगा ॥८॥

केवल एक अर्थ में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग है, वहां यह आवश्यक नहीं, कि वह ईश्वर के अर्थ में ही प्रयुक्त हो। केवल प्रकृति अथवा जीव के लिए भी उसका प्रयोग देखा जाता है।

क्योंकि—

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥९॥

[न] नहीं होता [अशक्योपदेशविधिः] अशक्य के उपदेश का विधान [उपदिष्टेऽपि] उपदेश किये जाने पर भी [अनुपदेशः] वह अनुपदेश है।

अशक्य कार्य के लिए उपदेश करना व्यर्थ है। ऐसा उपदेश भी निष्फल होने से अनुपदेश के समान है। तब क्या आत्मा को स्वभावतः बद्ध मानना चाहिए? ॥९॥

शिष्य कहता है—स्वभावतः बद्ध मानकर भी आत्मा के मोक्ष के लिए शास्त्रारम्भ व्यर्थ न होगा, यह स्थिति ऐसी होगी, जैसे—

शुक्लपटवद् बीजवच्चेत् ॥१०॥

[शुक्लपटवत्] श्वेत वस्त्र के समान, [बीजवत्] बीज के समान [चेत्] यदि (मान लिया जाए)।

श्वेत वस्त्र में श्वेत रूप स्वाभाविक है, परन्तु उस पर कोई दूसरा काला नीला, पीला आदि रंग चढ़ा देने से श्वेतता नहीं रहती, वह दूर हो जाती है। अथवा जैसे बीज में अंकुरजननशक्ति स्वाभाविक रहती है, परन्तु वह अग्नि-संयोग से हटा दी जाती है, इसी प्रकार स्वाभाविक भी आत्मा का बन्धन विवेक-ज्ञान से हटाया जा सकेगा और उस विवेकज्ञान के लिये शास्त्रारम्भ आवश्यक है ॥१०॥

शास्त्रारम्भ की सप्रयोजनता प्रदर्शित करने के विचार से यह केवल एक-देशी समाधान है, सिद्धान्त नहीं। सांख्यसिद्धान्त में किसी वस्तु के स्वभाव का अपाय स्वीकार नहीं किया गया। उक्त सूत्र में जो दृष्टान्त दिये गए हैं, उनमें केवल धर्म के आविर्भाव तिरोभाव का संकेत है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने अगले सूत्र से स्पष्ट किया है—

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११॥

[शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां] (उक्त उदाहरणों में) शक्ति के उद्भव अनुद्भव से (आत्मा के मोक्ष का उपदेश) [अशक्योपदेशः] अशक्य अर्थ का उपदेश [न] नहीं है।

श्वेत वस्त्र में श्वेतता रूप शक्ति अथवा धर्म का उद्भव अर्थात् आवि-र्भाव रहता है, नील, पीत, रक्त आदि रंगों में उसे रंग देने से केवल उस धर्म का ति-रोभाव हो जाता है, सर्वथा अपाय अर्थात् नाश नहीं। विधिपूर्वक प्रक्षालन आदि करने से उस वस्त्र में पुनः श्वेतता का आविर्भाव किया जा सकता है। इसी प्रकार बीज की अंकुरजननशक्ति का अग्निसंयोग द्वारा तिरोभाव हो जाता है और

वह वैज्ञानिक उपायों द्वारा पुनः आविर्भूत हो सकता है। यदि आत्मा के बन्ध को स्वाभाविक माना जाय, तो कुछ समय के लिये उसका तिरोभाव हो सकता है, सर्वथा अपाय नहीं। ऐसी स्थिति में आत्मा के त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का उपदेश संगत न रहेगा। पर वस्तुतः यह अशक्योपदेश नहीं, अर्थात् किसी न हो सकने वाले अर्थ का उपदेश नहीं है। इसलिये आत्मा के बन्ध को स्वाभाविक नहीं माना जासकता। सर्वज्ञकल्प वेद ऐसी विधि का उपदेश नहीं कर सकता, जिसका व्यवहार या प्रयोग में लाना अशक्य हो ॥११॥

तब आत्मा के बन्ध को नैमित्तिक स्वीकार किया जासकता है, नैमित्तिक मानने पर इस बात का विवेचन करना होगा कि बन्ध का निमित्त क्या होसकता है ? काल, देश, अवस्था, कर्म या अन्य कुछ ? प्रथम काल को इसका निमित्त कहा जासकता है, क्योंकि काल कार्यमात्र में निमित्त माना जाना चाहिये। उपनिषद् [श्वेता० १।२] में भी इस भावना को स्थान दिया गया है। सूत्रकार ने कहा—

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥१२॥

[कालयोगतः] काल योग से (आत्मा का बन्ध) [न] नहीं, [व्यापिनः नित्यस्य] व्यापी नित्य आत्मा का [सर्वसम्बन्धात्] सब काल में सम्बन्ध होने से।

कालयोग से आत्मा का बन्ध नहीं माना जा सकता। क्योंकि व्यापी नित्य आत्मा की विद्यमानता सर्वकाल में एक समान रहती है। काल किसी का निमित्त उसी अवस्था में माना जाता है, जब उस वस्तु का कभी अस्तित्व हो, कभी न हो। पर आत्मा ऐसा नहीं है, वह सर्वकाल में एक समान है, उसका काल के साथ सम्बन्ध सादातनिक है। यद्यपि सांख्यमत के अनुसार तत्त्वान्तर रूप में काल का कोई अस्तित्व नहीं और जो कुछ अस्तित्व है, वह सर्ग अवस्था में कल्पना किया जाता है। पर आत्मा का अस्तित्व सर्ग से अतिरिक्त अवस्था में भी उसी तरह बना रहता है। ऐसी स्थिति में आत्मा के बन्ध का निमित्त काल को नहीं माना जा सकता। अन्यथा जीवन्मुक्त अथवा देहपात के अनन्तर मुक्त अवस्था की प्राप्ति आत्मा को न होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा का काल के साथ योग तो उस समय भी रहता है।

'व्यापी' और 'नित्य' पदों को काल का विशेषण मानकर सूत्र का यह अर्थ भी किया जाता है—व्यापी और नित्य काल का सब आत्माओं के साथ सम्बन्ध होने से मुक्त आत्माओं का भी बन्ध प्रसंग हो जायगा, अर्थात् नित्य काल का सम्बन्ध मुक्त आत्मा के साथ भी होने से वह भी बद्ध हो जायगा, इसलिए काल योग से आत्मा का बन्ध नहीं माना जाना चाहिये।

यद्यपि आपाततः यह बात एक सी प्रतीत होती है कि नित्य आत्मा का सम्बन्ध काल के साथ कहा जाय या नित्य काल का सम्बन्ध आत्मा के साथ बताया जाय, परन्तु सांख्य विचार के अनुसार इनमें भेद है। वस्तुतः सांख्य में काल के पृथक्

अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया, फिर उसको नित्य कहने की बात तो दूर चली जाती है। देखें—सांख्यसूत्र, [२।१२] सांख्य में चेतन तत्त्व और मूल उपादान प्रकृति इन दो तत्त्वों को ही नित्य माना गया है, अन्य समस्त जड़ जगत् प्रकृति का विकार है, तब नित्य कैसे ? अतः सांख्य दृष्टि से प्रकृत सूत्र का युक्त अर्थ वही है, जो प्रथम किया गया है ॥१२॥

इस सूत्र में 'व्यापी' पद का अर्थ-विभु अथवा सर्वत्र विद्यमान कोई एक तत्त्व-ऐसा नहीं है। अनेक प्रमाणों से 'सांख्यसिद्धान्त' के प्रथम प्रकरण में इस विचार को स्पष्ट कर दिया गया है कि सांख्य का अभिमत आत्मा को परिच्छिन्न मानने में पर्यवसित होता है। अतएव यहाँ व्यापी' पद का अर्थ गतिशील है। विशेष रूप से विविध स्थलों में जिसके पहुँचने का स्वभाव हो। विभिन्न लोकान्तर, योन्यन्तर, देहान्तर आदि में आत्मा की गति आगति उसके इस स्वभाव को स्पष्ट करती है। आत्मा की गति आगति का उल्लेख अनेकत्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। यहाँ 'व्यापी' पद का प्रयोग आत्मा के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिये हुआ है, प्रस्तुत प्रसंग में इसका उपयोग अगले सूत्र के साथ अधिक है। उस सूत्र में आत्मा के बन्ध के प्रति देशयोग की निमित्तता का प्रतिषेध किया गया है। सूत्र है—

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥१३॥

[देशयोगतः] देश योग से (आत्मा का बन्ध), [न] नहीं, [अस्मात्] इस (हेतु) से, [अपि] ही। 'अपि' पद सूत्र में 'एव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

देशयोग को आत्मा के बन्ध का निमित्त नहीं कहा जा सकता, उपर्युक्त कारण से ही, अर्थात् नित्य गतिशील (व्यापी) आत्मा का प्रत्येक काल में किसी न किसी देश के साथ सम्बन्ध बने रहने से। अभिप्राय यह है, कि आत्मा गतिशील तथा सर्वत्र जाने आने का सामर्थ्य रखने वाला है इसलिये वह किसी एक देश विशेष में बन्धा हुआ रहता हो, ऐसा नहीं है। वह सर्वत्र आता जाता रहता है। उसकी निरन्तर गति-आगति का वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध है, देखें—प्रश्नो० ४।३, कौषी० १।२ तथा ३।४, बृ० ४।४।६॥ इसी सार्वत्रिक गति-आगति आदि की भावना से आत्मा को व्यापी कहा गया है। वस्तुतः परिच्छिन्न भी आत्मा के बन्धन का कारण देशयोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह किसी एक नियत देश में आवृत नहीं है। देश जनित बन्धन का यही स्वरूप संभावना किया जा सकता है, और वह आत्मा में घटित नहीं होता। यदि किसी न किसी देश के साथ सम्बन्ध ही बन्ध का कारण हो, तो मुक्तावस्था में भी आत्मा का बन्ध मानना होगा, जो संभव नहीं ॥१३॥

यदि कालयोग, देशयोग आत्म-बन्ध के कारण नहीं हैं, तो अवस्था को इसका निमित्त मान लेना चाहिये। सूत्रकार कहता है—

नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ॥१४॥

[अवस्थातः] अवस्था से (आत्मबन्धन) [न] नहीं, [तस्याः] उस (अवस्था) के [देहधर्मत्वात्] देह धर्म होने से।

अवस्था से आत्मा का बन्ध नहीं होता, क्योंकि अवस्था देह का धर्म है, आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अवस्था क्या है? बाल्य, युवा, वृद्ध आदि अवस्था हैं, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था हैं, स्थूल, कृश, सबल, दुर्बल आदि अवस्था हैं, ये सब देह के धर्म हैं, देह होने पर इन की सम्भावना हो सकती है, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। मूल रूप में 'अवस्था' पद का अभिप्राय परिणाम भी है। जब मूलप्रकृति, परिणत होकर अवयवसंघात आदि विकारों को प्रकट करती है, तब बन्ध के कारण सन्मुख आते अथवा स्पष्ट हो पाते हैं। बाल्य, युवा आदि अवस्थाओं के प्रादुर्भाव में आने से पहले ही आत्मा तो बन्धन में पड़ा रहता है, तब इनको बन्ध का निमित्त माना नहीं जा सकता। सर्गारम्भ में परिणामरूप अवस्था, आत्मा के बन्ध का कारण माना जाना चाहिये। पर इसे भी बन्ध का निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह परिणतिरूप अवस्था देह अर्थात् अचेतन का धर्म है। परिणाम की संभावना अचेतन में हो सकती है, आत्मा में नहीं, क्योंकि वह चेतनस्वरूप है। यदि अन्य के धर्म से अन्य का बन्ध माना जाय, तो मुक्त आत्मा मुक्तावस्था में ही बन्ध में आ जाने चाहियें, फिर परमात्मा भी बन्धन में आ सकता है। पर यह शक्य नहीं। ऐसा प्रतिपादन सर्वथा अप्रामाणिक है। फलतः अचेतन धर्मपरिणामरूप अवस्था, चेतन आत्मा के बन्ध का निमित्त संभव नहीं ॥१४॥

यदि परिणाम धर्म आत्मा का भी मान लिया जाय, तो क्या दोष है? सूत्रकार कहता है—

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥१५॥

[असङ्गः] संग रहित है [अयं] यह [पुरुषः] जीवात्मा [इति] स्वरूप से।

सूत्र में 'इति' पद स्वरूप का बोधक है। यह पुरुष असङ्ग स्वरूप है। यद्यपि सांख्यशास्त्र में 'पुरुष' पद का प्रयोग चेतनमात्र के लिए होता है, उसमें परमात्मा और जीवात्मा सबका समावेश हो जाता है, पर यहां बन्धकारणों का प्रसंग होने से 'पुरुष' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ समझना चाहिये। चेतनमात्र अर्थ करने पर भी कोई दोष नहीं। प्रत्येक परिणामी अर्थ, संगरूप, अर्थात् संघात के रूप में अवस्थित रहता है, उसका और कोई रूप नहीं। परन्तु चेतन आत्मा सर्वथा इससे भिन्न है, इसलिए परिणाम, आत्मा का धर्म नहीं माना जा सकता। सूत्र के 'इति' पद का अर्थ 'हेतु' भी किया गया है। उस समय सूत्र का अर्थ होगा—यह पुरुष असंग होने के कारण परिणामधर्मी नहीं कहा जा सकता। इसलिए परिणाम

रूप अवस्था, पुरुष के बन्ध का निमित्त होनी असंभव है ।।१५।।

तब पुरुष के शुभ अशुभ कर्मों को बन्ध का निमित्त माना जा सकता है। सूत्रकार कहता है—

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ।।१६।।

[कर्मणा] कर्म से (आत्म-बन्ध) [न] नहीं, [अन्यधर्मत्वात्] अन्य धर्म होने से, [अतिप्रसक्तेः च] और अतिप्रसक्ति से।

विहित अथवा निषिद्ध कर्मों के करने या न करने से आत्मा का बन्ध नहीं माना जाना चाहिये। कारण यह है, कि सभी प्रकार के कर्म, देह, अन्तःकरण आदि के धर्म हैं। उन्हीं के रहने पर होते हैं अन्यथा नहीं। इसलिये अन्य के धर्म से अन्य का बद्ध होना संभव नहीं। शुभ अशुभ कर्मों को यहाँ देह का धर्म केवल इस आधार पर कहा गया है कि देह प्राप्त हो जाने पर ही इनका होना संभव होता है अन्यथा नहीं, और देह में आत्मा का प्राप्त हो जाना एक प्रकार से बन्धन का स्पष्ट रूप है। कर्म तो अब देह में आने के बाद हो सकेंगे, इसलिये इन्हें आत्मा के बन्ध का कारण नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है, कि कर्मों के अस्तित्व में आने से पहले ही आत्मा तो बन्धन में पड़ जाता है, फिर कर्म को बन्धन का कारण कैसे माना जाय ? यदि ऐसा मान लिया जाय, तो अतिप्रसक्ति दोष होगा। अभिप्राय यह है कि जिनको बन्ध में नहीं आना चाहिये, जैसे मुक्तात्मा अथवा परमात्मा उनके भी बद्ध होने की संभावना हो जायगी, क्योंकि जब अन्य के धर्म से अन्य बद्ध हो सकता है, तो बन्ध की व्यवस्था कुछ न रहेगी। तथा अवाञ्छित तत्त्वों पर भी बन्ध की आपत्ति हो जायगी। यह समाधान एकदेशी होने से कपिल का अभिमत नहीं। यह अगले सूत्र से स्पष्ट हो जाता है ।।१६।।

यदि विहित निषिद्ध कर्म, देह अन्तःकरण आदि के धर्म हैं, क्योंकि वे देहादि के होने पर होते न होने पर नहीं होते, तो बन्ध और बद्ध दशा में होने वाले सुख दुःख आदि भोग भी अन्तःकरण में ही मान लेने से क्या दोष है ? इससे पुरुष के बन्ध की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती और उपर्युक्त अतिप्रसक्ति रूप दोष भी दूर हो जाता है। ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने कहा—

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ।।१७।।

[विचित्रभोगानुपपत्तिः] (आत्मा के) विचित्र भोगों की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी, [अन्यधर्मत्वे] अन्य के धर्म होने पर।

सुख दुःख आदि भोगों को अन्य के अर्थात् अन्तःकरण के धर्म मानने पर, जगत् में जो प्रत्येक व्यक्ति को विविध भोगों की अनुभूति होती हुई देखी जाती है, यह सर्वथा असंगत होगी। परन्तु लोकानुभूति को एकाएक असंगत नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है, कि सुख दुःख आदि की अनुभूति रूप भोग आत्मा में

ही उपपन्न माना जा सकता है; क्योंकि समस्त अचेतन जगत् चेतन आत्मा के भोगापवर्ग को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। ऐसी स्थिति में यदि कर्म अन्तः-करण के धर्म हैं, तो उन्हें आत्मा के बन्ध का निमित्त नहीं कहा जा सकता। फलतः कर्म आत्मा का धर्म है, क्योंकि आत्मप्रेरणा से ही उसका होना संभव है, तब उसे आत्म-बन्ध का निमित्त मान लेना चाहिये। पर आचार्य को यह अभिमत नहीं। कारण यह है कि आत्मा कर्मानुष्ठान के प्रति देह अन्तःकरण आदि के साथ सम्बन्ध होने के अनन्तर प्रवृत्त होता है और वह सम्बन्ध ही बन्ध का रूप है, तब अनन्तर होने वाला कर्म अपने से पहले विद्यमान बन्ध का निमित्त कैसे हो जायगा ? इस-लिये आत्म-धर्म होने पर भी कर्म बन्ध का कारण नहीं ॥१७॥

केवल प्रकृति भी आत्मा के बन्ध का कारण नहीं हो सकती, इस बात को सूत्रकार ने कहा—

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥१८॥

[प्रकृतिनिबन्धनात्] प्रकृति कारण से [चेत्] यदि (बन्ध कहो, तो वह) [न] ठीक नहीं, [तस्याः] प्रकृति के [अपि] भी [पारतन्त्र्यम्] पराधीन होने से।

प्रकृतिरूप निमित्त से आत्मा का बन्ध होता है, यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रकृति स्वयं परतन्त्र है। वह अपने प्रेरयिता चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकती। यदि प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति मानी जाय और आत्मा के बन्ध में उसे निमित्त मान लिया जाय, तो प्रलय अवस्था में भी प्रवृत्ति होनी चाहिये, अर्थात् प्रलय का अस्तित्व ही न रहना चाहिये। नियन्ता की प्रेरणा से अचेतन में जो प्रवृत्ति होती है, वही सतत चलती रहती है, जब तक प्रेरयिता स्वयं उसे बदल न दे। इसप्रकार प्रकृति के सर्ग-प्रलय नियन्ता की प्रेरणा से हो पाते हैं। अतः प्रकृति चेतन अधिष्ठाता के अधीन है, उसकी प्रेरणा के अनुसार सर्ग प्रलय होते रहते हैं। अतएव प्रकृति स्वतः आत्मा के बन्ध का कारण नहीं कही जा सकती ॥१८॥

सातवें सूत्र से यहाँ तक आत्मा के बन्ध के विभिन्न संभावित निमित्तों पर प्रकाश डाला गया। यह सब तत्त्व की विवेचना के लिए सूत्रकार ने ऊहा करके प्रस्तुत किया है। अब आत्म-बन्ध के वास्तविक निमित्त का सिद्धान्तरूप में निर्देश किया जाता है। सूत्रकार कहता है—

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥

[नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य] नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मा का [तद्योगः] बन्धयोग [तद्योगादृते] प्रकृतियोग के विना [न] नहीं।

नित्य—उत्पत्ति विनाश से रहित, शुद्ध—अपरिणामी, बुद्ध—चेतन,

मुक्त—प्रकृति के सत्त्वरजस्तमोगुणों से सर्वथा भिन्न अर्थात् निर्गुण आत्मा का, तद्योग—बन्धयाग, तद्योगादृते—प्रकृतियोग के बिना, न—नहीं होता। अभिप्राय यह है कि आत्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध, आत्मा को बन्धन में लाता है। सूत्र का 'स्वभाव' पद नित्य आदि सब पदों के साथ जुड़ जाता है, नित्यस्वभाव, शुद्ध-स्वभाव आदि। इससे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का निर्देश किया गया है। कतिपय व्याख्याकारों ने 'नित्य' पद को शुद्ध आदि पदों के साथ जोड़कर—नित्यशुद्ध-स्वभाव, नित्यबुद्धस्वभाव तथा नित्यमुक्तस्वभाव—ऐसा अर्थ किया है। परन्तु 'स्वभाव' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होने से 'नित्य' पद का सम्बन्ध अनावश्यक हो जाता है। 'स्वभाव' पद से उसी अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है, इसका और कोई उपयोग समस्त पद में नहीं है। इसलिए 'नित्य' पद को स्वतन्त्र विशेषण मानना चाहिये। तब सूत्रार्थ होगा—आत्मा नित्यस्वभाव है, अर्थात् अनुत्पाद-विनाशशील, उसका यह स्वभाव है कि वह न उत्पन्न होता है, और न विनष्ट। पर नित्यस्वभाव तो प्रकृति भी है, इसलिए अगला विशेषण दिया गया—आत्मा शुद्धस्वभाव है, अपरिणामी स्वभाव, उसमें कभी किसी प्रकार का कोई परिणाम नहीं होता। प्रकृति नित्य होती हुई भी परिणामिनी है। आत्मा की एक अन्य विशेषता अगले पद से प्रकट की गई—बुद्धस्वभाव, वह चेतनस्वरूप है। आशंका हो सकती है, कदाचित् चेतन भी प्रकृति का ही कोई अंश हो, इसलिये अगला विशेषण प्रस्तुत किया गया—मुक्तस्वभाव, प्रकृति से सर्वथा छुटा हुआ अर्थात् सर्वथा भिन्न। प्रकृति में सम्पृक्त-लिप्त भी आत्मा प्रकृति से सर्वथा भिन्न होता है। प्रकृति सत्त्वरज-स्तमोगुण रूप है, आत्मा इस गुणत्रय से सर्वथा विपरीत है, निर्गुण है। इसप्रकार इन विशेषण पदों से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का निर्देश किया गया है। फलतः इसप्रकार का आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आने से बन्धन में पड़ जाता है ॥१६॥

अब स्वभावतः यह आशंका होती है कि इस प्रकार का आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता क्यों है ? जैसे अन्य पूर्वोक्त संभावित निमित्त आत्मा के बन्ध में अप्रयोजक रहे, उन्हीं के समान प्रकृतियोग को भी समझा जायगा, जब तक कि यह स्पष्ट न हो जाय, कि आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में किस कारण से आ जाता है। सूत्रकार अगले सूत्र से इसका समाधान करता है—

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्[1] ॥२०॥

---

१. उपलब्ध सांख्यसूत्रों में यह सूत्र ५५ संख्या पर पाया जाता है। २०वें सूत्र से लगाकर ५४वें सूत्र तक पैंतीस सूत्र प्रक्षिप्त हैं। यह कपिल की रचना नहीं है। हमने इसका विस्तृत विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। इसीलिए प्रस्तुत व्याख्या में इन सूत्रों की उपेक्षा कर दी गई है। उपलब्ध सूत्रों के क्रम में १६वें सूत्र के ठीक अनन्तर, पद-रचना और आर्थिक सम्पर्क के कारण,

[तद्योगः] प्रकृति का योग [अपि] भी [अविवेकात्] अविवेक से होता है, अतः [न] नहीं [समानत्वम्] समानता (पूर्वोक्त निमित्तों के साथ इस निमित्त की)।

प्रकृतियोग भी आत्मा का, अविवेक के कारण होता है, इसलिए अन्य पूर्व-निर्दिष्ट संभावित निमित्तों के साथ इसकी समानता नहीं कही जा सकती। सारांश यह है कि आत्मा अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आता है और बन्धन में पड़ जाता है। अविवेक है—अपने चेतन स्वरूप को साक्षात्कार रूप में अचेतन प्रकृति से पृथक् न जानना। जब सांख्यप्रदर्शित समाधि आदि के द्वारा चेतन अचेतन के भेद [विवेक] का साक्षात्कार आत्मा को हो जाता है, तो अविवेक को वहाँ ठहरने का फिर अवकाश नहीं रहता, वह नष्ट हो जाता है। तब आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में नहीं आता और बन्ध से छूटकर अपवर्ग अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त संभावित निमित्तों के साथ प्रकृतियोग रूप बन्ध निमित्त की समानता नहीं कही जा सकती। पूर्वोक्त समस्त संभावित निमित्त सदोष हैं, दोष का संकेत प्रत्येक निमित्त के साथ कर दिया गया है। अविवेकनिमित्तक प्रकृति-योग आत्मा के बन्ध का वास्तविक कारण है ॥२०॥

जब तक अविवेक है, तब तक प्रकृतियोग और जब तक प्रकृतियोग है, तब तक बन्ध बना रहेगा। इसलिये अविवेक के नाश का उपाय होना चाहिए। सूत्र-कार कहता है—

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥२१॥

[नियतकारणात्] नियत कारण से [तदुच्छित्तिः] उस (अविवेक) का उच्छेद होता है, [ध्वान्तवत्] अन्धकार के समान।

सांख्यशास्त्रप्रतिपादित प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कार रूप एक निश्चित

५५वां सूत्र आना चाहिये। यही सूत्रों का वास्तविक क्रम है, मध्यगत पेंतीस सूत्र कपिल की रचना नहीं हैं। इनमें अनेक ऐसे वादों और पारिभाषिक पदों का उल्लेख है, जिनका अस्तित्व कपिल के समय तक न था। तब वह अपनी रचना में इनको कैसे अवकाश देता। वर्तमान सूत्रक्रम के अनुसार २८वें सूत्र में प्रसंगवश 'स्रुघ्न' और 'पाटलिपुत्र' दो नगरों के नाम का उल्लेख किया गया है। इतिहास से यह निश्चित है कि इन नगरों की स्थिति कब से कब तक रही है। इससे दो परिणाम निकलते हैं, एक यह कि यह रचना कपिल की नहीं हो सकती और दूसरा यह कि इन सूत्रों का प्रक्षेप किस समय में किया गया। यह निश्चित अनुमान किया जा सकता है, कि इन सूत्रों का प्रक्षेप उतने ही अन्तर में हुआ है, जब 'स्रुघ्न' और 'पाटलिपुत्र' दोनों नगर अपनी उन्नत दशा में अवस्थित थे। यह समय विक्रम के तीन शतक पूर्व से तीन शतक अपर तक संभावना किया जा सकता है। अधिक

कारण से अविवेक का उच्छेद हो जाता है। जैसे प्रकाश के आने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, अन्धकार के नाश के लिये प्रकाश के अतिरिक्त कोई उपाय और नहीं। ऐसे ही अविवेक का उच्छेद करने के लिये विवेक एकमात्र उपाय है। यद्यपि शब्द प्रमाण द्वारा हम प्रकृतिपुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अनुमान प्रमाण से भी इसका निश्चय हो जाता हैं, पर ऐसे भेदज्ञान अथवा विवेकज्ञान से अविवेक का उच्छेद नहीं होता। समाधिजन्य विवेकसाक्षात्कार ही अविवेक का उच्छेद करने में समर्थ है ।।२१।।

यदि प्रकृतिपुरुष का अविवेक, प्रकृति-संयोग के द्वारा पुरुष के बन्ध का

जानने के लिये 'सांख्यदर्शन का इतिहास' देखिये। प्रक्षिप्त सूत्रों का मूल पाठ इस प्रकार है—

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्।
वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः।
विजातीयद्वैतापत्तिश्च।
विरुद्धोभयरूपा चेत्।
न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः।
न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्
अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहो-ऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्।
नानाविविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य।
न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जक-भावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थ-पाटलिपुत्रस्थयोरिव।
द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था।
अदृष्टवशाच्चेत्।
न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारक-भावः।
पुत्रकर्मवदिति चेत्।
नास्ति हि तत्र स्थिर एक आत्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते।
स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम्।
न प्रत्यभिज्ञाबाधात्।
श्रुतिन्यायविरोधाच्च।
दृष्टान्तासिद्धेश्च।
युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः।
पूर्वापाये उत्तरायोगात्।
तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न।
पूर्वभावमात्रे न नियमः।
न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः।
तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि।
शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्म-त्वाद् विनाशस्य।
अपवादमात्रमबुद्धानाम्।
उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि।
अपुरुषार्थत्वमुभयथा।
न गतिविशेषात्।
निष्क्रियस्य तदसम्भवात्।
मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः।
गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्।
न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।
[इन सूत्रों की व्याख्या 'परिशिष्ट' २ में देखिये]

हेतु है और उनका विवेक मोक्ष का हेतु है, तो देह इन्द्रिय पुत्र कलत्र आदि में आत्माभिमान अर्थात् उनके साथ आत्मा का अविवेक होने पर भी मोक्ष हो जाना चाहिये, क्योंकि इसे प्रकृति पुरुष का अविवेक नहीं कह सकते। सूत्रकार समाधान करता है—

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥२२॥

[प्रधानाविवेकात्] प्रधान अविवेक से [अन्याविवेकस्य] अन्य अविवेक का (अस्तित्व है), [तद्धाने] उसका नाश होने पर [हानम्] नाश हो जाता है।

देह, इन्द्रिय, पुत्र, कलत्र आदि में आत्माभिमान रूप जो अविवेक है, वह प्रकृतिपुरुष अविवेक के कारण है। जब प्रकृतिपुरुष अविवेक रहता है, तभी देह आदि में आत्माभिमान हो सकता है। देह, इन्द्रिय आदि में कोई विकार उत्पन्न हो जाने से अथवा पुत्र या कलत्र आदि के दुःख से आत्मा का दुःखी होना आदि जो अवस्था हैं. ये सब प्रकृतिपुरुष के अविवेक से ही हो पाती हैं, यदि वह अविवेक न हो, तो इनका अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिपुरुष के अविवेक के रहने पर देहाद्यभिमान के होने से और उस अविवेक के न रहने पर इसके नाश हो जाने से ऐसी स्थिति कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती, जबकि प्रकृतिपुरुष का विवेक हो जाने पर देहाद्यभिमान रह सके। अतः देहाद्यभिमान की स्थिति में मोक्ष की कल्पना संभव नहीं ॥२२॥

यह निश्चय हुआ कि विवेक से अविवेक का नाश होकर आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है, तब आत्मा भिन्न और प्रकृति भिन्न है, ऐसा ज्ञान तो हमें वृत्त्यात्मक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो जाता है। फिर इस अवस्था में मोक्ष क्यों नहीं होता ? सूत्रकार समाधान करता है—

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥२३॥

[वाङ्मात्रं] (तत्त्वों का वृत्त्यात्मक ज्ञान) वाङ्मात्र है [न तु तत्त्वं] वास्तविक नहीं, [चित्तस्थितेः] (वृत्ति के) चित्त में स्थित होने से।

इस प्रकार का वृत्त्यात्मक विवेकज्ञान वाङ्मात्र है, केवल कहने के लिये, वह विवेक वस्तुभूत नहीं, क्योंकि प्रत्येक वृत्त्यात्मक ज्ञान चित्त में स्थित रहता है। जब आत्मा अपने स्वरूप का समाधि आदि में अवृत्तिक साक्षात्कार करता है, उस अवस्था में प्रकृतिपुरुष के भेद का जो साक्षात्कार होता है, उसी के द्वारा अविवेक का नाश होकर मोक्ष प्राप्ति संभव है, इसलिये साधारण रूप में जो हम प्रत्यक्षवृत्ति से पुरुष और प्रकृति के भेद को जाने रहते हैं, ऐसा विवेकज्ञान कथनमात्र होने से मोक्ष का उपाय नहीं ॥२३॥

यदि साधारण प्रत्यक्षवृत्तिजन्य भेदज्ञान मोक्ष का उपाय नहीं, तो युक्ति अथवा शास्त्रश्रवण या गुरूपदेशमात्र से जो हम प्रकृति और पुरुष के भेद को जान

लेते हैं, वही भेदज्ञान मोक्ष का उपाय मान लेना चाहिये। सूत्रकार कहता है—

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥२४॥

[युक्तितः अपि] अनुमान और शब्द से [न बाध्यते] अविवेक की बाधा नहीं होती [दिङ्मूढवत्] दिङ्मूढ के समान, [अपरोक्षादृते] विना अपरोक्ष (साक्षात्कार) ज्ञान के। सूत्र में 'अपि' पद शब्द प्रमाण का संग्राहक है।

युक्ति-अनुमान अथवा शब्दश्रवणमात्र से जो हमें पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाता है, ऐसा ज्ञान वस्तुभूत न होने के कारण अविवेक की बाधा नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को दिग्भ्रम हो जाता है, उसे युक्ति अथवा शब्द द्वारा कितना ही समझाइये, उसके मस्तिष्क से दिशा-भूल का भूत हट नहीं पाता। वह उस समय तक बराबर बना रहता है, जब तक कि उसे स्वयं उस स्थिति का साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान न हो जाय, इसी प्रकार प्रकृतिपुरुष के अविवेक का नाश, समाधिजन्य आत्मसाक्षात्कारजनित विवेकज्ञान करता है और उसी अवस्था में मोक्षप्राप्ति की संभावना हो सकती है ॥२४॥

अब प्रकृतिपुरुष के विवेक के लिए उन समस्त तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिनसे भिन्न करके आत्मा को हमें जानना है। उनमें से अनेक तत्त्व ऐसे हो सकते है, जिन्हें हम चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जान पाते। सूत्रकार कहता है—

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वन्हेः ॥२५॥

[अचाक्षुषाणां] अतीन्द्रियों का [अनुमानेन] अनुमान से [बोधः] बोध हो जाता है, [धूमादिभिः इव] जैसे धूम आदि से [वन्हेः] वन्हि का।

जिन तत्त्वों को हम चक्षु आदि इन्द्रियों से देख सकते हैं, उनका तो प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो जाता है, पर जो तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं होते, उनका बोध अनुमान से हो जाता है। जैसे धूम, आलोक अथवा उष्णता आदि से वह्नि का ज्ञान होता है। एक समय हम अग्नि को चक्षु इन्द्रिय से देखते हैं, और यह जान लेते हैं, कि धूम आदि का उससे सहयोग है। जब अग्नि हम को नहीं भी दीखती, तब धूम अथवा आलोक आदि के अस्तित्व से अग्नि के अस्तित्व का अनुमान कर लिया जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियगोचर तत्त्वों से उनके सहयोगी अतीन्द्रिय तत्त्वों का अनुमान हो जाता है। ॥२५॥

वे समस्त तत्त्व कौन से हैं, सूत्रकार बताता है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्,
महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥२६॥

[सत्त्वरजस्तमसां] सत्त्व रजस् तमस् की [साम्यावस्था] साम्य अवस्था [प्रकृतिः] प्रकृति है, [प्रकृतेः महान्] प्रकृति से महत् [महतः अहंकारः] महत् से अहंकार, [अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं] अहंकार से पांच तन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियां, [तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि] तन्मात्रों से स्थूल भूत [पुरुषः] और इनके अतिरिक्त पुरुष, [इति पञ्चविंशतिः गणः] यह पच्चीस का गण (संघ-समुदाय) है।

सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व हैं, इनकी साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है। अर्थात् जब ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, प्रत्युत मूलकारण रूप में अवस्थित रहते हैं, तब इनका नाम 'प्रकृति' है। समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है। इसप्रकार कार्यमात्र का यही मूल उपादान होने से गौण रूप में भले ही इसे एक कहा जाय, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्ति रूप में कोई तत्त्व नहीं है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूलभूत स्थिति 'प्रकृति' है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में संभव हो सकते हैं, इसलिये प्रकृति स्वरूप को साम्य अवस्था कहकर स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार मूल तत्त्व तीन वर्ग में विभक्त है, और वह संख्या में अनन्त है। जब चेतन की प्रेरणा से उसमें क्षोभ होता है, तब वे मूल तत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं। अर्थात् कार्यरूप में परिणत होने के लिये तत्पर हो जाते हैं। तब उनकी अवस्था साम्य न रहकर वैषम्य की ओर अग्रसर होती है। तब उनका जो प्रथम परिणाम है, उसका नाम 'महत्' होता है। इसी को बुद्धि कहते हैं।

अब सर्ग प्रारम्भ हो चुका है। साम्य अवस्था न रहकर विविध सृष्टि की रचना होने लगी है। 'महत्' से 'अहंकार', अहंकार से पञ्चतन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियां। तामस अहंकार से पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत और सात्त्विक अहंकार से आन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। आन्तर इन्द्रिय केवल एक 'मन' है तथा बाह्य इन्द्रिय दस हैं, जो दो वर्गों में विभक्त हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। इन्द्रियां केवल विकार हैं, ये आगे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करतीं। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूतों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहने से उनके कारण तन्मात्र सूक्ष्मभूत हैं, यह स्पष्ट होता है।

इनमें मूलप्रकृति केवल उपादान, तथा महत् आदि तेईस पदार्थ उसके विकार हैं। ये चौबीस अचेतन जगत् है। इससे अतिरिक्त पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व है। इसप्रकार चौबीस अचेतन और पच्चीसवां पुरुष चेतन है। चेतन तत्त्व भी दो वर्गों में विभक्त है, एक परमात्मा दूसरा जीवात्मा। परमात्मा एक है तथा

जीवात्मा अनेक, अर्थात् संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। ये हैं, वे समस्त तत्त्व, जिनके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर अचेतन तथा चेतन के भेद का साक्षात्कार करना है।।२६।।

पृथिवी आदि स्थूल तत्त्व इन्द्रियगोचर हैं। अन्य तत्त्वों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता। इस बात के जान लेने पर कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण के बिना अस्तित्व में नहीं आता, हम कार्य के अस्तित्व से कारण के अस्तित्व का अनुमान कर लेते हैं। इसी आधार पर सूत्रकार ने कहा—

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ।।२७।।

[स्थूलात्] स्थूल से. [पञ्चतन्मात्रस्य] पांच तन्मात्र का (अनुमान होता है)।

पृथिवी आदि स्थूलभूत कार्य हैं, उनके अस्तित्व से उनके उपादान कारण पांच तन्मात्रों के अस्तित्व का अनुमान हो जाता है। ये गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र नाम से सांख्यशास्त्र में व्यवहृत होते हैं। इसे तन्मात्र इसलिये कहा जाता है, कि यह अन्य किसी भी तत्त्व से अमिश्रित रहता है। इसी कारण सांख्य में इनको 'अविशेष' नाम भी दिया गया है, क्योंकि इनमें किसी तरह की बाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नहीं रहती। इनके गन्ध, रस आदि नाम उन-उन कार्यों के उत्पादक होने के कारण, व्यवहार के लिये रख लिये गये हैं।

सूक्ष्मभूत की 'तन्मात्र' स्थिति को समझने व स्पष्ट करने के लिये हम सुवर्ण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक सुवर्ण कण लीजिए, उसका उस अवस्था तक विश्लेषण करते जाईये, जव तक कि उसका एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण रहे, पर उसमें यह प्रतीति बराबर रहे कि यह सुवर्ण है। यह निश्चित है कि वह कण, सुवर्णरूप में अन्तिम कण है, पर वह अन्तिम तत्त्व नहीं है, उसका और भी आगे विश्लेषण किया जासकता है। वह कण विश्लेषण की जब इस अवस्था तक पहुंच जाय कि उसके अवयवों में सुवर्ण की प्रतीति न रहे, तब यह कहना होगा कि वहां कार्यगत विशेषता समाप्त हो गई है। वे ही अवयव अविशेष अथवा तन्मात्र कहे जाते हैं। प्रत्येक स्थूल पदार्थ इसी प्रकार के सूक्ष्म अवयवों से परिणत होकर स्थूल अवस्था में आता है। इस प्रकार हम स्थूल कार्य से उसके कारणभूत सूक्ष्म 'तन्मात्र' तत्त्वों का अनुमान कर लेते हैं।।२७।।

इसी क्रम से उन सूक्ष्म तत्त्वों अर्थात् तन्मात्रों के उपादान कारण का अनुमान किया जासकता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा है—

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ।।२८।।

[बाह्याभ्यन्तराभ्यां] बाह्य और आन्तर (इन्द्रियों) से, [तैः च] और

उन (तन्मात्रों) से [अहंकारस्य] अहंकार का (अनुमान होता है)।

बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियों के द्वारा तथा उन तन्मात्रों के द्वारा अहंकार का अनुमान हो जाता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मिलकर दस बाह्य इन्द्रियां और मन एक आन्तर इन्द्रिय, ये सब अहंकार के कार्य हैं। इसी प्रकार तन्मात्र भी अहंकार के कार्य हैं। ये सब कार्य अपने अस्तित्व से अपने उपादान कारण के अस्तित्व का अनुमान करा देते हैं। इनके कार्यकारणभाव का विशद विवरण 'सांख्यसिद्धान्त' के 'विकार' नामक प्रकरण में देखना चाहिए ।।२८।।

अहंकार भी किसी का कार्य है, मूल तत्त्व नहीं, इसलिये—

तेनान्तःकरणस्य ।।२९।।

[तेन] उस (अहंकार) से [अन्तःकरणस्य] अन्तःकरण का (अनुमान होना है)।

उस अहंकाररूप कार्य के द्वारा उसके उपादान कारण अन्तःकरण का अनुमान होता है। इस सूत्र में 'अन्तःकरण' पद 'बुद्धि' के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका दूसरा नाम 'महत्' है। सांख्य में तेरह करण माने जाते हैं। दस बाह्य-करण पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय, तथा तीन अन्तःकरण-मन, अहंकार, बुद्धि। इनमें बुद्धि प्रधान है, क्योंकि वह इन सबका कारण है और चेतन के साथ इसका सीधा सम्पर्क है, इसी कारण प्रकृत सूत्र में बुद्धि के लिये 'अन्तःकरण' पद का प्रयोग कर दिया गया है ।।२९।।

बुद्धि भी मूल तत्त्व नहीं, वह भी किसी का कार्य है। वह जिसका कार्य है, उसका अनुमान बुद्धि द्वारा होगा। अतएव सूत्रकार ने कहा—

ततः प्रकृतेः ।।३०।।

[ततः] उस (अन्तःकरण) से [प्रकृतेः] प्रकृति का (अनुमान होता है)।

उस अन्तःकरण अर्थात् महत् या बुद्धि से प्रकृति का अनुमान होता है। प्रकृति महत्तत्त्व का कारण है। पीछे छब्बीसवें तथा आगे छत्तीसवें सूत्र में इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण का अनुमापक होता है, अतएव बुद्धितत्त्व भी अपने मूलकारण प्रकृति का अनुमान कराता है। प्रकृति कार्यमात्र का उपादान है, पर उसका अन्य कोई उपादान नहीं। उपादान-मूलक कार्यकारणभाव की यहां समाप्ति हो जाती है। अतएव प्रकृति के द्वारा किसी अन्य उपादान का अनुमान नहीं होसकता ।।३०।।

तब क्या पूर्वोक्त तत्त्वों के अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय तत्त्व नहीं है, जिसे अनुमान द्वारा जानने की आवश्यकता हो ? है, पर वहां कार्यकारणभाव की अपेक्षा नहीं, प्रत्युत भोग्य-भोक्तृभाव के आधार पर उस तत्त्व का अनुमान किया जाता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥३१॥

[संहतपरार्थत्वात्] संघात के परार्थ होने से [पुरुषस्य] पुरुष का (अनुमान होता है)।

प्रकृति और प्रकृति के समस्त परिणाम संहत हैं। संहत का अर्थ है—संघात रूप में अवस्थित होना। अनेक तत्त्वों के सहयोग से अपने उस रूप को प्राप्त करना। इसका अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक संघात परिणामी है, परिणत होते रहना उसका स्वभाव है। यह एक सर्वप्रमाणसिद्ध सत्य है, कि कोई भी परिणामी तत्त्व अपने लिये किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता, तथा प्रत्येक इस प्रकार का परिणामी तत्त्व अचेतन है। इन दोनों सत्यताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकल आता है, कि परिणामी तत्त्व अपने से विलक्षण किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व का अनुमान कराता है, जिसके प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए परिणामी तत्त्व का अस्तित्व है। यह स्पष्ट है कि वह विलक्षण तत्त्व न परिणामी होगा, न अचेतन। क्योंकि ऐसा मानने पर वह प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्वों के समान ही होगा और तब ऐसे तत्त्व के प्रयोजन के लिये परिणामी तत्त्वों का अस्तित्व संभव नहीं। इसलिए परिणामी तत्त्वों से विलक्षण एक अपरिणामी चेतन तत्त्व है, जिसके प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये समस्त परिणामी तत्त्वों का अस्तित्व है। इसप्रकार समस्त संघात, परार्थ अर्थात् पर-प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये हैं, इस कारण इनसे 'पर' अर्थात् विलक्षण पुरुष-चेतन तत्त्व का अनुमान होता है।

उस चेतन तत्त्व का प्रयोजन है—भोग और अपवर्ग। इसी की सिद्धि के लिये समस्त सृष्टि की रचना है। चेतन आत्मा के भोग को प्राकृत पदार्थ साक्षात् सम्पन्न करते हैं। अपवर्ग की सिद्धि समाधि लाभ से आत्मसाक्षात्कार होने पर होती है। समाधि लाभ में प्राकृत तत्त्वों का पूर्ण सहयोग रहता है। इसप्रकार प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्व भोग्य हैं और उनका भोक्ता है चेतन आत्मा। इसी भोग्यभोक्तृभाव के आधार पर प्रकृति अथवा प्राकृत भोग्य तत्त्व, अपने भोक्ता चेतन आत्मा का अनुमान कराते हैं।

भोक्ता आत्मा के अतिरिक्त एक और चेतन तत्त्व है, जो अभोक्ता है। ऋग्वेद (१।१६४।२०) में कहा है—'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' भोक्ता आत्मा से अतिरिक्त चेतन न भोगता हुआ सदा प्रकाशित रहता है। यह 'परमात्मा' कहा जाता है। प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्व इस चेतन का भी अनुमान कराते हैं। परन्तु इस प्रसंग में भोग्यभोक्तृभाव की उपेक्षा करके नियम्य-नियन्तृभाव को आधार माना गया है। समस्त प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों का नियन्त्रण परमात्मा करता है, इसप्रकार नियम्य प्रकृति से उसके नियन्ता का अनुमान हो जाता है। सांख्यमतानुसार इसका सप्रमाण प्रतिपादन यथावसर किया जायगा, [१।१०६-

१०७] यहाँ केवल प्रसंगवश संकेत कर दिया गया है ॥३१॥

कार्यमात्र का मूल उपादान प्रकृति है, प्रकृति का भी कोई अन्य उपादान क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ? सूत्रकार बताता है—

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥३२॥

[मूले] मूल में [मूलाभावात्] मूल के अभाव से [अमूलं] मूल रहित है [मूलं] मूल।

मूल-प्रकृति में अन्य किसी मूल-उपादान कारण के न होने से, मूल-प्रकृति अमूल अर्थात् उपादान कारण रहित होती है। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्य अवस्था प्रकृति कही गई है। समस्त चराचर अचेतन जगत् के मूल तत्त्व ये सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। अखिल विश्व इनका परिणाम है, पर ये किसी के परिणाम नहीं होते। यदि इसका भी कोई उपादान माना जाय और आगे उसका भी अन्य कोई उपादान, तो इस कारण परम्परा का कहीं अवसान न होगा और यह एक अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा। अतः सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप प्रकृति समस्त जगत् का मूल उपादान है, उसका उपादान अन्य कोई नहीं ॥३२॥

प्रकृति को परमात्मा का परिणाम मान लिया जाय, तो क्या दोष है ? सूत्रकार कहता है—

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥३३॥

[पारम्पर्ये अपि] परम्परा मानने पर भी [एकत्र] किसी एक जगह [परिनिष्ठा] परिनिष्ठा (अन्त) आवश्यक है, [इति संज्ञामात्रं] इसलिये नाम मात्र है।

प्रकृति के आगे कारण परम्परा मानने पर भी किसी एक जगह पर्यवसान स्वीकार करना होगा, वही मूल प्रकृति है। उसमें और इसमें फिर अन्तर क्या होगा ? यह केवल नाम का भेद है। सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति के आगे कारण परम्परा चालू रहती है, तो अनवस्था दोष के भय से अवश्य एक जगह उसका अवसान मानना पड़ेगा। यदि प्रकृति से एक पग आगे बढ़कर उसका कारण परमात्मा को मान लिया जाता है, और वहाँ पर अनवस्था भय से कारण परम्परा की समाप्ति स्वीकार की जाती है, तो प्रकृति पर ही उसे स्वीकार क्यों नहीं कर लिया गया। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि प्रकृति पर कारणता का पर्यवसान न मानकर परमात्मा पर माना जाय।

इसका अन्य निष्कर्ष यह निकलता है कि सांख्य ने प्रकृति को जिस स्थिति पर रक्खा है, वादी ने उसी स्थिति पर परमात्मा को ला बिठाया है। इससे यह नाममात्र का भेद रहता है, अर्थ की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता।

कारण यह है, कि परमात्मा की ऐसी स्थिति मानकर वादी उसे चेतनस्वरूप स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि कोई भी परिणामी तत्त्व अचेतनस्वरूप ही हो सकता है चेतन नहीं। यदि प्रकृति का कारण परमात्मा है, अथवा यह कहा जाता है कि परमात्मा का परिणाम प्रकृति है, तब परमात्मा को अपरिणामी अथवा चेतन नहीं माना जासकेगा, उसकी स्थिति वही होगी जो प्रकृति की है। इसलिये यह नाममात्र का भेद होगा।

सांख्य चेतन को परिणामी नहीं मानता, वह उसे अचेतन का अधिष्ठाता स्वीकार करता है। इसलिये उपादान कारण की परम्परा को वह अचेतन प्रकृति पर पर्यवसित मानता है। चेतन के अधिष्ठातृत्व का निरूपण आगे अनेक स्थलों (१।६१-६४) पर किया जायगा ।।३३।।

चेतन और अचेतन इन दोनों तत्त्वों में से किसको जगत् का मूल उपादान मानना प्रामाणिक है? सूत्रकार कहता है—

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ।।३४।।

[द्वयोः] दोनों में [प्रकृतेः] प्रकृति का (उपादानता स्वीकार) [समानः] समञ्जस अर्थात् ठीक है।

चेतन और अचेतन अथवा पुरुष और प्रकृति इन दोनों में से प्रकृति अर्थात् अचेतन को ही जगत् का उपादान कारण मानना समञ्जस है। सूत्र में 'समानः' पद सामञ्जस्य अथवा प्रामाणिकता को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। यदि 'समानः' पद का 'साधारण' अर्थ माना जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं। चेतन और अचेतन की उपादान कारणता के विचार प्रसंग में प्रकृति की उपादान कारणता को स्वीकार करना प्रत्येक वादी के लिये साधारण है। कारण यह है कि कोई भी वादी चेतन तत्त्व को परिणामी स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये जगत् की मूल उपादानता का पर्यवसान अचेतन प्रकृति में संभव है, अन्यत्र नहीं ।।३४।।

यह अवधारण हो जाने पर कि प्रकृति जगत् का मूल कारण तथा परिणामिनी है, एवं चेतन आत्मा अपरिणामी है; प्रत्येक जिज्ञासु को शास्त्ररूप साधन से एक समान ज्ञान क्यों नहीं होता? सूत्रकार कहता है—

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।३५।।

[अधिकारित्रैविध्यात्] अधिकारी तीन प्रकार के होने से [न नियमः] नियम नहीं।

शास्त्रद्वारा उक्त अर्थ का निर्धारण कर देने पर भी प्रत्येक जिज्ञासु को एक जैसा ज्ञान हो, ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती। वास्तविक ज्ञेय अर्थ के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं के ज्ञान की सीमा का एक स्तर पर व्यवस्थापन

किया जाना अशक्य है। आभिधानिकों ने कहा है—'समानमीहमानानां चाधीयानानाञ्च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न' (महाभाष्य १।१।१) समानरूप से प्रयत्न करने वाले तथा समान अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओं में से कोई सफल हो जाते हैं और दूसरे नहीं होते। कारण यह है कि इनकी ज्ञानग्राहकता के अनेक स्तर होते हैं। स्थूलरूप से उनको तीन वर्गों में संगृहीत कर दिया गया है। फलतः ज्ञान का अधिकारी जिज्ञासु तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट। अतः बुद्धि आदि ज्ञान साधनों की स्वच्छता. दृढ़ प्रयत्न नियमित जीवन, पूर्व सुकृत आदि के अनुसार, शास्त्र-प्रदर्शित प्रकृति-पुरुष विवेक का ज्ञान, किसी जिज्ञासु को शीघ्र तथा अन्तिम रूप में, किसी को विलम्ब से तथा अपूर्ण और किसी को अतिविलम्ब से तथा अति अल्प सीमा तक प्राप्त हो पाता है। इसलिये शास्त्रद्वारा प्रकृति-पुरुष के भेद का स्पष्ट विवेचन कर देने पर भी प्रत्येक जिज्ञासु को उसका साक्षात्कार एक समान रूप से नहीं हो सकता ॥३५॥

यद्यपि इस अर्थ का निर्णय कर दिया गया है कि समस्त जगत् का मूल उपादान अचेतन प्रकृति है, तथापि स्थूणानिखनन न्याय से प्रस्तुत अर्थ की और दृढ़ता के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इसमें मूलकारण से कार्योत्पत्तिद्वारा तथा कार्य के कारण में लयद्वारा उक्त अर्थ को पुष्ट किया है। यह प्रकरण बयालीसवें सूत्र पर समाप्त होता है। इसका प्रथम सूत्र है—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥३६॥

[महदाख्यं] 'महत्' नाम का, [आद्यं कार्यं] पहला कार्य (जो है), [तन्मनः] वह मननशील निश्चयस्वभाव है।

प्रकृति का प्रथम कार्य 'महत्' है। इसका स्वरूप है—मनन करना अर्थात् निश्चय करना। छब्बीसवें सूत्र में समस्त पदार्थों के निर्देश के साथ मूल प्रकृति के स्वरूप का उल्लेख कर दिया है। यहाँ पर प्रकृति के आद्यकार्य के निर्देश के साथ उसका स्वरूप भी प्रदर्शित किया गया है। 'मनस्' पद जिस धातु से बना है, उसका अर्थ है—अवबोधन, निश्चय करना अथवा अध्यवसाय। इसका अभिप्राय है, कि प्रकृति का आद्य कार्य—महत्, निश्चयात्मक अथवा अध्यवसायस्वरूप है कदाचित् इसी कारण इस तत्त्व का अपर नाम 'बुद्धि' है।

आदिसर्ग में जब प्रलयकाल का अवसान और सृष्टि का आरम्भ होने को होता है, उस समय प्रकृतिरूप सत्त्व, रजस्, तमस् तत्त्वों में नियन्ता परमात्मा की प्रेरणा से एक क्षोभ (धुड़धुड़ी लेना) उत्पन्न होता है, जिससे वे तत्त्व सर्गोन्मुख होजाते हैं। अभी तक प्रलय में वे साम्य अवस्था में थे, पर अब क्षोभ के कारण वे वैषम्य की ओर झुक पड़े हैं, फिर भी वे अभी किसी विशिष्ट

कार्य के रूप में परिणत नहीं हो पाये। अनेक आचार्यों ने इस अवस्था के विविध नाम दिये हैं। युक्तिदीपिका के १०८ पृष्ठ पर एक पंक्ति है—"केचिदाहु — प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति।" कतिपय सांख्याचार्यों ने कहा है—प्रधान से एक अनिर्देश्यस्वरूप तत्त्वान्तर की उत्पत्ति होती है, उसके अनन्तर 'महान्' होता है। प्रकृति और महत्तत्त्व के बीच में यहाँ एक ऐसे तत्त्वान्तर का संकेत किया गया है, जिसके स्वरूप का इदमित्थं निर्देश नहीं किया जासकता। वस्तुतः यह प्रकृति की वही अवस्था है, जब उसमें क्षोभ होकर साम्य स्थिति तो नहीं रहती, पर महत्तत्त्व की उत्पत्ति भी नहीं हो पाती। निरुक्त [१४।४] में इसी अवस्था को 'प्रतिभा' यजुर्वेद [२३।५४] के दयानन्द भाष्य में 'विद्युत्' मनुस्मृति [१।८], शतपथ ब्राह्मण [११।१।६।१], तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।१।३।५], बृहदारण्यक उपनिषद् [१।२] तथा ऋग्वेद [१०।१२१।७,८] में 'आपस्' एवं भगवद्गीता [७।४] में 'मनस्' नाम से प्रतिपादित किया गया है। यह अवस्था ऐसी है, जब कि मूलकारण किसी विशेष कार्य के रूप में परिणत नहीं हो पाता, इसलिये सांख्य में इसको कारण रूप के अन्तर्गत मान लिया गया है। फलतः उसके अनन्तर जो कार्य प्रगट रूप में आता है, वही मूलकारण का आद्य कार्य है। इसप्रकार महत्तत्त्व को सांख्य में प्रकृति का प्रथम कार्य कहा गया है ॥३६॥

इसी क्रम के अनुसार—

चरमोऽहङ्कारः ॥३७॥

[चरमः] उसके अनन्तर का कार्य, [अहङ्कारः] अहङ्कार है।

उसके अनन्तर जो कार्य होता है, उसका नाम 'अहङ्कार' है। इस पद का अर्थ है कि यह अभिमानवृत्ति वाला है। जिस प्रकार आद्य कार्य बुद्धि निश्चय अथवा अध्यवसाय-वृत्तिक है, इसी प्रकार यह द्वितीय कार्य अभिमान-वृत्तिक होता है। अहङ्कार की उत्पत्ति के साथ उसके स्वरूप का भी निर्देश कर दिया गया है ॥३७॥

इन्द्रियों और तन्मात्रों की उत्पत्ति के लिये सूत्रकार कहता है—

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥३८॥

[तत्कार्यत्वं] उस (अहंकार) के कार्य हैं, [उत्तरेषां] अनन्तर कहे जाने वाले।

छब्बीसवें सूत्र में अहङ्कार के अनन्तर जिन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, पांच तन्मात्र और आभ्यन्तर तथा बाह्य इन्द्रियां, ये सब अहङ्कार के कार्य हैं। तामस अहङ्कार से पांच तन्मात्र और सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, जिन में पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बाह्य इन्द्रियां है, तथा एक मन आन्तर इन्द्रिय है। इन सब तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार हुआ—मूल

प्रकृति से महत्, महत् से अहङ्कार तथा अहङ्कार से पांच तन्मात्र एवं ग्यारह इन्द्रियां। इसप्रकार इन समस्त तत्त्वों का मूल उपादान प्रकृति है ॥३८॥

प्रकृति की मूल उपादानता इस रूप में भी पुष्ट होती है कि जब प्रलय का अवसर आता है, तो प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन होता जाता है, अन्त में सब का लय मूल प्रकृति में होता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥३९॥

[आद्यहेतुता] (प्रकृति की) आद्यहेतुता (सिद्ध होती है) [तद्द्वारा पारम्पर्ये अपि] कार्य के द्वारा (लय) परम्परा होने पर भी, [अणुवत्] अणु के समान।

कार्य के द्वारा कारण में लय की परम्परा स्वीकार करने पर भी प्रकृति की आद्यहेतुता—मूलकारणता सिद्ध होती है। लोक में हम देखते हैं कि कोई भी स्थूल पदार्थ जब अपने कार्यरूप का परित्याग करता है तब वह कारणरूप में अवस्थित हो जाता है। किसी भी कार्य का अथवा वस्तु का स्वरूपतः सर्वथा नाश नहीं होता। जब वह प्रगति की ओर अग्रसर होती हुई कार्यान्तर रूप में परिणत होती है, तब यह उत्पादन क्रम की अवस्था है। परन्तु एक स्थिति ऐसी है जब प्रत्येक कार्य अपने पूर्व रूप में लौटता है। यह पूर्व रूप, कारण का रूप है। इस प्रकार का परिवर्त्तन प्रलय की ओर संकेत करता है। यह एक परीक्षित सचाई है, कि जब कोई कार्य इस प्रकार के परिवर्त्तन की ओर अग्रसर होता है, तब वह लौटकर अपने पूर्व रूप में अवस्थित हुआ देखा जाता है। इस क्रम को हम भौतिक बाह्य साधनों के आधार पर तन्मात्रों तक जान सकते हैं। ये तन्मात्र ही अणुरूप हैं। सूत्रकार ने इस स्थिति को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है और इसके आधार पर शेष अध्यात्म सृष्टि के कार्यों की अपने कारणों में लयपरम्परा द्वारा प्रकृति की मूल कारणता को सुपुष्ट किया है। तेरह करणों की सृष्टि, अध्यात्म सृष्टि कही जाती है, इसका विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के 'विकार' नामक प्रकरण में किया गया है। फलतः सूत्र का अर्थ इसप्रकार होगा—जैसे स्थूल कार्य लय होते समय अपने सूक्ष्म अणुरूप कारणों में लीन होते हुए देखे जाते हैं, इसी प्रकार वे अणु द्रव्य [तन्मात्र] और समस्त इन्द्रियां अपने कारण अहंकार में, अहंकार महत् में और महत् मूलप्रकृति में लीन होकर इस लय-परम्परा के द्वारा उसकी आद्यकारणता को सिद्ध करते हैं ॥३९॥

अचेतन प्रकृति और चेतन आत्मा दोनों तत्त्वों की स्थिति अनादि है, तब चेतन आत्मा में समस्त जगत् का लीन होना क्यों न मान लिया जाय, फिर इस अचेतन प्रकृति का स्वीकार करना ही व्यर्थ होगा। सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥४०॥

[द्वयोः पूर्वभावित्वे] दोनों के पूर्वभावी (-अनादि) होने पर [एकतरस्य] उनमें से एक के [हाने]हान (परित्याग) पर [अन्यतरयोगः] अन्य एक का (उपादानता के साथ) योग-सम्बन्ध है।

चेतन और अचेतन दोनों का अस्तित्व पूर्वभावी है, अर्थात् अनादि काल से चला आ रहा है। फिर भी इन दोनों में से एक का जगत् की उपादानकारणता में परित्याग हो जाता है। अभिप्राय यह है कि इन दोनों में से एक चेतन तत्त्व अपरिणामी होने से जगत् की उपादानता में अनुपयोगी है। ऐसी स्थिति में अन्यतर अर्थात् जो दूसरा एक शेष रह जाता है—अचेतन, उसका योग अर्थात् उपयोग या सम्बन्ध जगत् की उपादानकारणता में माना जा सकता है। इसप्रकार समस्त जगत् का मूल उपादान कारण, अचेतन प्रकृति सिद्ध होती है। इसलिये समस्त जगत का लय मूल उपादान अचेतन प्रकृति में माना जासकता है, अनुपादानभूत चेतन आत्मा में नहीं।

इस सूत्र का दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जाता है। प्रथम सूत्र में लय द्वारा प्रकृति की मूल कारणता सिद्ध की है। इस सूत्र में लय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रकृति के पूर्वभावी अर्थात् आद्यकारण होने में प्रथम सूत्र से जो हेतु लय-परम्परा प्रदर्शित किया है, वहां लय का स्वरूप यह है कि कार्य और कारण इन दोनों में से एक का अर्थात् कार्य का हान होने पर, अन्यतर अर्थात् अवशिष्ट दूसरे एक(-कारण) का अस्तित्व बने रहना। अभिप्राय यह है कि जब कार्य की अपने स्वरूप से हानि हो जाती है, लोक में वस्तु की जिस स्थिति को यह कहा जाता है कि वस्तु नष्ट होगई, पर किसी वस्तु का सर्वथा नाश तो होता नहीं, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि वह वस्तु कार्यरूप में न रहकर अपने कारण रूप में अवस्थिति हो गई है। उस समय केवल कारण का अस्तित्व रहता है, यही लय का स्वरूप है। इसी अवस्था को—कार्य का कारण में लय होना—कहा जाता है। इसप्रकार पूर्वोक्त लय-परम्परा से समस्त कार्य जगत् अन्त में जहां लीन हो जाता है, वही मूल कारण है। इस आधार पर प्रकृति की मूलकारणता सिद्ध होती है। तब सूत्र का शब्दार्थ इसप्रकार होगा—प्रकृति के आद्यकारण होने में यह उपोद्वलक है, कि कार्य और कारण दोनों में से एक कार्य का हान-कारण में लय होने पर, अन्यतर-अन्य (कारण) का योग-सम्बन्ध अर्थात् अस्तित्व बना रहता है॥४०॥

बाह्य साधनों से हम इस बात को यथार्थरूप में जानते हैं कि स्थूल कार्य नष्ट होकर अपने सूक्ष्म कारणरूप अर्थात् तन्मात्ररूप में अवस्थित हो जाते हैं। तब यही क्यों न मान लिया जाय कि इस दृश्यमान जगत् के मूल कारण 'तन्मात्र' हैं। उसके आगे अन्य कारण की कल्पना करना निष्प्रयोजन है। इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने किया—

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ।।४१।।

[परिच्छिन्नं] परिच्छिन्न-संघात [सर्वोपादानं] सब का उपादान [न] नहीं।

परिच्छिन्न-नश्वर, विनाशशील, सावयव संघात, अनित्य तत्त्व समस्त जगत् का मूल उपादान नहीं होसकता। कारण यह है कि जब वह स्वयं अनित्य है और अन्य किसी कारण से परिणत होकर इस अवस्था में आता है, तब वह सब का मूल उपादान कैसे होगा? उसका अपना कारण ही ऐसा तत्त्व है, जिसका वह उपादान नहीं हो सकता। इसप्रकार उत्पादविनाशशील 'न्तमात्रों' को जगत् का मूल उपादान नहीं कहा जासकता। इस सूत्र में 'परिच्छिन्न' पद का अर्थ—उत्पाद विनाशशील संघात है। यह 'छिदिर्' धातु से निष्पन्न पद है, जिसका अर्थ है टूट-फूट जाना। यद्यपि इस पद का प्रयोग साधारण रूप से एकदेशी पदार्थ के लिये होता है, जो किसी संकुचित प्रदेश में सीमित रहे, ऐसा अर्थ करने में भी यहां कोई आपत्ति नहीं, पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मूलप्रकृतिरूप सत्त्व, रजस्, तमस् भी स्व रूप से अत्यन्त सूक्ष्म परम-अणु तथा अनन्त हैं, फिर भी समस्त सत्त्व समस्त रजस् तथा समस्त तमस् किसी एक संकुचित देश विशेष में सीमित नहीं। वे इस असीम विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रत्येक सत्त्व आदि के अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी समस्त सत्त्व आदि की स्थिति के आधार पर प्रकृति को अनेक स्थलों पर विभु कहा गया है। उनकी नित्यता तो सर्वप्रमाण सिद्ध है। सूत्र में परिच्छिन्न' पद अनित्य की ओर भी संकेत करता है। इसलिये नित्य सत्त्व आदि में समस्त जगत् की मूल कारणता संभव हो सकती है अन्यत्र नहीं।।४१।।

वेद से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है कि जगत् का मूल उपादानकारण प्रकृति है। सूत्रकार ने इसी अर्थ को कहा—

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ।।४२।।

[तदुत्पत्तिश्रुतेः] प्रकृति से जगदुत्पत्तिविषयक वेद-प्रमाण से [च] भी।

अचेतन प्रकृति से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, इसका वर्णन विभिन्न ऋचाओं में उपलब्ध होता है। इस आधार से भी प्रकृति की मूल उपादानता सिद्ध होती है। इसके लिये वेद तथा वैदिक साहित्य के निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं— 'यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति' [ऋ० १।१५४।४] 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' [ऋ० १।१६४।२०], 'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत' [ऋ०।१०।७२।-२] 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' [ऋ० १०।१२६।२-३] 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां व ह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' [श्वेता० ४।५] 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' [श्वेता० ४।१०] 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं

बहुधा यः करोति' [श्वेता० ६।१२] इत्यादि, तीसरी ऋचा में 'असतः सत् 'अजायत', का अर्थ है—अव्यक्त से व्यक्त जगत् हो जाता है।

सूत्र के 'तदुत्पत्ति' पद में पञ्चमी तत्पुरुष और षष्ठी तत्पुरुष दोनों समास होसकते हैं। पहले के अनुसार उपर्युक्त अर्थ किया गया। यदि दूसरा समास हो, तो 'तत्' पद 'तन्मात्र' का बोधक होगा। पहले समास में 'तत्' पद मूल प्रकृति का बोधक है। षष्ठी तत्पुरुष मानने पर सूत्र का अर्थ होगा—शब्द प्रमाण से भी तन्मात्रों की उत्पत्ति का निश्चय होता है। 'च' पद हेत्वर्थक है, क्योंकि शब्द प्रमाण से भी जाना जाता है, कि तन्मात्र उत्पादविनाशशील संघात है, अतः वे जगत् के मूल उपादान नहीं कहे जासकते। 'च' पद का अर्थ दोनों समासों में समान है। तन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय में निम्नस्थल द्रष्टव्य हैं—ऋ० १०।८१।३॥ श्वेता० ६।१०॥मनु १। १५-१६,२७॥ इन सब प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है कि समस्त जगत् प्रकृति का परिणाम है॥४२॥

सब तरह से प्रमाणपूर्वक यह निश्चय कर दिये जाने पर कि समस्त जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, वादी पुनः आशंका कर सकता है, कि प्रकृति की आवश्यकता क्या है? जगत् का उत्पादन आकस्मिक मान लिया जायगा। कारण के बिना जगत् उत्पन्न हो जाता है। सूत्रकार कहता है—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥४३॥

[अवस्तुनः] अवस्तु से [वस्तुसिद्धिः] वस्तु की सिद्धि [न] नहीं।

किसी वस्तु की सिद्धि अवस्तु से नहीं होसकती। जब हम दृश्यमान जगत् को वास्तविक स्थिति में देखते हैं, और इसके अस्तित्व को यथार्थ समझते हैं, तब यह कहना सर्वथा अप्रमाणिक होगा, कि इसकी उत्पत्ति बिना किसी वास्तविक कारण के होगई है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति वस्तु से होसकती है। कार्यमात्र का उपादान वस्तुभूत होना चाहिये। स्वप्न अथवा भ्रान्ति स्थलों में भी प्रतीति का कारण अथवा आधार अवास्तविक नहीं माना जासकता। जहां हमको रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत का भ्रम होता है, वहां यद्यपि सर्प और रजत नहीं हैं, परन्तु जब तक वास्तविक सर्प और रजत का ज्ञान नहीं हुआ होता, तब तक रज्जु आदि में इस प्रकार की प्रतीति असंभव है। ऐसे स्थलों में भ्रम केवल इतना है कि हम वास्तविक सर्प को ऐसी जगह में समझ जाते हैं, जहां वह नहीं है। जहां हमने सर्प को समझा है, वहां यदि वह नहीं है, तो इसका यह अभिप्राय कदापि नही होसकता, कि सर्प का अस्तित्व कहीं भी वास्तविक रूप में नहीं है। स्वप्न प्रत्ययों में यही व्यवस्था है। मान लीजिये, हमें यह स्वप्न आता है कि हम हाथी पर सवार हुए चले जारहे हैं, परन्तु तब तक के समस्त जीवन में हम कभी हाथी पर सवार नहीं हुए, इसका यह अभिप्राय समझा जाता है, कि स्वप्न में एक नवीन मानस सृष्टि

की रचना होती है, जिसका जाग्रत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं। जाग्रत के साथ स्वप्न-जगत् का पूरा सम्बन्ध है। यदि गंभीरता से देखा जाय, तो स्पष्ट होगा, कि स्वप्न में समस्त जाग्रत ही कुछ अस्तव्यस्त होकर प्रतिभासित हो उठता है। यद्यपि हम जीवन भर जाग्रत में हाथी पर सवार नहीं हुए, पर हमने हाथी को वहां देखा है, और उसपर सवार होकर जाते हुए अन्य व्यक्ति को भी देखा है। स्वप्न में केवल इतना अंश भ्रम है कि अन्य व्यक्ति की जगह हाथी पर हम अपने आप को बैठा देखते हैं। हाथी पर बैठने की हमारी तीव्र वासना हमें स्वप्न में यहां तक पहुंचा देती है। स्वप्न की अन्य समस्त सृष्टि जाग्रत का ही प्रतिबिम्ब है [प्रश्नो० ४।५]।

इन दृष्टान्तों के आधार पर ठीक यही स्थिति समष्टिरूप से जगत् की समझी जा सकती है। कहा यह जाता है कि जगत् एक भ्रान्ति है,ऐसे ही जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति। प्रकाश होने पर जब रज्जु का वास्तविक ज्ञान होता है, तब सर्प-भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। सर्प की भ्रान्ति का आधार जैसे रज्जु है, इसी प्रकार जगत् भ्रान्ति का आधार चेतन है। जब चेतन का वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब जगत्-भ्रान्ति का नाश हो जाता है और वास्तविक चेतन ज्ञान की प्रतीति बनी रहती है। परन्तु यहां दृष्टान्त की स्थिति पर ध्यान दीजिये और तब उसकी परीक्षा कीजिये। एक स्थल में सर्प-भ्रान्ति होने पर अन्यत्र सर्प की वास्तविकता से नकार नहीं किया जासकता। ऐसे ही भ्रान्ति स्थल के अतिरिक्त जगत् की सत्यता को स्वीकार करना ही होगा। दृष्टान्त में जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, ऐसे ही कभी सर्प में रज्जु की भ्रान्ति भी हो सकती है। इसका एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण तुलसीदास के जीवन की घटना है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रज्जु में सर्प और सर्प में रज्जु की भ्रान्ति हो जाती है, इस भ्रान्ति के लिये दोनों रूपों में अवकाश रहता है। इसी स्थिति को समष्टि जगत् में देखिये। जब हम यह कहते हैं कि जगत्-भ्रान्ति का आधार चेतन है, तब उसका अभिप्राय यह होता है, कि हम चेतन को जगद्रूप समझते हैं, जैसे कि रज्जु को सर्प रूप। इस में भ्रम अंश इतना ही है कि हम चेतन को अचेतन समझ रहे हैं। यदि इस अचेतन को ही अचेतन समझें, तो यह भ्रम न होगा। इस भ्रम का दूसरा रूप भी हो सकता है और वह है अचेतन को चेतन समझना। जब हम देह, इन्द्रिय आदि को आत्मा समझते हैं, तब भ्रम का यही स्वरूप होता है। ऐसी स्थिति में भ्रान्ति का आधार सदा चेतन है, यह नहीं कहा जासकेगा, भ्रान्ति का आधार सदा चेतन को कहकर वादी यह प्रकट करना चाहता है कि आधार-चेतन की सत्ता वास्तविक और आधेय जगत् की सत्ता अवास्तविक है। पर भ्रान्ति के दूसरे स्वरूप में जहां आधाराधेय-भाव बदल जाता है, वहां इस वास्तविकता अथवा अवास्तविकता की स्थिति को

विपरीत रूप में भी देख सकते हैं। तब क्या अचेतन को वास्तविक और चेतन को अवास्तविक कहना होगा? अभिप्राय यह है कि इसप्रकार की भ्रम प्रतीति किसी वस्तु की सर्वथा अवास्तविकता को सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण नहीं है।

चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन समझना अविवेक है, इसी को भ्रान्ति या भ्रम कहते हैं। यह अविवेक या भ्रम अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा को होता है। इसलिये जीवात्मा के अतिरिक्त सर्वज्ञ चेतन तथा अचेतन की सत्ता स्वतन्त्र एवं वास्तविक रूप में स्वीकार करनी आवश्यक है, अन्यथा अविवेक या भ्रम का होना असंभव होगा। तब न संसार होगा, न अन्य कुछ विचार। संसार के होने न होने का हम कोई नियोग नहीं कर सकते। वस्तुस्थिति पर विचार करना ही उपयुक्त है। फलतः जगत् की सत्ता को केवल भ्रम स्वीकार नहीं किया जासकता। तब उस के अचेतन मूल उपादान को भी वास्तविक मानना होगा। अथवा सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला सांख्य, कार्यरूप में परिणत होने से पूर्व भी कारणरूप में उस वस्तु की सत्ता को मानता है। इसलिये जो भी वस्तु कार्य रूप में परिणत होती है, वह वस्तु से ही वस्तु रूप में आती है, अवस्तु से नहीं। ऐसी स्थिति में अवस्तु से वस्तु की सिद्धि कहना सर्वथा असंगत है ॥४३॥

जगत् अवास्तविक नहीं है इस अर्थ को प्रमाणित करने के लिए सूत्रकार कहता है—

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥४४॥

[अबाधात्] बाध न होने, [अदुष्टकारणजन्यत्वात्] अदुष्ट कारण द्वारा उत्पन्न होने, [च] तथा ऋषि महर्षि एवं क्रान्तदर्शी विद्वानों द्वारा स्वीकार किये जाने के कारण इस समस्त संसार को, [अवस्तुत्वं] अवस्तु अर्थात् अलीक, तुच्छ, असत्य या केवल भ्रम [न] नहीं कहा जा सकता।

ऐसा कभी नहीं होता, कि संसार की किसी न किसी रूप में सत्ता बनी न रहे। जब कार्यरूप में जगत् नहीं रहता, तो वह अपने कारणरूप में अवस्थित रहता है, सर्ग-काल आने पर पुनः वह कार्यरूप में परिणत हो जाता है। इसप्रकार प्रवाहरूप से जगत् सदा बना रहता है। जब किसी व्यक्ति को तत्त्व-ज्ञान हो जाता है तब भी संसार का अस्तित्व बराबर उसी रूप में बना रहता है, किसी व्यक्ति के तत्त्व-ज्ञान से जगत् के अस्तित्व पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। तत्त्व-ज्ञान का स्वरूप यही है कि जो व्यक्ति अभी तक चेतन को अचेतन अथवा अचेतन को चेतन समझता था, वह दोनों की पृथक् तात्त्विक वास्तविकता को समझ गया है। इससे किसी एक तत्त्व के अस्तित्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

जगत् का मूलकारण दोषरहित है। जैसा जगत् त्रिगुणात्मक देखा जाता है, उसका मूल उपादान भी उसी प्रकार त्रिगुणात्मक है। उसका अस्तित्व प्रमाण-

सिद्ध है, वह अलीक, तुच्छ, भ्रम अथवा अनिर्वचनीय नहीं है। इस प्रकार के मूल उपादान से उत्पन्न होने के कारण जगत् की वास्तविकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। सूत्र में पठित 'च' पद से तृतीय हेतु का संग्रह किया गया है। वस्तु-स्थिति को समझने वाले क्रान्तदर्शी विद्वानों ने जगत् के अस्तित्व का इसी रूप में वर्णन किया है। स्वधा, अदिति और त्रिगुण आदि पदों से वेदों में प्रकृति तथा उसके कार्य जगत् का वर्णन उपलब्ध होता है। सूत्र निर्दिष्ट तीन हेतुओं के द्वारा यथाक्रम प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण का संकेत कर, जगत् की वास्तविकता को सर्वप्रमाण-सिद्ध रूप में स्पष्ट किया है ॥४४॥

इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये प्रकारान्तर से सूत्रकार कहता है—

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥४५॥

[भावे] होने पर, [तद्योगेन] उस (मूलकारण) के योग से, [तत्सिद्धिः] उस (जगत्) की सिद्धि है, [अभावे] न होने पर, [तद्भावात्] उस (कारण) के अभाव से, [कुतस्तरां] कैसे, [तत्सिद्धिः] उस (कार्य जगत्) की सिद्धि हो?

मूल कारण का सद्भाव मानने पर उसके द्वारा सद्रूप कार्य की सिद्धि हो सकती है। यदि मूल कारण को अभाव रूप कहा जाय तो उसका अस्तित्व ही कुछ न होगा। जब कारण का अस्तित्व न रहा तब सद्रूप कार्य की सिद्धि कैसे हो सकती है? परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हम जगद्रूप कार्य के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। इसलिए उसके अनुरूप ही उसके सद्रूप कारण का अनुमान करना चाहिये ॥४५॥

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सदात्मक अचेतन प्रकृति जगत् का उपादान कारण हैं, यह सिद्ध किया गया। परमात्म-चेतन की प्रेरणा से वह जगत् के रूप में परिणत होती है। चेतन, प्रकृति का अधिष्ठाता व प्रेरयिता है। ऐसी स्थिति में आशंका होती है कि फिर प्रकृति को मानने की क्या आवश्यकता है, परमात्म-चेतन की प्रेरणारूप क्रिया ही समस्त जगत् का उपादान क्यों न मान ली जाय? सूत्रकार उत्तर देता है—

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥४६॥

[कर्मणः] कर्म (क्रिया) का, [उपादानत्वायोगात्] उपादानता के साथ सम्बन्ध न होने से, [न] (जगत् का उपादान वह) नहीं।

कर्म अर्थात् क्रियामात्र से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि किसी क्रिया का वस्तु की उत्पत्ति के प्रति उपादान होना अप्रमाणिक है, चाहे वह परमात्मा की प्रेरणारूप क्रिया ही क्यों न हो। इसलिए प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानना आवश्यक है, और तब पुरुषार्थ के लिए प्रकृति का उपयोग भी स्पष्ट हो जाता है। पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग की सिद्धि में प्रकृति का पूर्ण सहयोग रहता है। भोग का सम्पादन तो साक्षात् प्रकृति करती है। अपवर्ग की

सिद्धि के लिए भी, अपवर्ग के साधनभूत प्रकृति-पुरुषविवेक में प्रकृति का सहज उपयोग है ॥४६॥

अपवर्ग के प्रति प्रकृति का उपयोग सुनकर शिष्य आशंका करता है—अपवर्ग की प्राप्ति तो वैदिक यज्ञयाग आदि कर्मों के अनुष्ठान से हो जायगी, उसके लिए प्रकृति-पुरुषविवेक द्वारा प्रकृति का उपयोग अनावश्यक है। सूत्रकार समाधान करता है—

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ॥४७॥

[आनुश्रविकात् अपि] केवल (यज्ञ याग आदि) वैदिक कर्म से, [तत्सिद्धिः] उस (अपवर्ग) की सिद्धि, [न] नहीं, [साध्यत्वेन] साध्य होने के कारण, [आवृत्तियोगात्] (पुनः पुनः) आवृत्ति का योग होने से, [अपुरुषार्थत्वं] अपुरुषार्थ है।

अनुश्रव अर्थात् वेद में प्रतिपादित केवल यज्ञ याग आदि कर्मों के अनुष्ठान से अपवर्ग की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि ये यज्ञ याग आदि कर्म किसी विशेष कामना की भावना से किए जाते है। ये अनुष्ठान उस कामना को पूरा करने के लिए भोगसामग्री प्रस्तुत कराने में सहायभूत होते हैं। इसलिए ये सब भोग-प्राप्ति के ही अंश हैं। जब ये अनुष्ठान निष्काम भावना से किए जाते हैं तब भोग-साधन होने के अतिरिक्त ये अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक होते हैं, जो प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसप्रकार कामना की भावना से अनुष्ठित यज्ञयाग आदि साध्य अर्थात् अन्य सांसारिक सुख-साधनों के समान होने से बार-बार संसार में अनुष्ठाता की आवृत्ति के प्रयोजक होते हैं। इसलिए ये अपुरुषार्थ हैं, अर्थात् पुरुष के वास्तविक प्रयोजन-अपवर्ग को सिद्ध नहीं करते। अभिप्राय यह है कि संसार में भोगसामग्री की सम्पन्नता के लिए जैसे अन्य कार्य व्यापार, कृषि आदि किए जाते हैं, वैसे ही ये सकाम वैदिक यज्ञयाग आदि हैं। ये सांसारिक भोगों को प्रस्तुत करते हैं। अपवर्ग के लिए वेदप्रतिपादित निष्काम कर्म द्वारा आत्म-साक्षात्कार मुख्य साधन है। इस सूत्र में 'अपि' पद 'केवल' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'साध्य' पद का अर्थ है—सांसारिक अन्य सुख-जनक कार्यों के साथ समानता ॥४७॥

यदि यज्ञ याग आदि अपुरुषार्थ हैं, तो पुरुषार्थ का साधन क्या है? सूत्रकार कहता है—

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥४८॥

[तत्र] चेतन-अचेतन में, [प्राप्तविवेकस्य] विवेक प्राप्त किए व्यक्ति का [अनावृत्तिश्रुतिः] अपवर्ग, वेद बताता है।

प्रकृति-पुरुष के विषय में अर्थात् चेतन-अचेतन के सम्बन्ध में जिस व्यक्ति को विवेकज्ञान हो गया है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा वेद ने प्रतिपादित

किया है। सूत्र में 'अनावृत्ति' पद अपवर्ग का वाचक है। सांसारिक कार्यों का अनुष्ठान करता हुआ कोई भी व्यक्ति अविरत आवर्त्तमान जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है। परन्तु प्रकृति-पुरुष का विवेकसाक्षात्कार होने पर वह अतिशय-काल के लिए अनिश आवर्त्तमान इस जन्म-मरण की परम्परा से छुटकारा पाजाता है। इसी कारण सूत्र में अपवर्ग की इस अवस्था को 'अनावृत्ति' पद से कहा है। चेतन-अचेतन का विवेकज्ञान आत्मा को इस स्थिति में पहुंचाता है, इसका प्रतिपादन वेद में किया गया है। यजुर्वेद [३१।१८] का मन्त्र है—

वेदाहमतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

तमस् अर्थात् अचेतन प्रकृति से भिन्न प्रकाशस्वरूप चेतन आत्मा को मैंने जान लिया है। इस रूप में उसे जानकर ही जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा होता है, अपवर्ग के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है । इसप्रकार वेदप्रतिपादित आत्मज्ञान अर्थात् अचेतन से भिन्न चेतन का साक्षात्कारज्ञान अपवर्ग का साधन है ॥४८॥

कामना की भावना से जो यज्ञयाग आदि का अनुष्ठान किया जाता है, उसका फल कैसा होता है ? सूत्रकार बताता है—

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥४९॥

[दुःखात् दुःखं] दुःख से दुःख होता है, [जलाभिषेकवत्] जल में स्नान के समान, [जाड्यविमोकः] दोष से छुटकारा, [न] नहीं।

कामना दुःख का मूल है, उसके वशीभूत होकर जो कार्य किए जाते हैं, वे दुःख के ही जनक हो सकते हैं, उनसे जड़तादोष का नाश नहीं होता। इसलिए कामनामूलक यज्ञ-याग आदि जहां थोड़े अनुकूल भोग का साधन बनते हैं वहां दुःख की मात्रा के उत्पादक भी होते हैं, उनके द्वारा अविवेक से छुटकारा नहीं हो सकता। अविवेक के हटाने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। जैसे शीत से आर्त्त व्यक्ति शीतल जल में स्नान करने पर शीतजन्य-दुःख से छुटकारा नहीं पाता,उसका वह दुःख बना ही रहता है। अथवा एक बार स्नान करने पर जैसे थोड़ी देर के लिए अनुकूलता प्रतीत होती है पर शीघ्र ही पुनः शरीरमल उसी तरह दुःखदाई प्रतीत होने लगते हैं, और स्नान की पुनः आवश्यकता होने लगती है। बार-बार स्नान करने पर भी शरीरमलों की शरीर बने रहने तक निवृत्ति नहीं हो पाती। इसी प्रकार काम्य कर्मों का अनुष्ठान किए जाने पर भी अविवेक उसी तरह बना रहता है, और दुःख से छुटकारा नहीं हो पाता ॥४९॥

काम्य कर्म न सही, निष्काम कर्म तो अपवर्ग की प्राप्ति कराने में समर्थ होंगे, तब उसके लिए विवेक-ज्ञान की आवश्यकता नहीं। फिर विवेक-ज्ञान के लिए

प्रकृति का जो उपयोग कहा गया है, उसके अनावश्यक होने पर प्रकृति को स्वीकार करने की आवश्यकता न रह जायगी। सूत्रकार कहता है—

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥५०॥

[काम्येऽकाम्ये अपि] काम्य और अकाम्य कर्मों में, [साध्यत्वाविशेषात्] सांसारिक फलप्रदता के समान होने से (दोष का छुटकारा नहीं)। सूत्र में 'अपि' पद 'और' के अर्थ में है।

कामनामूलक कर्मों के अनुष्ठान किये जाने पर जैसे अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे ही केवल निष्काम कर्मों के करने पर भी सीधे मोक्ष नहीं मिलता। यह सिद्धान्त प्रकट कर दिया गया है कि निष्काम कर्म ऐहिक भोग का साधन होकर भी अन्तः-करण की शुद्धि का प्रयोजक होता है। शुद्धान्तःकरण व्यक्ति समाधि-भावना की ओर अग्रसर होकर प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान का लाभ करता है। इस-प्रकार केवल निष्काम कर्म अपवर्ग का साधन नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि सांसारिक भोगों को प्रस्तुत करने का जहां तक प्रश्न है, काम्य और अकाम्य दोनों प्रकार के कर्म समानता रखते हैं। इनमें सांसारिक भोगों को प्रस्तुत करने का साक्षात् सामर्थ्य है। इस समानता से केवल निष्काम कर्मों को भी साक्षात् अपवर्ग का साधन मानना युक्त न होगा। इससे सिद्धान्तरूप यह परिणाम निकलता है कि जो कर्म—चाहे वे सकाम हों या निष्काम—सांसारिक भोगों के साक्षात् साधन हैं, वे अपवर्ग के साक्षात् साधन नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में अपवर्ग के लिए चेतना-चेतन का विवेक-ज्ञान होना आवश्यक है, और उसके लिए जगत् का मूल उपादान प्रकृति को स्वीकार करना होगा ॥५०॥

काम्य अथवा निष्काम कर्मों के फलों को अपुरुषार्थ इसलिए कहा गया कि वे फल नश्वर हैं, अस्थायी हैं। तब विवेकज्ञान से होने वाले अपवर्गरूप फल को उन्हीं के समान क्यों न माना जाय? यदि दोनों समान हैं तो अपवर्ग में फिर विशेषता क्या रह जायगी? सूत्रकार कहता है—

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥५१॥

[निजमुक्तस्य] स्वभाव से त्रिगुणातीत आत्मा के [बन्धध्वंसमात्रं] बन्ध का नाश ही, [परं] अपवर्ग है, (अतः कर्मफलों के साथ इसकी) [समानत्वं] समानता [न] नहीं।

आत्मा स्वतः मुक्त है अर्थात् अचेतन प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। वह प्रकृति के सम्पर्क में आने पर बद्ध समझा जाता है। इस स्थिति में वह अपने आपको प्रकृति का स्वरूप समझता है। वह चेतन को अचेतन समझने लगता है और अचेतन को चेतन। प्रकृति से सर्वथा भिन्न होने पर भी उसकी यह भावना उसको इस अवस्था में ला पटकती है। ऐसी भावना ही अविवेक है। इसके कारण प्रकृति से सम्पर्क

होना बन्ध है। जब समाधिभावना से आत्मा अपने चेतनस्वरूप का साक्षात्कार करता है और प्रकृति के अचेतन स्वरूप को पहचान लेता है, उस समय अविवेक की भावना नष्ट हो जाती है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष के विवेक का ज्ञान उसको रहने नहीं देता। जब अविवेक न रहा तब उससे होने वाला प्रकृति का भोगजनक सम्पर्क भी आत्मा के साथ नहीं रहता। यही आत्मा के बन्ध का नाश हो जाना है। इसमें किसी अपूर्व भोगरूप फल की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये अपवर्ग को कर्म-फलों के समान नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार स्वभावतः मुक्त अर्थात् जड़ प्रकृति से सर्वथा भिन्न चेतनस्वरूप आत्मा के, प्रकृति-सम्पर्करूप बन्ध का न रहना ही मोक्ष है। पूर्वोक्त कर्मफलों से अपवर्ग की यही विशेषता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रकृति का सहयोग आवश्यक है, इसलिए उसके स्वतन्त्र अस्तित्व से नकार नहीं किया जा सकता ॥५१॥

अचेतन प्रकृति उसके विकार और चेतन आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया, पर इन समस्त तत्त्वों का परीक्षण प्रमाण द्वारा होता है। इसलिए सूत्रकार अब प्रमाणस्वरूप का निर्देश करता है—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा
तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥५२॥

[द्वयोः] दोनों (बुद्धि और आत्मा), [अपि वा] अथवा, [एकतरस्य] दोनों में से एक (आत्मा) को, [असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः] पूर्व अज्ञात अर्थ का अवधारण होना, [प्रमा] प्रमा है, [तत्साधकतम यत्] उसका जो अतिशय साधक है, [तत् त्रिविधं प्रमाणं] वह प्रमाण तीन प्रकार का होता है।

जिस अर्थ को हमने अभी तक नहीं जाना, उसका अवधारण [असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः] अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। चाहे यह प्रमा आत्मा और बुद्धि दोनों को हो, अथवा दोनों में से एक आत्मा को। उस प्रमा का जो साधकतम है, अर्थात् उत्कृष्ट साधन है, जिसके तत्काल अनन्तर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है, वह 'प्रमाण' कहलाता है, जो तीन प्रकार का होता है, प्रत्यक्ष-अनुमान और शब्द। प्रत्येक प्रमाण में यथाक्रम इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान अथवा शब्द या पदज्ञान द्वारा बाह्य विषय बुद्धि में उपस्थित होता है। उस समय बुद्धि विषयाकार हो जाती है। मान लीजिये, हमारे सामने एक फल रखा है। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उसका आकार रूप गोलाई आदि बुद्धि को प्रभावित करता है। बुद्धि एक अत्यन्त स्वच्छ सात्त्विक तत्त्व है। उसकी स्वच्छता को स्पष्ट करने के लिये स्फटिक मणि का उदाहरण दिया जाता है, पर यह केवल लौकिक दृष्टि से उसकी स्थिति के लिए संकेतमात्र है। इससे उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उसकी रचना इस प्रकार की है कि इन्द्रिय आदि के द्वारा बाह्य विषय का तत्काल उस पर प्रभाव होता है।

उसकी इसी स्थिति को उसका विषयाकार होना कहा जाता है। प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि यद्यपि परिणामिनी है, फिर भी बाह्य विषय का उस पर प्रभाव पड़ना और उसका विषयाकार होना, उसकी वास्तविक स्थिति में कुछ अन्तर नहीं लाता। इसी कारण एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा अनेक विषयों के लगातार उसके सम्मुख आते रहने पर भी उसकी ग्राहकता बराबर उसी रूप में बनी रहती है। विषयाकार बुद्धि आत्मा के लिए उस विषय को प्रस्तुत करती है, तब आत्मा को 'यह फल है' ऐसी प्रतीति होती है, इस प्रतीति को 'बोध' कहा जाता है। इसी का नाम 'प्रमा' है।

जब इसका नाम 'प्रमा' होता है तब इसका साधकतम-बुद्धि, प्रमाण है। सर्वत्र बुद्धि के प्रमाण होने से उसके प्रत्यक्ष आदि भेद, इन्द्रिय आदि बाह्य साधन के आधार पर समझे जाते हैं। इन्द्रिय आदि के द्वारा बुद्धि का विषयाकार होना 'बुद्धिवृत्ति' कहा जाता है, यह वृत्ति ज्ञानरूप है। यदि इस बुद्धि-वृत्ति को ही 'प्रमा' मान लिया जाय तो बाह्य साधन अर्थात् इन्द्रिय आदि को 'प्रमाण' कहा जायगा। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए सूत्र में प्रथम दो पदों—'द्वयोः' तथा 'एकतरस्य' का सन्निवेश किया गया है। चाहे 'बुद्धि-वृत्ति' और 'बोध' अथवा 'चैतन्यबोध' इन दोनों को प्रमा माना जाय, अथवा दोनों में से अन्तिम एक को। किसी भी प्रमा का जो उत्कृष्ट साधन होगा, वह 'प्रमाण' कहा जायगा।

इन पदों का अन्य अर्थ भी आचार्यों ने किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण की दृष्टि से 'द्वयोः' पद का सूत्र में सन्निवेश है, और अनुमान तथा शब्द प्रमाण की दृष्टि से 'एकतरस्य' का। प्रत्यक्ष प्रमाण में दो वस्तुओं का वर्तमान अस्तित्व आवश्यक है, इन्द्रिय और अर्थ। बुद्धि का अस्तित्व प्रत्येक प्रमाण के लिए समान है। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा अर्थ विशेष हैं, उनका अस्तित्व प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक है। इसप्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध द्वारा जो पहले से अनधिगत अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह प्रमाण है। इसी प्रकार अनुमान में एक लिङ्गज्ञान तथा शब्द में पद-ज्ञान का होना आवश्यक है। इनके द्वारा अतीत अनागत अर्थ का भी बोध होता है, जो बोध के समय वर्तमान नहीं है। इसलिए एक के अस्तित्व में ही जो अनधिगत अर्थ का अवधारण होता है, वह भी प्रमाण है। इसप्रकार तीनों प्रमाणों का इस सामान्य प्रमाणलक्षण में समावेश हो जाता है ॥५२॥

पूर्व सूत्र में त्रिविध प्रमाणों का उल्लेख किया है, क्या इनसे न्यून अथवा अधिक प्रमाणों की कल्पना नहीं की जा सकती? सूत्रकार कहता है—

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥५३॥

[तत्सिद्धौ] त्रिविध प्रमाण की सिद्धि में, [सर्वसिद्धेः] सब (पदार्थमात्र) की सिद्धि हो जाने से, [आधिक्यसिद्धिः] अधिक प्रमाण की सिद्धि [न] नहीं।

त्रिविध प्रमाणों की सिद्धि से समस्त अर्थ सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा कोई अर्थ जानने के लिए अवशिष्ट नहीं रह जाता, जिसकी सिद्धि के लिए त्रिविध प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता हो। इसलिए तीन प्रमाणों से अधिक प्रमाण मानना अनावश्यक है। समस्त अर्थों की सिद्धि तीन ही प्रमाणों से हो पाती है, इस-लिए इनमें कोई न्यूनता भी नहीं की जा सकती ॥५३॥

प्रमाण का सामान्य लक्षण कहकर, विशेष प्रत्यक्ष आदि का यथाक्रम लक्षण बताते हैं। प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥५४॥

[यत्संबद्धं सत्] जिसके साथ संबद्ध होता हुआ, [तदाकारोल्लेखि] उसी आकार को धारण करने वाला अथवा उसी आकार उल्लेखन=निर्देशन करने वाला जो [विज्ञानं] विज्ञान है, [तत्] वह, [प्रत्यक्षं] प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाह्य विषय के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करती है और तत्काल वह विषयाकार हो उठती है। बुद्धि की यह स्थिति 'बुद्धिवृत्ति' कही जाती है। सूत्र में इसी के लिए 'विज्ञान' पद का प्रयोग हुआ है। विज्ञान अथवा इसी बुद्धिवृत्ति को प्रयत्क्ष प्रमाण कहते हैं। सूत्रकार ने यहां बुद्धि-वृत्ति को प्रमाण बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष को जो बोध होता है वह प्रमा अर्थात् प्रमाण का फल है। बुद्धिवृत्ति उस विषय को पुरुष के लिए अर्पण करती है। पुरुष उससे सुखदुःख आदि का अनुभव करता है, यही पुरुष का भोग है।

आत्मा के द्वारा विविध सुख-दुःख आदि के भोग से यह न समझना चाहिए कि आत्मा में किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की संभावना हो सकती है। परिणाम अचेतन का धर्म है, चेतन आत्मा सदा अपरिणामी है। फिर भी चेतन-स्वभाव के कारण वह सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, एवं बुद्धिवृत्ति द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। उसका यह अनुभव अथवा ज्ञान ही 'प्रमा' कहा जाता है। इसीलिए उसका सर्वोत्कृष्ट साधन बुद्धिवृत्ति, प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अन्य समस्त जगत् के समान ये प्रमाण आत्मा के उपयोग के लिए हैं। इनके द्वारा सुख-दुःख आदि का अनुभव करता हुआ आत्मा विकारी क्यों नहीं होता, यह एक ध्यान देने की बात है। यद्यपि सुख दुःख आदि विकार प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं, इस दृष्टि से इन का आधार प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्व हैं, परन्तु इनकी अनुभूति आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को होना असंभव है। अनुभूति स्वतः चेतन का स्वरूप है। यदि यह माना जाय, कि यह अनुभव आत्मा को नहीं होता, तो उस अवस्था में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा। इसप्रकार बाह्य विषयों के अनुभूतिकाल में इसकी वृत्तिसरूपता बनी रहती है। आत्मा को भोग, स्थूल शरीर के सम्पर्क में सम्पन्न होता है। यह शरीर जन्म-मरण के साथ बदलता

रहता है। वस्तुतः इस शरीर का बदलना ही जन्म अथवा मरण है।

इसके अतिरिक्त आत्मा के साथ एक सूक्ष्मशरीर रहता है। यह शरीर अठारह तत्त्वों से निष्पन्न होता है। तेरह करण और पांच तन्मात्र। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बाह्यकरण तथा मन अहंकार और बुद्धि, ये तीन अन्तःकरण हैं। पांच सूक्ष्मभूत पांच तन्मात्र हैं। यह सूक्ष्मशरीर आदिसर्ग से आत्मा के साथ संबद्ध हो जाता है। आगे समस्त सर्गकाल में यही शरीर उस आत्मा के साथ बराबर बना रहता है। महाप्रलय होने पर जहां अन्य समस्त कार्य अपने कारण में लीन हो जाते हैं, सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव भी अपने कारणों में लीन हो जाते हैं। उसके अनन्तर समस्त प्रलय काल में आत्मा सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा रहता है। अविवेक ही उसको इस अवस्था में बनाये रखता है। यदि सर्गकाल में समाधिलाभ से विवेक हो जाने पर अविवेक का नाश हो जाता है, तब सूक्ष्मशरीर भी स्थूलशरीर के समान उसी समय अपने कारणों में लीन हो जाता है, और अविवेक के न रहने से आत्मा बन्ध-विनिर्मुक्त हो जाता है। उसे चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और तब वह स्वरूप में अवस्थित रहता है। उसकी वृत्तिसरूपता नष्ट हो जाती है। यद्यपि सुप्त और महाप्रलय काल में भी वृत्तियों के न रहने से उसकी वृत्तिसरूपता नहीं रहती, पर उस अवस्था में अविवेक के बराबर बने रहने के कारण वृत्तियों के पुनः जाग्रत हो उठने का मार्ग खुला रहता है। इसलिए आत्मा की यह स्थिति जहां वह वृत्तिसरूपता के न होने पर भी सुप्त के समान बना रहता है, वाञ्छनीय नहीं।

इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता हैं, कि आत्मा चाहे वृत्ति सरूपता की अवस्था में हो, अथवा अन्य अवस्था में; उसके वास्तविक स्वरूप में कभी कोई विकार या अन्तर नहीं आता। इसलिए बाह्य विषयों का ज्ञान बुद्धिवृत्तिद्वारा आत्मा को होता है, और उसी का नाम 'प्रमा' है, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं ॥५४॥

योगी जनों को अतीत अनागत तथा व्यवहित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, यह बात शास्त्र तथा व्यवहार से सिद्ध है। परन्तु अतीत आदि अवस्थाओं में चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि का बाह्य विषय के साथ सम्पर्क तो स्थापित हो नहीं सकता, क्योंकि बाह्य विषय का तब अस्तित्व ही नहीं है अथवा वह व्यवहित है। ऐसी अवस्था में योगी जनों के प्रत्यक्ष में यह लक्षण अव्याप्त रहेगा। सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥५५॥

[योगिनां] योगी जनों का [अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्] बाह्य प्रत्यक्ष न होने से [दोषः] कोई दोष [न] नहीं।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का समझना चाहिए, एक बाह्य प्रत्यक्ष दूसरा अबाह्य

प्रत्यक्ष। ग्राह्य विषय की विद्यमानता में सर्वसाधारण जनों को जो प्रत्यक्ष होता है, वह पहला है। इसमें चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाह्य विषय के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित करती है, प्रस्तुत सूत्र में ऐसे ही प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। योगियों के प्रत्यक्ष में तो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषय के साथ सम्पर्क की अपेक्षा ही नहीं होती, इसलिए योगियों को होने वाले प्रत्यक्ष में यदि उक्त लक्षण नहीं घटता तो कोई दोष नहीं।

प्रत्यक्ष के लक्षण में जो अव्याप्ति दोष उपस्थित किया गया, उसके दो समाधान सूत्रकार ने किये हैं। पहले समाधान में अव्याप्ति स्थल को प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर कर दिया है। वादी ने योगी के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति दोष उपस्थित किया, क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो माना गया, पर प्रत्यक्ष के लक्षण का उसमें समन्वय नहीं हो पाता। योगी के प्रत्यक्ष में बाह्य विषय के साथ बुद्धि, चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा अपना सम्पर्क स्थापित नहीं करती, पर प्रत्यक्ष के प्रस्तुत लक्षण में इस बात को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। इस स्थिति में सूत्रकार ने कहा, कि योगी के प्रत्यक्ष का यह लक्षण नहीं किया गया। इसप्रकार योगी के प्रत्यक्ष को प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर कर दिया। उपस्थित किये अव्याप्ति दोष का यह प्रथम समाधान है, जो इस सूत्र से प्रस्तुत किया गया है॥५५॥

दूसरा समाधान यह किया गया है कि योगी के प्रत्यक्ष में भी इस लक्षण का समन्वय हो जाता है। योगी का प्रत्यक्ष प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण की सीमा से बाहर नहीं रहता, इसलिए अव्याप्ति दोष की संभावना नहीं। कारण यह है कि सांख्य, वस्तु की उत्पत्ति के विषय में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अतीत-अनागत कार्य अपने कारणरूप में सदा विद्यमान रहता है, किसी वस्तु का सर्वात्मना नाश नहीं होता। जो कार्य व्यवहार में अब अतीत अथवा अनागत कहा जाता है, वह अपने कारण में उसी रूप से अब भी विद्यमान है। योगज शक्ति की सहायता से योगी की बुद्धि, कार्यमात्र के मूल कारण के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करती है, और उस स्थिति में प्रत्येक वस्तु का साक्षात् करती है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः॥५६॥

[वा] अथवा [लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्] प्रधान के साथ प्राप्त (योगज) अतिशय द्वारा सम्बन्ध से [अदोषः] (प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति) दोष नहीं।

इस सूत्र म 'लीनवस्तु' पद मूल प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसमें समस्त वस्तु अतीत-अनागत अवस्था में लीन रहती हैं, कार्यमात्र के लय का मूल स्थान। ऐसा तत्त्व मूल प्रकृति है। यहां 'प्रकृति' पद का प्रयोग न करके उसके लिए

'लीनवस्तु' पद का इसीलिए प्रयोग किया है जिससे कार्यमात्र का मूलकारण में लय होना ध्वनित किया जा सके। अतिशय अर्थात् योगज शक्ति के द्वारा योगी को प्रकृति के साथ सम्बन्ध प्राप्त हो जाने से उक्त प्रत्यक्ष लक्षण में कोई दोष नहीं। साधारण प्रत्यक्ष में यही स्थिति है, कि बाह्य विषय के साथ बुद्धि का सम्पर्क चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा स्थापित होता है। योगी के प्रत्यक्ष में भी बाह्य विषय के साथ बुद्धि का सम्पर्क होता है, परन्तु यहां इतनी विशेषता है कि उस सम्पर्क का द्वार चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं। प्रत्युत योगज शक्ति के द्वारा यह स्थापित किया जाता है। उसकी व्यवस्था यह है कि अतीत अनागत समस्त वस्तु अपने मूल कारण में कारणरूप से विद्यमान रहती हैं। योगज शक्ति से योगी की बुद्धि का सम्पर्क मूल कारण के साथ होता है, और उस रूप में वह कार्यमात्र का प्रत्यक्ष करता है। इसप्रकार अतीत अनागत बाह्य विषय के साथ भी योगी की बुद्धि का सम्बन्ध हो जाने से उक्त प्रत्यक्ष लक्षण का इसके साथ समन्वय हो जाता है, और इसी प्रकार योगी योग से प्राप्त शक्त्यतिशय द्वारा आत्मा और परमात्मा का भी प्रत्यक्ष करता है। अतएव इस लक्षण में अव्याप्ति दोष की संभावना नहीं। इस आधार पर कार्यरूप समस्त जगत् के मूल उपादान प्रकृति के अस्तित्व की भी पुष्टि हो जाती है ॥५६॥

अतीत अनागत विषय के साथ योगी का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कार्यमात्र के त्रिगुणात्मक मूल उपादान प्रकृति के साथ उसके सम्बन्ध का जो निर्देश किया गया है, इसमें त्रिगुणात्मक मूल उपादान को और दृढ़ता से समझने के लिए प्रसंगवश शिष्य आशंका करता है कि वैदिक साहित्य के अनेक स्थलों में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर चेतन ईश्वर को जगत् का उपादान मान लिया जाना चाहिए। फिर अतिरिक्त प्रकृति को मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सूत्रकार समाधान करता है—

ईश्वरासिद्धेः ॥५७॥

[ईश्वरासिद्धेः] (उपादानभूत) ईश्वर के असिद्ध होने से।

जैसा ईश्वर तुम बताना चाहते हो, वह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि जगत् का उपादानभूत ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता[1]।

---

१ इस प्रकरण के व्याख्यान में व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न विचारों का प्रदर्शन किया है। मुख्यतया उन विभिन्नताओं की दो दिशा हैं। एक यह है, कि कपिल ने यहां ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। मध्यकाल के व्याख्याकारों की मुख्य दिशा यही रही है। इसके आधार पर उन्होंने कपिल को अनीश्वरवादी तथा नास्तिक तक कहने का साहस किया है। पर चिन्तनीय यही है, कि वे कपिल की आन्तरिक भावना तक पहुंचने के लिए यत्नशील नहीं रहे।

कतिपय आधुनिक विद्वान् तो इस आधार पर कपिल को अनीश्वरवादी कहते हैं, कि वह ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं मानता। पर वस्तुतः थोड़ा भी गंभीरता से देखा जाय, तो वास्तविक अनीश्वरवादी वे ही विचारक हैं जिन्होंने ईश्वर को जगत् का उपादान कारण बताया है। ऐसा कहकर वे विद्वान् वस्तुतः अचेतन प्रकृति को ईश्वर का नाम दे देते हैं और ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को उखाड़ फेंकते हैं।

व्याख्याकारों की दूसरी दिशा यह है कि वे इस प्रकरण में किसी भी रूप में ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान नहीं बताते। उन्होंने इन सूत्रों का अनेक रूप से मनमाना अर्थ किया है। न उनको सर्वात्मना प्रकरण में संगत कहा जा सकता है और न वैसी व्याख्या करते हुए सांख्यसिद्धान्तों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वस्तुतः सब व्याख्याकारों ने उक्त सूत्र की अवतरणिका के संबंध में गंभीरता से नहीं सोचा, इसी कारण वे वास्तविकता से बहुत दूर बहक गये हैं। अधिक व्याख्याकारों ने यह समझा कि ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्ष में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हटाने के लिये यह सूत्र लिखा गया। पर इस अव्याप्ति का परिहार तो ठीक वैसे ही हो सकता है जैसे योगी के प्रत्यक्ष में किया है। योगी योगज शक्ति के द्वारा प्रकृति अथवा प्रकृतिजन्य समस्त अतीत अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है, और परमात्मा में इस प्रकार की अनन्त शक्ति स्वतः वर्तमान रहती है। वह तो समस्त कार्य कारण जगत् व हमारी दृष्टि से बने अतीत अनागत को पूर्ण रूप में वर्तमान के समान देख रहा है। उसका सम्बन्ध तो प्रत्येक पदार्थ के साथ बराबर बना है, फिर ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्ष में अव्याप्ति की संभावना कहां?

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्ष की उक्त लक्षण में अव्याप्ति अथवा समन्वय के प्रश्न का उत्तर—ईश्वर की असिद्धि कैसे होगा? यह तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' न्याय को चरितार्थ करता है। पूछा आमों के सम्बन्ध में, कथा कचनार की छेड़ दी। यदि यह कहा जाय कि 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी' के अनुसार जब ईश्वर ही असिद्ध है तो प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति का अवकाश ही न रहेगा। तब फिर यह प्रश्न उठाया ही क्यों गया? यदि ईश्वर की असिद्धि को प्रकट करने के लिये; तो यह कथन सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध होगा, क्योंकि इसी प्रकरण के अन्त में समस्त जगत् के अधिष्ठाता रूप में चेतन को स्वीकार किया गया है, तथा तृतीयाध्याय में 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' तथा 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' इन सूत्रों से समस्त जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर स्वीकार किया गया है। पुनः आगे पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता कहकर उस प्रकरण के

अन्त में उसकी उपादानता को निषेध करते हुए प्रकृति की उपादानता का प्रतिपादन किया है। जिन व्याख्याकारों ने प्रस्तुत प्रकरण को ईश्वर के प्रत्याख्यान में लगाया है, क्या कपिल को उन्होंने इतना भ्रान्त समझा होगा, जो एक ही सांस में ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कह जाता। फलतः इन उल्लेखों में वास्तविकता यही है, कि सांख्य में ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन है, तथा जगत् के प्रति उसकी उपादानता का प्रतिषेध है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रसंगवश इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। उस प्रसंग-क्रम को हमने अपने भाष्य में स्पष्ट कर दिया है।

कतिपय व्याख्याकारों का यह कहना है, कि यहां जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है वह इस प्रकार का है कि उसमें योगी के द्वारा किया गया ईश्वर का प्रत्यक्ष भी संगृहीत हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के साथ उसका यही संबन्ध है कि यदि ऐसा लक्षण न किया जाता तो ईश्वर की असिद्धि हो जाती। इसप्रकार यह सूत्र प्रत्यक्ष लक्षण की पुष्टि करता है, ईश्वर की असिद्धि का प्रतिपादक नहीं।

सूत्र की ऐसी व्याख्या केवल कल्पना है, क्योंकि यह प्रकरण के साथ संगत नहीं और अनपेक्षित भी है। ऐसा अर्थ करने पर इससे अगले सूत्रों की कोई संगति नहीं रहती, जहां यह कहा गया है कि ईश्वर को बद्ध मानो या मुक्त, किसी अवस्था में उसकी सिद्धि नहीं होती। जहां तक योगी के द्वारा ईश्वर के प्रत्यक्ष होने का प्रश्न है, वह स्थिति तो ठीक वैसी ही है जो योगी के द्वारा अतीत अनागत तथा अतीन्द्रिय तत्त्वों के प्रत्यक्ष कर लेने के विषय में पूर्व सूत्र (लीनवस्तुलब्धा० ५६) में निर्दिष्ट की गई है। योगी योगजनित शक्त्यतिशय द्वारा जिस प्रकार अतीत अनागत तथा अतीन्द्रियादि पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार वह आत्मा और परमात्मा का प्रत्यक्ष करता है। उसके लिए भी योगी को योगज धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्यक्षलक्षण में उसका समावेश किस प्रकार है, इस बात को ५६वें सूत्र में स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया गया है। इसप्रकार योगी के द्वारा किये गये प्रत्यक्ष के सामान्य प्रत्यक्ष लक्षण में समावेश हो जाने से ईश्वर की असिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त यदि सूत्रकार को यहां वैसा अर्थ [प्रत्यक्षलक्षण की पुष्टि करना रूप] अभीष्ट होता, तो प्रस्तुत सूत्र की रचना 'ईश्वरासिद्धेः' न होकर 'ईश्वरासिद्धिः स्यात्' अथवा 'ईश्वरासिद्ध्यापत्तेः' या 'ईश्वरासिद्धि-प्रसक्तेः' इत्यादि रूप में होती, पर ऐसा नहीं है, सूत्र की वर्त्तमान रचना उक्त अर्थ में सहायता नहीं देती। स्पष्ट है, कि प्रायः व्याख्याकार प्रथम सूत्र [५६] का गंभीरतापूर्वक मनन न करने के कारण भ्रान्ति का शिकार हो गये हैं। इन सूत्रों के

प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि किसी भी अवस्था में हम ईश्वर को जगत् रूप में परिणत होते हुए देख नहीं सकते ॥५७॥

अनुमान भी संभव नहीं है, क्योंकि—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥५८॥

[मुक्तबद्धयोः अन्यतराभावात्] मुक्त और बद्ध किसी अवस्था में न होने से [तत्सिद्धिः] उपादानभूत ईश्वर की सिद्धि [न] नहीं।

किसी भी चेतन के अस्तित्व की दो अवस्था मानी जा सकती हैं—मुक्त अथवा बद्ध। यदि ईश्वर मुक्त है, तब जगत् उसका परिणाम कैसे होगा? क्योंकि उस अवस्था में ईश्वर परिणामी हो जायगा, वह मुक्त नहीं रह सकता। यदि बद्ध माना जाय, तो धर्म-अधर्म आदि के साथ सम्बन्ध होने से वह ईश्वर कैसे रहेगा? इसप्रकार किसी भी अवस्था में जगत् का उपादानभूत ईश्वर सिद्ध नहीं होता। ईश्वर को जगत् का उपादान मानने पर उसकी बद्ध या मुक्त कोई अवस्था संभव नहीं हो सकती ॥५८॥

बद्ध या मुक्त अवस्था कुछ भी हो, शिष्य आशंका करता है कि कार्य से कारण का अनुमान हो जायगा? सूत्रकार समाधान करता है—

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥५९॥

[उभयथापि] बद्ध मुक्त दोनों अवस्थाओं में भी (चेतन ईश्वर से) [असत्करत्वं] अचेतन परिणाम होना (कैसे?)।

ईश्वर को बद्ध या मुक्त कैसा भी मानने पर उसे चेतन तो मानना ही होगा। यह स्पष्ट सिद्ध है, कि समस्त दृश्य अदृश्य जगत् अचेतन है। तब चेतन ईश्वर का जगद्रूप अचेतन परिणाम कैसे होगा? यदि वस्तुतः चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम माना जाता है तो चाहे ईश्वर को मुक्त कहिये या बद्ध, उसे परिणामी अथवा विकारी होने से कोई बचा नहीं सकता। इसप्रकार कार्य से उपादान कारण का अनुमान करने पर ईश्वर को अचेतन मानना होगा, पर ऐसा ईश्वर कहीं शास्त्रों अथवा श्रुतियों में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव जगत् का उपादानभूत ईश्वर असिद्ध है, यही कहना होगा। सूत्र में 'असत्करत्वम्' का अर्थ-अचेतन-परिणामित्व है। मुक्त या बद्ध दोनों अवस्थाओं में चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम होना कैसे माना जा सकेगा? ऐसा कार्य-कारणभाव सर्वथा अमान्य है ॥५९॥

यदि ऐसा है तो उपनिषद् आदि में ईश्वर का इस रूप में वर्णन क्यों किया

सम्बन्ध में अन्य विस्तृत विचार 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण के ईश्वर प्रसंग में किया गया है।

गया है, जहां के उल्लेख यह संकेत करते हैं कि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाना चाहिये ? अतः जगत् का उपादानभूत ईश्वर शब्द प्रमाण से सिद्ध है, असिद्ध नहीं। सूत्रकार समाधान करता है—

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥६०॥

[मुक्तात्मनः] परमात्मा की, [प्रशंसा] प्रशंसा है, [वा] अथवा [उपासासिद्धस्य] उपासना के लिए निश्चित स्वरूप का [प्रशंसा] वर्णन।

नित्य मुक्त आत्मा परमात्मा है। औपनिषदिक प्रसंगों में उसकी प्रशंसा के वर्णन विविध रूप में किये गये हैं। यही आधार उसकी उपादानता के वर्णनों का है। अभिप्राय यह है कि केवल परमात्मा की प्रशंसा की भावना से उस प्रकार के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भगवद्भक्त जब उसकी उपासना में सक्रिय होता है तब वह केवल उसी के अस्तित्व को अपने सन्मुख देखना चाहता है और उसी को सब कुछ कल्पना कर लेता है। माता-पिता, बन्धु-सखा, विद्या-धन और सर्वस्व तक। तब उसे जगत् का उपादान कह देना भी आश्चर्य नहीं। परमात्मा के ऐसे स्वरूप का उपयोग केवल उपासना में होता है। वह अर्थ की वास्तविकता को प्रकट नहीं करता। इसप्रकार केवल उपासना के लिए निर्धारित परमात्मा के स्वरूप की प्रशंसा में उपादानता का संकेत करने वाले वाक्यों का समन्वय कर लेना चाहिये।

अथवा 'उपासा' और 'सिद्धस्य' ये दोनों पृथक् पद हैं। 'सिद्ध' पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् आदि के कतिपय स्थलों में जो स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से परमात्मा को जगत् का उपादान बताने के संकेत मिलते हैं, वे केवल परमात्मा की उपासना की दृष्टि से लिखे गये हैं। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के समस्त उल्लेख परमात्मा की प्रशंसा अथवा उसी की उपासना की दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं, अर्थ की वास्तविकता के आधार पर नहीं। फलतः परमात्मा जगत् का उपादान कारण है, इसमें शब्द को भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ईश्वर की जगदुपादानकारणता सब प्रमाणों के आधार पर असिद्ध है॥६०॥

यदि सांख्य में ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं माना गया है, तो उसकी स्थिति का क्या स्वरूप माना गया है ? सूत्रकार इसका समाधान करता है—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥६१॥

[तत्सन्निधानात्] प्रकृति के साथ सन्निधान से (ईश्वर में) [अधिष्ठातृत्वं] अधिष्ठातृत्व (सिद्ध होता) है, [मणिवत्[मणि के समान।

जगत् के मूल उपादान अचेतन प्रकृति में कोई भी प्रवृत्ति चेतन की अपेक्षा या प्रेरणा के विना—स्वतन्त्र रूप से नहीं होती। समस्त विश्व के सर्ग और संचालन का नियन्ता एक चेतन है। जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) लोह धातु में सान्नि-

ध्यमात्र से क्रियाविशेष को उत्पन्न कर देती है, इसी प्रकार चेतन परमात्मा केवल अपने सान्निध्य से समस्त प्रकृति का संचालन करता है। प्रकृति में प्रत्येक क्रिया, विकार या परिणाम चेतन की प्रेरणा से होता है। जिस प्रकार मणि में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह लोह धातु को विचलित कर दे, इसी प्रकार चेतन का यह स्वभाव है कि अचेतन को वह प्रेरणा दे। प्रेरणा, संकल्प या सान्निध्य चेतन की एक ही स्थिति का निर्देशन करते हैं। मणि का केवल इतने अंश में उदाहरण है कि वह अपने एक सामर्थ्यविशेष के कारण अन्य धातुविशेष को सक्रिय बना देती है। इसप्रकार अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन का सान्निध्य निमित्त है, यही चेतन के अधिष्ठातृत्व का स्वरूप है। फलतः चेतन, जगत् का उपादान न होकर अचेतन उपादान प्रकृति में प्रवृति का निमित्त होता है। समस्त विश्व का नियन्ता व अधिष्ठाता, अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति आदि न्यूनताओं के कारण जीवात्मा संभव नहीं, इसलिए सांख्य में समस्त प्रकृति के नियन्ता व अधिष्ठाता रूप में एक चेतन ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है।

इसप्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि जड़ जगत् का मूल उपादान ईश्वर नहीं, प्रत्युत प्रकृति है, इसलिए समस्त अतीत अनागत कार्य अपने मूल उपादान प्रकृति में कारण रूप से अवस्थित रह सकते हैं, और योगी योगज शक्ति के द्वारा प्रकृति के साथ सम्पर्क स्थापित कर अतीत अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर पाता है। इसलिए प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का अवकाश नहीं रहता ॥६१॥

परमात्मा के अधिष्ठातृत्व प्रसंग से चेतन-सामान्य के कारण जीवात्मा के अधिष्ठातृत्व अथवा कर्त्तृत्व आदि का प्रतिपादन भी सूत्रकार ने किया—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥६२॥

[विशेषकार्येषु] विशेष कार्यों में [जीवानां अपि] जीवों का भी (अधिष्ठातृत्व) है।

जैसे समस्त विश्व का अधिष्ठाता परमात्मा है, ऐसे एक देह में होने वाले दर्शन, श्रवण, मनन आदि समस्त कार्यों में जीव चेतन का अधिष्ठातृत्व निश्चित होता है। देह अथवा इन्द्रिय आदि में प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति, जीव चेतन के सान्निध्य से संभव हो सकती है, इसलिए विशेष कार्यों अर्थात् व्यक्तिगत रूप से देह आदि की सब प्रवृत्तियों में जीवात्माओं का नियन्त्रण व प्रेरण स्वीकार किया जाता है। देह तथा बुद्धि आदि अचेतन तत्त्व स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते। इनकी सब प्रवृत्तियां चेतन आत्मा के भोग आदि के लिए होती हैं। इसलिए उसी के नियन्त्रण में होने के कारण वह इसका अधिष्ठाता एवं कर्त्ता कहा जाता है। पहले सूत्र से 'अधिष्ठातृत्वं' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में आती है ॥६२॥

जीवात्मा अधिष्ठाता एवं कर्त्ता है, शास्त्र के आधार पर भी इस अर्थ की पुष्टि होती है। सूत्रकार ने कहा—

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ।।६३।।

[सिद्धरूपबोद्धृत्वात्] नित्यरूप (आत्मा) के बोद्धा होने के कारण, [वाक्यार्थोपदेशः] वाक्यार्थोपदेश है।

सिद्धरूप अर्थात् नित्य अपरिणामी चेतन रूप आत्मा के बोद्धा होने के कारण उसके लिए वाक्यार्थोपदेश किया गया है। शास्त्र में आत्मा के लिए विधि-वाक्यों अथवा विविध अनुष्ठानों का जो वर्णन है, वह अपरिणामी चेतन आत्मा के बोद्धा माने जाने के कारण किया गया है। सूत्र में 'बोद्धा' पद, द्रष्टा, श्रोता, कर्त्ता, अधिष्ठाता आदि का उपलक्षण समझना चाहिये। शास्त्र में 'जुहुयात्-यजेत-दद्यात्-उपासीत' इत्यादि विधिघटित वाक्यों का उपदेश जीवात्मा के अधिष्ठाता होने का निश्चायक है। 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता, मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' [प्रश्नो० ४।६] यह चेतनस्वरूप जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, बोद्धा, कर्त्ता आदि माना जाता है। 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' [बृह० ४।३।१२] यह अमरणधर्मा अपरिणामी आत्मा अपने कर्मों के अनुसार जहां-तहां बराबर जाता रहता है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' [तैत्ति० २।५।१] चेतन आत्मा यज्ञ तथा अन्य कर्मों का अनुष्ठान करता है। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' [मुण्ड० २।२।६] में 'ओम्' इस नाम के आधार पर परमात्मा का ध्यान करने वाला जीव चेतन ही तो है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' [यजु० ४०।१] 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [यजु० ४०।२] इत्यादि वेद वाक्यों में पर-मात्मा के द्वारा प्रदत्त जगत् को भोगने के लिए जीवात्मा ही को तो उपदेश किया गया है, तथा संसार में कर्म करते हुए जीने की इच्छा का उपदेश भी जीवात्मा को है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' [ऋ० १।१६४।२०] परमात्मा और जीवात्मा में से एक जीवात्मा संसार में सुख-दुःख आदि फलों का भोग करता है, इत्यादि अनेक प्रमाण वेद तथा वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर आत्मा के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म प्रमाणित होते हैं। कपिल ने प्रस्तुत सूत्र में इसी अर्थ का संकेत किया है ।।६३।।

ज्ञान संशय इच्छा आदि भाव, अन्तःकरण में अपना अस्तित्व पाते हैं, तब इनकी अनुभूति अन्तःकरण में ही क्यों न मानी जाय? फिर आत्मा को अधिष्ठाता मानने का अवकाश नहीं रहता। शब्द प्रमाण भी इस अर्थ की पुष्टि करता है। यह आशंका होने पर सूत्रकार ने कहा—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।।६४।।

[अन्तःकरणस्य] अन्तःकरण के [तदुज्ज्वलितत्वात्] आत्मा द्वारा प्रका-

श्रित होने से, [लोहवत्] लोह के समान [अधिष्ठातृत्वं] अधिष्ठातृत्व (आत्मा का) है।

जैसे एक लोहे के गोले या शलाका का अग्नि के साथ सम्पर्क होने पर उस में दाहकता की प्रतीति होती है, परन्तु वहां दाहकता अग्नि की है, लोहे की नहीं। इसी प्रकार चेतन के सम्पर्क अथवा सान्निध्य से बुद्धि में प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। यद्यपि उन प्रवृत्तियों का आधार अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि हैं, पर बुद्धि के अचेतन होने से स्वतः किसी प्रकार की प्रवृत्ति उसमें नहीं हो सकती, जैसे लोहा स्वयं किसी को जला नहीं सकता। चेतन के सान्निध्य से उसमें यह सामर्थ्य रहता है कि वह अपने कार्यों को पूरा कर सके। फिर भी सुख-दुःख आदि की अनुभूति आत्मा को होती है। इसलिए सूत्र में कहा—जड़ अन्तःकरण, चेतन आत्मा के सान्निध्य से उज्ज्वलित होता है, जैसे लोहा अग्नि के सान्निध्य से। अतः अधिष्ठातृत्व देह आदि में जीवात्माओं का ही माना गया है।

अन्तःकरण के उज्ज्वलित होने का अर्थ यही है कि वह आत्मा के लिए इन्द्रिय द्वारा विषयों को समर्पित करने में शक्त रहता है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह चेतन के समान हो जाता है, अथवा चेतन अपने आपको उसमें संक्रान्त कर देता है। 'संक्रान्त होना' अथवा 'प्रतिबिम्बित होना' आदि पदों का प्रयोग, अर्थ के स्पष्ट रूप में प्रकाशन के लिए एक रीतिमात्र है। चेतन और अचेतन का यह एक विशेष प्रकार का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध कहना चाहिये, जिस का निर्देश सांख्य में सन्निधि पद से किया जाता है। इसे विशेष प्रकार का इसलिए कहा है कि यह आदि सर्ग से लगाकर तत्त्वज्ञान पर्यन्त बराबर बना रहता है, बीच में टूटता नहीं, न कोई विपर्यय इनकी स्थिति में आता है। जहां कहीं वैदिक साहित्य में ज्ञान, इच्छा आदि को अन्तःकरण में होने का संकेत मिलता है, उसका तात्पर्य अन्तःकरण को ज्ञान आदि का साधन बताने में है॥६४॥

प्रत्यक्षलक्षण में दोष-परिहार के प्रसंग से ईश्वर की जगदुपादानकारणता का प्रतिषेध कर उसके जगत्स्रष्टृत्व अधिष्ठातृत्व आदि का प्रतिपादन किया तथा चेतन सामान्य से इसी प्रसंग में जीवात्माओं के कर्तृत्व एवं अधिष्ठातृत्व आदि का वर्णन किया। अब क्रम-प्राप्त अनुमान प्रमाण का लक्षण बताते हैं—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥६५॥

[प्रतिबन्धदृशः] व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्य से [प्रतिबद्धज्ञानं] व्यापक का ज्ञान [अनुमानं] अनुमान है।

'बन्ध' सम्बन्ध को कहते हैं। दो वस्तुओं का एक दूसरे के प्रति जो नियत सम्बन्ध हो, वह 'प्रतिबन्ध' कहलाता है। इसीका दूसरा नाम व्याप्ति है। दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध वह है, जो एक दूसरे को छोड़ न सके। हम कहते हैं—

जो वस्तु उत्पत्तिधर्मक है वह अनित्य है, अथवा जो अनित्य है वह उत्पत्तिधर्मक है। अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व दोनों का नियत सम्बन्ध है, ये एक दूसरे को छोड़ नहीं सकते। और एक उदाहरण लीजिए—जो त्रिगुणात्मक है वह परिणामी है, अथवा जो परिणामी है वह त्रिगुणात्मक है। परिणामी और त्रिगुणात्मक का नियत सम्बन्ध है। हम इनमें से किसी भी एक के आधार पर दूसरे का निश्चय कर सकते हैं। जो निश्चायक है वह हेतु, जिसका निश्चय किया जाय वह साध्य कहलाता है। हेतु और साध्य के परस्पर नियत सम्बन्ध को 'प्रतिबन्ध' अथवा 'व्याप्ति' कहते हैं। इस तरह के सम्बन्ध को हम एक दूसरे के 'होने' और 'न होने' के द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे—त्रैगुण्य के होने पर परिणामित्व होता है, न होने पर नहीं होता। अथवा परिणामित्व के होने पर त्रैगुण्य होता है, न होने पर नहीं होता। जब 'होने' के द्वारा दो धर्मों के सम्बन्ध को बताया जायगा, तब उसे अन्वयव्याप्ति, और जब 'न होने' के द्वारा बताया जायगा, तो उसे व्यतिरेकव्याप्ति कहा जायगा। इसप्रकार जिस व्यक्ति को व्याप्तिज्ञान रहता है, वह एक धर्म (हेतु) के द्वारा दूसरे नियत सहयोगी सम्बन्धी (साध्य) का ज्ञान कर लेता है। इसी को अनुमान कहते हैं। यह अनुमान ज्ञान अर्थात् 'अनुमिति' का स्वरूप है। इसका जो असाधारण साधन है, वह अनुमान प्रमाण कहा जाता है। व्याप्य (हेतु) और व्यापक (साध्य) के नियत साहचर्य का नाम व्याप्ति है। व्याप्तिज्ञान-पूर्वक व्याप्य से व्यापक का ज्ञान होता है। इसप्रकार 'व्याप्य' प्रमाण माना जाता है। सूत्रकार परमर्षि कपिल ने व्याप्ति का निरूपण पञ्चम अध्याय के अट्ठाईस से छत्तीस तक सूत्रों में स्वयं किया है।

जब व्याप्य-व्यापक के नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समान रूप में प्रकट किया जा सके, तब उसे 'समव्याप्ति' कहते हैं। जैसे उत्पत्तिधर्मकत्व और अनित्यत्व में अथवा परिणामित्व और त्रिगुणात्मकत्व में। इन धर्मों में हम कह सकते हैं—जहां उत्पत्तिधर्मकत्व है वहां अनित्यत्व है, जहां अनित्यत्व है वहां उत्पत्तिधर्मकत्व है। इसी प्रकार जहां उत्पत्तिधर्मकत्व नहीं वहां अनित्यत्व नहीं, जहां अनित्यत्व नहीं वहां उत्पत्तिधर्मकत्व नहीं। इन धर्मों का समान साहचर्य होने से इनकी व्याप्ति समव्याप्ति कही जाती है।

कतिपय स्थलों में दो धर्मों या पदार्थों का दोनों रूप में नियत साहचर्य नहीं रहता। यह प्राय: उन्हीं पदार्थों में होता है जिनका परस्पर कार्यकारणभाव हो। ऐसे स्थलों में कार्य के अस्तित्व से कारण का अनुमान तो हो सकता है परन्तु कारण के अस्तित्व से कार्य के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो पाता। कभी-कभी ऐसा होता है कि कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य अस्तित्व में नहीं आता। जैसे धूम के दीखने से अग्नि का अनुमान हो जाता है परन्तु अग्नि के अस्तित्व में

सर्वत्र यह आवश्यक नहीं कि वहाँ धूम अवश्य उत्पन्न हो। जब ईंधन में कुछ आर्द्रता होगी तभी धूम उत्पन्न होगा, दहकते अंगारों में धूमोत्पत्ति की संभावना नहीं। इसी प्रकार वर्षा के देखने पर बादल के अस्तित्व का अनुमान हो जाना ठीक है परन्तु बादल के उपस्थित रहने पर सदा वर्षा हो जाने का अनुमान नहीं किया जा सकता। अनेक बार ऐसा होता है कि पुरोवात की उपस्थिति में बादल आ जाने पर भी विधारकवात के प्राबल्य से वर्षा नहीं हो पाती। इसलिए प्रत्येक ऐसे स्थल में जहां बादलों का अस्तित्व हो, वर्षा हो जाने का ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। ऐसे स्थलों में दो धर्मों की व्याप्ति का नाम 'विषमव्याप्ति' होता है। जहां धूम है वहां अग्नि है, यह तो कहा जा सकता है, परन्तु जहां अग्नि है वहां धूम है, यह व्याप्ति नहीं कही जा सकती। दहकते अंगार, अयोगोलक आदि में आग रहते भी धूम नहीं रहता। इसलिए यह विषमव्याप्ति है। अभिप्राय यह है कि अनुमान करते समय दोनों धर्मों के साध्य-साधनभाव का प्रथम निश्चय कर लेना आवश्यक है ॥६५॥

क्रमप्राप्त शब्द प्रमाण का लक्षण सूत्रकार बताता है—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥६६॥

[आप्तोपदेशः] आप्तों का उपदेश [शब्दः] शब्द प्रमाण है।

किसी भी वस्तु के यथार्थ ज्ञान का नाम 'आप्ति' है। जिन व्यक्तियों ने एक वस्तु का साक्षात्कार करके उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया हुआ होता है, वे उस विषय में 'आप्त' कहे जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का उपदेश-शब्द प्रमाण होता है। इसप्रकार के उपदेशों की यथार्थता में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष बाधक नहीं होते। उन उपदेशों के द्वारा वस्तु का सत्य ज्ञान होता है। वेद में भ्रम आदि दोषों की संभावना नहीं हो सकती, क्योंकि वह किसी व्यक्तिविशेष का उपदेश नहीं है, इसलिए उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। इन समस्त प्रमाणों से बुद्धिवृत्ति के द्वारा पुरुष को जो बोध होता है, वह प्रत्यक्ष अनुमिति अथवा शाब्द ज्ञान है। वही इन प्रमाणों का फल है ॥६६॥

प्रमाणों के प्रतिपादन का प्रयोजन, सूत्रकार स्वयं बताता है—

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ॥६७॥

[उभयसिद्धिः] दोनों (चेतन-अचेतन) की सिद्धि होती है [प्रमाणात्] प्रमाण से (अतः) [तदुपदेशः] प्रमाणों का उपदेश है।

प्रमाण से चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थों की सिद्धि होती है, इसलिए प्रमाणों का उपदेश किया गया है। दर्शन शास्त्र का यह साधारण नियम है, कि प्रत्येक वस्तु की यथार्थता का निश्चय प्रमाण के विना संभव नहीं। चेतन और अचेतन इन दो वर्गों में समस्त विश्व का समावेश है। अतः इन दोनों की

यथार्थता का निश्चय प्रमाण द्वारा किया जा सके, इसी प्रयोजन के लिये इनका उपदेश है ॥६७॥

मूलभूत प्रकृति और चेतन का ज्ञान किस प्रमाण के द्वारा होता है, सूत्रकार ने अगले सूत्र से स्वयं बताया—

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥६८॥

[सामान्यतोदृष्टात्] सामान्यतोदृष्ट (अनुमान) से [उभयसिद्धिः] दोनों (चेतन-अचेतन) की सिद्धि है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष दोनों की सिद्धि होती है। अनुमान तीन प्रकार का बताया गया है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जहां कारण से कार्य का अनुमान हो सके, वह पहला है जैसे बादलों के उमड़-घुमड़कर आने से—वर्षा होगी—यह अनुमान हो जाता है। जहां कार्य से कारण का अनुमान हो, वह दूसरा है। जैसे नदी में बाढ़, कूड़ा-करकट, लकड़ी, पत्ते तथा गंदला पानी आदि देखकर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से दृष्ट दो पदार्थों के नियत साहचर्य के आधार पर सामान्यरूप से एक नियम का निर्धारण कर लिया जाता है, उस नियम के अनुसार जब हम अतीन्द्रिय अथवा अदृष्ट तत्त्वों के सम्बन्ध में अनुमान करते हैं, तब वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे हम इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं कि लकड़ी कुल्हाड़ी से काटी जाती है। काटना कार्य है और कुल्हाड़ी उसका साधन है। कुल्हाड़ी काट सकती है, और काटना विना कुल्हाड़ी के नहीं हो सकता। इनके नियत साहचर्य को देखकर एक सामान्य नियम का निर्धारण किया जाता है कि प्रत्येक कार्य का कोई साधन अवश्य होता है, अर्थात् साधन के विना कोई कार्य हो नहीं सकता। इस नियम का अदृष्ट पदार्थों की जानकारी के लिए प्रयोग किया जाता है। छिदिक्रिया के समान रूपदर्शन भी एक कार्य है। जैसे छिदिक्रिया के साथ उसके साधन कुल्हाड़े को हम ने प्रत्यक्ष से जाना है, वैसे रूपदर्शन के साधन चक्षु इन्द्रिय को कभी प्रत्यक्ष से नहीं देखा गया, पर पूर्वोक्त नियम के अनुसार कोई कार्य विना साधन के नहीं हो सकता, हम रूपदर्शन-कार्य से अतीन्द्रिय चक्षु इन्द्रिय का अनुमान कर लेते हैं, यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी कार्य अपने सजातीय कारण से उत्पन्न होता है। अथवा यह कहें कि प्रत्येक कार्य का उपादान कोई सजातीय पदार्थ होता है। कुण्डल, रुचक सोने के हैं, सुवर्ण से बने हैं। घट मृण्मय, मट्टी से बनता है। दृष्ट पदार्थों में अनुभूत इस सामान्य नियम का हम अदृष्ट पदार्थों की जानकारी के लिए प्रयोग करते हैं। जगत् का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक देखा जाता है। वही पदार्थ किसी के लिए सुखकर किसी के लिए दुःखकर और किसी के लिए

उपेक्ष्य होता है। यही सत्त्व-रजस्-तमस् का स्वरूप है। यद्यपि जगत् को हमने कभी उत्पन्न होते नहीं देखा, पर पूर्वोक्त सामान्य नियम के अनुसार त्रिगुणात्मक जगत् के किसी ऐसे ही अतीन्द्रिय मूल उपादान का अनुमान कर लेते हैं। इसप्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से जगत् के मूल उपादान प्रकृति की सिद्धि होती है।

लोक में देखा जाता है, शय्या, आसन, परिच्छद, गृह, उद्यान आदि समस्त साधन अपने लिए कोई उपयोग नहीं रखते। इनका ठीक उपयोग कोई अन्य व्यक्ति करता है। प्रत्येक परिणामी तत्त्व की यही दशा है। इससे एक सामान्य नियम का निर्धारण कर लिया जाता है, कि प्रत्येक परिणामी तत्त्व परार्थ हैं अर्थात् दूसरे या अन्य के लिए है। यह 'पर' अर्थात् अन्य, कोई अचेतन तत्त्व नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक परिणामी तत्त्व अचेतन है। यदि अचेतन, अचेतन के ही लिए हुआ तो वह परार्थ नहीं हो सकता, वह तो स्वार्थ हो गया। तब परिणामी अपने परार्थ-स्वरूप से ही च्युत हो जायेगा। इसलिए वह 'पर', अचेतन से अतिरिक्त कल्पना किया जाएगा। इसप्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय चेतन तत्त्व की सिद्धि होती है ॥६८॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की फलभूत प्रमा अथवा अनुभूति, अचेतन बुद्धि को होती है अथवा चेतन पुरुष को। शिष्य आशंका करता है, यदि बुद्धि को मानी जाए तो अचेतन को अनुभूति कैसे हो सकेगी? यदि चेतन पुरुष को मानी जाए, तो वह परिणामी हो जाएगा। प्रत्येक बाह्य विषय बुद्धि में पहुंचने पर जैसे वह विषयाकार परिणत हो जाती है, इसी प्रकार जब वह विषय चेतन तक पहुंचेगा तो उसका भी विषयाकार परिणाम मानना होगा। सूत्रकार समाधान करता है—

चिदवसानो भोगः ॥६९॥

[चिदवसानः] चेतन पर्यन्त [भोगः] भोग है।

सुख-दुःख आदि की अनुभूति ही भोग है। इसका अवसान चेतन में होता है। भोग बुद्धि तक ही पहुंचकर नहीं रह जाता, उसकी पहुंच चेतन तक है। जड़ जगत् की रचना, चेतन जीवात्माओं के भोग के लिए है। संसार में सुख-दुःख आदि का अनुभवरूप भोग, जीवात्मा तक पहुंचकर समाप्त होता है। उससे पहले वह और कहीं रुक नहीं जाता। फलतः समस्त संसार जीवात्मा का भोग्य है, संसार का सर्जन इसी के लिए हुआ है। सुख-दुःख आदि की अनुभूति आत्मा को होने पर भी उसमें किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की आशंका करना व्यर्थ है। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप चेतन है। चेतन को किसी प्रकार का अनुभव होना उसको अपने वास्तविक स्वरूप से च्युत नहीं करता, प्रत्युत यह तो चेतन के स्वरूप का अपनी वास्तविक स्थिति में रहना प्रमाणित करता है। कोई भी अनुभव चेतन के अस्तित्व का प्रमाण ही कहा जा सकता है। अथवा यह कहिये कि अनुभव

विना चेतन के अस्तित्व के हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में चाहे किसी विषय का अनुभव हो, वह चेतन के अस्तित्व का द्योतक है, उसमें किसी प्रकार के विकार का नहीं। जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि जपा कुसुम के सम्पर्क अथवा सहयोग से लाल प्रतीत होता है, पर उसके अपने वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। तथा जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र के प्रतिबिम्बित होने पर जल के अपने वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक इसी प्रकार बुद्धि के सम्पर्क अथवा सहयोग से सुख-दुःख आदि का साक्षात् अनुभव करने पर आत्मा के अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आता। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' में 'पुरुष' नामक प्रकरण के 'जीवात्मा' प्रसंग में किया गया है ॥६९॥

यदि भोग आत्मा को होता है, और संसार की रचना उसके भोग के लिए है, तो उसमें यह आपत्ति है कि संसार की रचना तो और किसी ने की है जिसे समस्त विश्व का अधिष्ठाता कहा जाता है, तथा इसे भोगता है जीवात्मा। इसप्रकार यहां यह दोष है, कि न करने वाले को फल की प्राप्ति हो जाती है। सूत्रकार समाधान करता है—

अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥७०॥

[अकर्त्तुःअपि] न करने वाले को भी [फलोपभोगः] फल का उपभोग होता है, [अन्नाद्यवत्] अन्नादि के समान।

लोक में ऐसा देखा जाता है कि एक व्यक्ति रसोई आदि बनाकर तैयार करता है, पर उसको भोगने वाले अन्य अनेक व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार जगद्-रचना में जीवात्माओं का हाथ न होने पर भी वे इसके भोगने वाले हो सकते हैं। सूत्रकार लौकिक उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्ष अर्थ के समान परोक्ष अर्थ को समझाने का यत्न कर रहा है। यह दृष्टान्त केवल इतने अंश में लागू है, कि करने वाला अन्य होने पर भी भोगने वाले उससे अतिरिक्त हो सकते हैं ॥७०॥

व्यावहारिक बात कहकर सूत्रकार उक्त दोष का वास्तविक समाधान करता है—

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥७१॥

[अविवेकात् वा] अथवा अविवेक से (कृतकर्मानुसार) [तत्सिद्धेः] जगत् की सिद्धि (उत्पत्ति) होने के कारण [कर्त्तुः] करने वाले को, [फलावगमः] फल की प्राप्ति है।

आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि की सिद्धि अविवेक के कारण होती है। शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा को अविवेक एक ऐसी अवस्था (बद्ध अवस्था) में लाकर डाल देता है, जहां कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अस्तित्व उसमें स्वीकार किया जाता

है, जो तत्त्वज्ञान हो जाने पर नहीं रहता। अविवेक क्या है? चेतन और अचेतन के वास्तविक भेद का साक्षात्कार न होना। जब कोई जीवात्मा इस अवस्था में होता है, तब वह धर्म-अधर्म आदि स्वकृत कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के सतत-गामी प्रवाह में बह रहा होता है। सामूहिक रूप से जीवात्माओं के ये कर्म, सृष्टि रचना में सहायभूत होते हैं,[1] क्योंकि आत्माओं के भोग सम्पादनार्थ इस जगत् की रचना है, इसलिए आवश्यक है कि वह उनके भोग के अनुकूल हो। इस अनुकूलता के नियमन में भी जीवात्माओं के कर्म सहायक हैं। इसप्रकार जगत् की उत्पत्ति में अन्य निमित्तों के समान जीवात्माओं का अविवेक भी एक निमित्त है।[2] अतएव फल की प्राप्ति अर्थात् भोग, कर्त्ता को है, इसमें सन्देह नहीं। बुद्धि आदि अन्तःकरणों से लगाकर जितना विश्व है, वह सब जीवात्माओं के भोग का साधन अथवा विषय है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस सबकी विशेष रचना में जीवात्माओं के कृतकर्म एवं अविवेक सहायभूत हैं। इसलिए जीवात्माओं का फलोपभोग अपने किए कर्मों का परिणाम होने से कर्त्ता को ही भोग की प्राप्ति होती है ॥७१॥

जब जगत् की उत्पत्ति में आत्माओं का अविवेक और कृतकर्म निमित्त हैं, तथा बन्ध में रहकर आत्मा बराबर कर्म करता रहता है, और अविवेक उसी तरह बना रहता है। तब क्या आत्मा का छुटकारा इन दोनों से कभी नहीं होता? सूत्रकार कहता है—

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥७२॥

[तत्त्वाख्याने] तत्व ज्ञान हो जाने पर [उभयं] ये दोनों बात [न च] नहीं रहतीं।

जब किसी आत्मा को स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, यह अवस्था प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान की कही जाती है। इसप्रकार विवेक-ज्ञान होने पर न अविवेक रहता है, और न कृतकर्म अथवा विषय-जन्य सुख-दुःखानुभव। फलतः आत्मा अविवेक तथा कर्मानुष्ठान की अवस्थाओं से छुटकारा पाकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। 'च' का प्रयोजन है, कि सूत्र के 'उभयं' पद से यहां कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का भी संग्रह कर लेना चाहिये। तत्त्वज्ञान के अनन्तर इनका भी शब्दादि विषयसंपर्कजनित अस्तित्व आत्मा के साथ नहीं रहता ॥७२॥

प्रमाणों का विवेचन कर अनुमान के आधार पर संक्षेप से प्रकृति-पुरुष

---

१. तुलना कीजिये—कर्मनिमित्तयोगाच्च। सांख्यसूत्र, ३।६७॥

२. तुलना करें—तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्। १।२०॥ नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।३।६८॥ नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते। ३।७१॥ निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ३।७४॥

के अस्तित्व को सिद्ध किया गया। अब उसमें अन्य बाधाओं व विशेषताओं का यथाशक्य विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा। प्रकृति आदि की सिद्धि के लिए प्रदर्शित अनुमान में प्रथम अनुपलब्धि रूप बाधा का निराकरण सूत्रकार करता है—

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥७३॥

[विषयः अपि] विषय भी [इन्द्रियस्य] इन्द्रिय का [अविषयः] अविषय है, [अतिदूरादेः] अतिदूर आदि (कारण) से, [हानोपादानाभ्यां] हान और उपादान से (इन्द्रियके)।

किसी वस्तु के अभाव को केवल इतने से निर्धारित नहीं किया जा सकता, कि वह इन्द्रियों से नहीं जानी जा रही। यदि यह विचार ठीक होता, कि जो वस्तु इन्द्रियद्वारा नहीं जानी जाती, उसका अभाव स्वीकार करना चाहिये, तो अतीन्द्रिय प्रकृति आदि पदार्थों का अनुपलब्धि के कारण अभाव स्वीकार किया जा सकता था। परन्तु अनेक बार ऐसा होता है, कि विद्यमान भी पदार्थ कुछ दोषों के कारण इन्द्रिय का अविषय रहता है, अर्थात् इन्द्रिय-गोचर नहीं हो पाता।

वे दोष इसप्रकार हैं—अतिदूर, कोई भी पदार्थ अति दूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे आकाश में दूर उड़ता हुआ पक्षी चक्षु से नहीं दीख पाता। यदि वही पदार्थ ठीक दूरी पर हो तो दीख जाता है। सूत्र का 'आदि' पद 'अतिदूर' के विरोधी 'अतिसमीप' का परामर्शक है। इसप्रकार दूसरा दोष है—अतिसमीप, अतिसमीप होने पर भी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे आंख में लगाया हुआ अञ्जन उस आंख से नहीं दीखता। वही ठीक दूरी से अन्य आंख के द्वारा देखा जाता है। तीसरा दोष है—हान, इन्द्रिय शक्ति की हानि होना, अर्थात् इन्द्रिय की दुर्बलता, जैसे अन्धे और बधिर रूप और शब्द को ग्रहण नहीं कर पाते। उन्हीं रूप और शब्द को वे ग्रहण कर लेते हैं, जिनके चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय ठीक हैं। यह दोष इन्द्रियगत है। अन्य दोष विषयगत हैं। चौथा दोष है—उपादान, इन्द्रिय और विषय के मध्य में किसी अन्य वस्तु का उपस्थित हो जाना, अर्थात् किसी भी मूर्तिमान वस्तु का व्यवधान। जैसे दीवार आदि के परे की विद्यमान वस्तु भी दृष्टिगोचर नहीं होती। वही वस्तु, मध्य में दीवार न होने पर दीख जाती है। ये सब दोष ऐसे विषयों में लागू होते हैं, जो किसी समय इन्द्रिय-गोचर होते हों। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता, कि जो पदार्थ एक समय नहीं दीख रहा, उसका अस्तित्व नहीं है॥७३॥

सर्वथा अतीन्द्रिय प्रकृति आदि पदार्थों की अनुपलब्धि में इन दोषों को बाधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकृत्यादि पदार्थ कभी दृष्टिगोचर नहीं होते। तब उनकी अनुपलब्धि, उनके अभाव की ही साधक समझी जानी चाहिये।

सूत्रकार कहता है—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥७४॥

[तदनुपलब्धिः] प्रकृति आदि की अनुपलब्धि [सौक्ष्म्यात्] सौक्ष्म्य (सूक्ष्मता) से है।

प्रकृति की अनुपलब्धि सौक्ष्म्य के कारण होती है। जगत् के मूल कारण सत्त्व-रजस्-तमस् अतिशय अणुरूप होने के कारण अति सूक्ष्म होते हैं, उनका ग्रहण करना इन्द्रियों की शक्ति से परे है। जब इन्द्रियां उन्हें ग्रहण ही नहीं कर सकतीं, तब इन्द्रियों के द्वारा उनकी अनुपलब्धि उनके अभाव का साधक नहीं कही जा सकती। जहां कहीं प्रकृति को व्यापक कहा है, वह सत्त्व आदि की समष्टि दृष्टि से कहा गया है ॥७४॥

सूक्ष्म होने के कारण यदि इन्द्रियों से प्रकृति की अनुपलब्धि उसके अभाव की साधक नहीं, तो प्रकृति का ज्ञान तो किसी उपाय से होना चाहिए। सूत्रकार कहता है—

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥७५॥

[कार्यदर्शनात्] कार्यज्ञान से अथवा कार्य देखे जाने से [तदुपलब्धेः] प्रकृति का ज्ञान हो जाने के कारण (उसका अभाव नहीं)।

प्रकृति की उपलब्धि, कार्य देखने से हो जाती है। यद्यपि प्रकृति अतीन्द्रिय पदार्थ है, पर यह समस्त जड़ जगत् उसका कार्य है। हम देखते हैं, यहां प्रत्येक वस्तु प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक विचार सुख-दुःख-मोहात्मक है, इसप्रकार जगत् त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है। इसमें लगातार होने वाले परिणाम को देखकर हम यह जान लेते हैं, कि इसका कोई त्रिगुणात्मक मूल उपादान अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कोई परिणामी तत्त्व अपने मूल उपादान के विना नहीं हो सकता, यह नियम है। इसप्रकार त्रिगुणात्मक कार्य जगत् से उसके मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति का अनुमान हो जाता है। फलतः केवल दृष्टिगोचर न होने से प्रकृति का अभाव नहीं माना जा सकता ॥७५॥

अनेक आशंकावादी मूल उपादान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पना कर सकते हैं। उस अवस्था में त्रिगुणात्मक प्रकृति के अस्तित्व का सिद्धान्त स्थिर नहीं रहता। इसी आशंका को सूत्रकार कहता है—

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥७६॥

[वादिविप्रतिपत्तेः] वादियों के विरुद्ध कथन से [तदसिद्धिः इति चेत्] (मूल उपादान) प्रकृति की असिद्धि कहो, यदि।

मूल उपादान के सम्बन्ध में वादी अनेक प्रकार के कथन उपस्थित कर सकते हैं। जैसे कोई चेतन ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति कहने लगे अथवा जगत् का

उपादान पुरुष को बताए। इसी प्रकार कोई स्वभाव को उपादान कहे। अन्य कोई अकारण ही जगत् को उत्पन्न हुआ मान ले। कोई सूक्ष्म भूतों को समस्त जगत् का उपादान बतलाये। इन सब मान्यताओं के रहने पर केवल प्रकृति को उपादान कैसे माना जा सकेगा ? इसप्रकार वादियों के द्वारा मूल उपादान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कल्पित वाद उपस्थित कर देने से प्रकृति की निर्भ्रान्त सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसी आशंका होने पर—॥७६॥

सूत्रकार अभ्युपगम रीति से परिहार करता है—

तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥७७॥

[तथापि] तो भी [एकतरदृष्ट्या] कार्यज्ञान द्वारा [एकतरसिद्धेः] कारण की सिद्धि से [अपलापः न] (प्रकृति का) अपलाप नहीं।

इन सब कथित कल्पनाओं के होने पर भी समस्त वादियों ने कार्यकारण-भाव को तो स्वीकार किया ही है। तब यह सिद्धान्त तो स्थिर माना जायेगा, कि एकतर-कार्य के देखने से, एकतर-कारण की सिद्धि होती है। इसप्रकार कार्य के देखे जाने से कारण के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वादी ने इस बात को निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया है कि कार्यमात्र का कोई मूल कारण अवश्य होता है ॥७७॥

वह मूल कारण प्रकृति ही क्यों सकता है, अन्य नहीं ? सूत्रकार बताता है—

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥७८॥

[त्रिविधविरोधापत्तेः] त्रिविधता के विरोध की आपत्ति से [च] तथा परिणामिता अचेतनता आदि के (विरोध की आपत्ति से)।

यदि त्रिगुणात्मक प्रकृति के अतिरिक्त, अन्य ईश्वर आदि को जगत् का मूल उपादान माना जाय, तो संसार में अनुभूयमान त्रिविधता के विरोध की प्राप्ति होगी। जगत् के प्रत्येक पदार्थ, व्यवहार तथा भावना में त्रिगुणात्मकता देखी जाती है। इससे त्रिगुणात्मक मूलकारण का अनुमान किया जा सकता है। ईश्वर आदि को मूल उपादान मानने पर जगत् की दृष्ट त्रिगुणात्मकता का विरोध होगा, क्योंकि ईश्वर आदि तत्त्व त्रिगुणात्मक नहीं हैं। यदि उनको भी त्रिगुणात्मक मान लिया जाए, तो शब्दमात्र का भेद होगा, मूल कारण तो त्रिगुणात्मक ही रहा। सूत्र का 'च' पद, प्रकृति के परिणामी अचेतन आदि स्वरूप का संग्रह करता है। ईश्वर आदि को जगत् का मूल उपादान मानने पर यथासंभव इसके परिणामित्व अचेतन-नत्व आदि का भी विरोध प्राप्त होगा। उस अवस्था में संसार परिणामी व अचेतन भी न हो सकेगा, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध है। इन सब कारणों से त्रि-गुणात्मक प्रकृति को ही जगत् का मूल उपादान स्वीकार किया जा सकता है ॥७८॥

कार्यकारणभाव के प्रसंग से सांख्य के अभिमत सिद्धान्त सत्कार्यवाद का प्रतिपादन सूत्रकार करता है—

नाऽसदुत्पादो नृशृङ्गवत् ॥७९॥

[न] नहीं [असदुत्पादः] असत् का उत्पाद [नृशृङ्गवत्] नरशृङ्ग के समान।

जैसे मनुष्य का सींग नहीं होता वैसे ही असत् का उत्पाद नहीं होता। जो वस्तु सर्वथा असत् है वह कभी अस्तित्व में नहीं आती। मनुष्य के सींग नहीं होता, वह न कभी हुआ, न आगे होगा। जिस वस्तु के सम्बन्ध में हम 'उत्पन्न होना' कहते हैं, वह अपनी उत्पत्ति से पहले सर्वथा असत् हो, ऐसा नहीं है। उसका अस्तित्व अपने कारण में बराबर रहता है। इसलिये प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले भी कारण रूप में सत् होता है। सर्वथा असत् की उत्पत्ति असंभव है ॥७९॥

इस स्थापना की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने चार अन्य हेतुओं का उपन्यास किया है। उनमें प्रथम है—

उपादाननियमात् ॥८०॥

[उपादाननियमात्] उपादान के नियम से।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारणों का नियम अथवा कारणों के उपादान-ग्रहण करने का नियम देखा जाता है। किसी विशेष कार्य के लिए किसी निश्चित कारण का ग्रहण होता है,चाहे जिस कार्य के लिए चाहे जिस उपादान का ग्रहण नहीं किया जाता। जैसे कपड़ा बनाने के लिए सूत का उपादान किया जाता मट्टी आदि का नहीं। पर घड़ा बनाने के लिए मट्टी का उपादान किया जाता है, और वह भी चाहे जैसी मट्टी का नहीं। इससे प्रतीत होता है, कि उत्पत्ति से पूर्व सूत में कपड़े का तथा मट्टी में घड़े का, किसी न किसी रूप में अस्तित्व विद्यमान रहता है। यदि इनका सर्वत्र समान रूप से उस अवस्था में अभाव हो, तो वह कपड़े का जैसा सूत में है, वैसा मट्टी में, तथा घड़े का जैसा मट्टी में है वैसा सूत में, फिर चाहे जिस कार्य को चाहे जिस कारण से उत्पत्ति हो जानी चाहिए। पर ऐसा संभव नहीं। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है, यह निश्चित होता है। इसी सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है ॥८०॥

उपादाननियम हेतु की पुष्टि के लिए सूत्रकार अगला सूत्र लिखता है—

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥८१॥

[सर्वत्र] सब स्थान (कारण) में [सर्वदा] सब काल में [सर्वासम्भवात्] सबका संभव (प्रादुर्भाव) न होने से।

सब कारणों में सब समय सब वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव होने से कार्य के प्रति उपादान का नियम आवश्यक है। यदि ऐसा नियम न माना जाए, तो

प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। पर ऐसा सम्भव नहीं। प्रत्युत जो जिसमें है, उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, कारण में उसका सद्भाव सर्वथा युक्तिसंगत है ॥८१॥

इस हेतु से भी सत् का ही उत्पाद होता है, असत् का नहीं—

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥८२॥

[शक्तस्य] शक्त का [शक्यकरणात्] शक्य के करने से।

कोई भी कारण किसी विशेष कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, कार्यमात्र को नहीं। जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, उसी को उत्पन्न कर सकता है। इसप्रकार कार्य-कारण का परस्पर सम्बन्ध है, जो उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप में कार्य का सद्भाव माने विना संभव नहीं। अथवा शक्त-सामर्थ्यवान् चतुर शिल्पी भी किसी शक्य कारण से ही कार्यविशेष का उत्पादन कर सकता है, अशक्य से नहीं। इससे प्रतीत होता है कि कार्यविशेष का उत्पाद, उसी कारण से हो सकता है जहां उसका सद्भाव है। अतः कार्योत्पाद से पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता का निश्चय होता है ॥८२॥

इस हेतु से भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अस्तित्व माना जाना चाहिए—

कारणभावाच्च ॥८३॥

[कारणभावात् च] और कारण में होने से।

कार्य का अस्तित्व कारण को छोड़कर अतिरिक्त-पृथक् नहीं होता। इसलिए कार्योत्पत्ति से पूर्व कारण अवस्था में कारणरूप से कार्य का अस्तित्व बना ही होता है। अतः सत्कार्य का उत्पाद मानना युक्तिसंगत है, असत् का नहीं। अथवा लोक में यह देखा जाता है कि जैसा कारण होता है, तद्रूप ही उसका कार्य होता है। जैसे—कोदों का कोदों, धान का धान, कचनार का कचनार और आम का आम। इससे कार्य की कारणरूपता का निश्चय होता है। इसप्रकार कार्य के अभिव्यक्ति में न आने पर भी कारणरूप में उसका अस्तित्व बना हुआ है, यह निश्चित होता है। अतएव असत्कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं ॥८३॥

सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार यदि कारण में कार्य विद्यमान है तो कार्य की उत्पत्ति कैसी? उस अवस्था में—कार्य उत्पन्न हो रहा है, अथवा उत्पन्न होगा, यह व्यवहार असंगत है। सूत्रकार इसी अर्थ को कहता है—

न भावे भावयोगश्चेत् ॥८४॥

[भावे] होने पर [भावयोगः] उत्पत्ति का योग [न] नहीं, [चेत्] यदि (कहो?)।

कारण में कार्य के अवस्थित रहने पर उसका उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध बताना ठीक नहीं। जब कार्य विद्यमान है तब उत्पत्ति कैसी? अविद्यमान की उत्पत्ति

मानी जा सकती है। इसलिए सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य के उत्पाद या विनाश का व्यवहार असंगत होगा। यदि कोई ऐसी आशंका करे, तो— ॥८४॥

सूत्रकार समाधान करता है—

न, अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ॥८५॥

[न] नहीं, [व्यवहाराव्यवहारौ] व्यवहार या अव्यवहार, [अभिव्यक्ति-निबन्धनौ] अभिव्यक्ति कारण से हैं।

उक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि किसी भी कार्य के उत्पाद अथवा अस्तित्व का व्यवहार या अव्यवहार उस कार्य की अभिव्यक्ति पर अवलम्बित है। यद्यपि कारणरूप में कार्य विद्यमान है परन्तु कार्यसम्बन्धी समस्त व्यवहार उसी समय सम्पन्न होता है जब कार्य अभिव्यक्त हो जाता है। यदि यह बात न हो और कारण अवस्था में समस्त कार्यव्यवहार सम्पन्न हो जाएं, तो प्रलय अवस्था में ही समस्त जगत् का व्यापार होता रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि उस समय कार्य की सत्ता नहीं तो व्यवहार कैसे हो जाएगा? ठीक है. पर कार्य की असत्ता का अभिप्राय यदि यही है कि कार्य अभी अपनी अभिव्यक्त अवस्था में नहीं है तो कोई आपत्ति नहीं। यदि असत्ता का अभिप्राय सर्वात्मना कार्य का अभाव है, तो वह कभी सद्भाव की अवस्था में आ नहीं सकता, फिर तो समस्त व्यवहार का सर्वथा विलोप हो जाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार की अवस्था केवल कार्य की अभिव्यक्त अवस्था है, और इसी के लिए कारणसामग्री का संग्रह तथा प्रयत्न अपेक्षित होता है ॥८५॥

भले ही उत्पत्ति से पहले कार्य सत् हो, पर अभिव्यक्ति के अनन्तर जब पुनः कार्य अनभिव्यक्त अवस्था में पहुंचता है, जिसे कार्य का ध्वंस कहा जाता है। क्या उस अवस्था में कार्य का सर्वात्मना नाश नहीं हो जाता? सूत्रकार बताता है—

नाशः कारणलयः ॥८६॥

[कारणलयः] कारण में लय [नाशः] नाश है।

किसी भी कार्य का अपने कारणों में लय हो जाना, छिप जाना ही नाश कहलाता है। वस्तुतः किसी कार्य-वस्तु का सर्वात्मना नाश या अभाव कभी नहीं होता। अभिव्यक्ति अवस्था में आने के अनन्तर जब वह अपने उस रूप का परित्याग करती है तब या तो उससे किसी कार्यान्तर की अभिव्यक्ति हो जाती है अन्यथा वह अपनी कारण अवस्था में चली जाती है। इसी स्थिति को हम उस कार्यवस्तु के नाश की स्थिति कहते हैं जबकि वह अपने किसी दूसरे रूप में अवस्थित रहती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की कारणरूप में सत्ता तथा अनभिव्यक्ति की अवस्था में कार्यरूप की असत्ता स्पष्ट होती है ॥८६॥

कार्य पर आधारित समस्त व्यवहार की प्रयोजक, कार्य की अभिव्यक्ति है। सत्कार्यवाद की दृष्टि से यह आशंका होती है, कि अभिव्यक्ति भी अपने अस्तित्व से पूर्व सत् है या असत् है ? यदि सत् है, तो कारणावस्था में भी कार्य की प्रतीति और उस पर आधारित समस्त व्यवहार होना चाहिए, जो अनुभव के विपरीत है। यदि असत् माना जाए, तो असत् से सद्रूप में आकर अभिव्यक्ति, सत्कार्य सिद्धान्त को असंगत ठहराती है। इस आशंका का समाधान सूत्रकार करता है—

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत् ॥८७॥

[पारम्पर्यतः] (अभिव्यक्ति की) पारम्पर्य से [अन्वेषणा] अन्वेषणा (विवेचना करनी चाहिए), [बीजांकुरवत्] बीज-अंकुर के समान।

किसी भी कार्य की अभिव्यक्ति की विवेचना, परम्परा के आधार पर की जानी चाहिए। अभिव्यक्ति के अनन्तर अनभिव्यक्ति और उसके अनन्तर पुनः अभिव्यक्ति, इनका यही क्रम बराबर चला करता है। जब एक कार्य की अभिव्यक्ति हुई है, तब हमें सोचना है, कि क्या इसी अवस्था में हमें उसकी पुनः अभिव्यक्ति की आवश्यकता है ? उत्तर स्पष्ट है कि उसकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि किसी भी कारण वस्तु के कार्यरूप में परिणत होने के अतिरिक्त अभिव्यक्ति कोई अपना अस्तित्व नहीं रखती। जब कोई वस्तु कार्यरूप में परिणत हो चुकी है तब उसी अवस्था में रहते हुए उसी रूप में पुनः परिणत होने का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए जब कार्य, कारणरूप में अवस्थित है, अभिव्यक्ति के कार्य-रूप होने से वह भी उसी तरह कारणरूप में अवस्थित है, यही कहना होगा। अभिव्यक्ति की पुनः अभिव्यक्ति का उसी समय प्रश्न उपस्थित होता है, जब पहली अभिव्यक्ति की अवस्था अनभिव्यक्ति की अवस्था में परिणत हो चुकी हो। जिस प्रकार बीज से सीधा बीज नहीं होता, और न अंकुर से सीधा अंकुर होता है, प्रत्युत उनमें एक परम्परा, एक व्यवस्थित क्रम देखा जाता है, बीज से अंकुर होता है और अंकुर से बीज होता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है। इसी प्रकार अभिव्यक्ति में समझना चाहिए। अतः कार्य-रूप में परिणत होने से पूर्व अभिव्यक्ति का अस्तित्व कारणरूप से विद्यमान रहता है, जो उसकी अनभिव्यक्तिरूप अवस्था है। फलतः उपर्युक्त आशंका का अवकाश नहीं ॥८७॥

उसी आशंका का समाधान सूत्रकार प्रकारान्तर से करता है—

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥८८॥

[वा] अथवा [उत्पत्तिवत्] उत्पत्ति के समान, [अदोषः] दोष नहीं।

ब कोई भी वस्तु अपने कारणरूप से परिणत होकर कार्यरूप में आती है, तब उस अवस्था को हम 'उत्पत्ति' पद से कहें अथवा 'अभिव्यक्ति' पद से इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर केवल इतना है, कि जब हम 'उत्पत्ति' पद का

प्रयोग करते हैं, तो उसमें यह भावना रहती है, कि यह कार्य इस अवस्था में आने से पूर्व सर्वात्मना असत् था। परन्तु 'अभिव्यक्ति' में यह भावना नहीं रहती। तब उस कार्य की कारणरूप में सत्ता स्वीकार की जाती है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् है, अथवा असत् है, इसकी वास्तविकता को तो हेत्वन्तरों से जाना जा सकता है, और इसकी सिद्धि के लिए 'उपादाननियम' आदि हेतुओं का निर्देश कर दिया गया है। पर प्रश्न यह है, कि जब कार्य की उत्पत्ति हो गई है, तब पुनः उसी रूप में उसी कार्य की उत्पत्ति की आवश्यकता है या नही ? उत्तर निश्चित है, कि आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार कार्य की 'अभिव्यक्ति' कहने पर वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। एक बार अभिव्यक्ति होने पर उसी अवस्था में उसी रूप में पुनः उसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए उत्पत्ति के समान अभिव्यक्ति में भी कोई दोष नहीं।

असत्कार्यवाद में वस्तु की उत्पत्ति के पहले और वस्तु के बिगड़ जाने के बाद की अवस्थाओं को उस वस्तु का प्रागभाव तथा प्रध्वंस कहा जाता है, और इन अवस्थाओं में कार्य की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। परन्तु सत्कार्यवाद में इन अवस्थाओं को यथाक्रम अनागत और अतीत नाम दिया गया है, तथा इन अवस्थाओं में भी कार्य की सत्ता कारणरूप में स्वीकार की गई है। यही दोनों वादों का अन्तर है। यद्यपि असत्कार्यवाद में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की बुद्धि-सिद्ध [बुद्धि-सिद्धन्तु तदसत्, न्याय० ४।१।५०] सत्ता स्वीकार की गई है। इसका अभिप्राय है कि जब किसी उपादान से कोई कार्य उत्पन्न किये जाने को होता है, तब उसका शिल्पी पहले से इस बात को जानता है, कि इस कारणसामग्री से इस ढंग का इस आकार प्रकार का कार्य उत्पन्न होना है। कार्य की यह जानकारी कारणसामग्री में उस कार्य की बुद्धि-सिद्धसत्ता कही जाती है ॥८८॥

कार्य से कारण का अनुमान होता है, यह पहले कहा जा चुका है। अब प्रसंगागत कार्य का स्वरूप बताया जाता है। कार्य-मात्र में ये सब धर्म रहने से उनका यह साधर्म्य भी होगा। कार्य का स्वरूप सूत्रकार बताता है—

हेतुमदनित्यं[1] सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥८९॥

१— विज्ञानभिक्षु ने 'अनित्यं' पद के आगे 'अव्यापि' पद और जोड़कर उसका भी व्याख्यान किया है। सूत्र में 'अव्यापि' पद का समावेश सांख्यसप्तति की दसवीं आर्या के पाठ के आधार पर कर दिया गया प्रतीत होता है। क्योंकि विज्ञानभिक्षु से प्राचीन व्याख्याकार अनिरुद्ध के पाठ में यह पद नहीं है, और उसका व्याख्यान भी नहीं किया गया। इसीप्रकार अन्य कतिपय सूत्रों में भी पाठ का विपर्यय देखा जाता है। इसके लिये एक उदाहरण '२।३१' का दिया जासकता है।

[हेतुमत्] हेतुमत्, [अनित्यं] अनित्य, [सक्रियं] सक्रिय, [अनेकं] अनेक, [आश्रितं] आश्रित, [लिङ्गं] लिङ्ग (कार्य) है।

प्रत्येक हेतुमान् पदार्थ कार्य होता है। हेतुमान् का अर्थ है जो किसी कारण से उत्पन्न हुआ हो, अनित्य विनाशशील हो, सक्रिय-क्रियावान् हो, जिसमें गति आगति आदि क्रिया होती रहती हों। अनेक-विविधरूप हो। यद्यपि मूलकारण प्रकृति में भी अनेक सत्त्व, अनेक रजस् तथा अनेक तमस् हैं, वे स्वरूप से अनन्त हैं, तथापि उस समय साम्य अवस्था में रहने से वैषम्यजनित विविधता का वहां अभाव रहता है। सूत्र में 'अनेक' पद से जगत् में अनुभूयमान विविधता का ग्रहण किया जाना संगत होगा, जो अव्यक्त अवस्था में नहीं है। आश्रित-कारण के सहारे पर रहना, प्रत्येक कार्य अपने कारण में आश्रित रहता है। लिङ्ग जो अपने कारण में लय भाव को प्राप्त हो जाता है। अथवा जो लीन-अन्तर्हित, छिपे हुए अतीन्द्रिय कारण का बोध कराता है। कार्य से अतीन्द्रिय कारण का अनुमान होता है यह सिद्धान्त अनेकत्र प्रतिपादित किया जा चुका है। हेतुमत्, अनित्य, क्रियावत्, अनेक, आश्रित और लिङ्ग यह कार्य का स्वरूप है, कोई कार्यहो, उसमें हेतुमत्त्व आदि धर्म अवश्य पाये जाते हैं, अतएव ये कार्यमात्र के साधर्म्य हैं। मूलकारण अव्यक्त में हेतुमत्त्व आदि धर्म नहीं रहते, इसलिए कार्य के साथ मूल प्रकृति का यह वैधर्म्य समझना चाहिए ॥८६॥

सत्कार्य सिद्धान्त में कार्य को कारण का स्वरूप माना जाता है। ऐसी स्थिति में 'हेतुमत्त्व' आदि को कार्य का स्वरूप या लक्षण कहना संगत न होगा। यह कथन उसी समय ठीक माना जा सकता है, जब कार्य और कारण का परस्पर भेद माना जाय। तभी हम कार्य को हेतुमत् और कारण को अहेतुमत् कह सकेंगे। दोनों के अभेद में यह बात बन नहीं सकती। यदि सर्वात्मना भेद मानें, तो सत्कार्य सिद्धान्त की हानि होती है, यदि सर्वात्मना अभेद माना जाए तो कार्य की हेतुमत्ता आदि विशेषताओं का कहना असगत होगा। इसलिए सांख्य कार्य-कारण में भेदाभेद की स्थिति को स्वीकार करता है। प्रत्येक कार्य अपनी अनागत अवस्था में कारणरूप से विद्यमान रहता है। इसप्रकार कार्य, कारण से अभिन्न है, पर जब वही कारण परिणत होकर कार्य रूप में प्रकट होता है, तब वह कार्यरूप में अवस्थित है, इसप्रकार कार्यात्मना वह कारण से भिन्न कहा जाता है। इस समय भी कारण का अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाए तो कार्य अनाश्रित हो जाएगा और अपने अस्तित्व को खो बैठेगा। वस्तुतः कारण का कार्यरूप में परिणत होना, वस्तु की अवस्था में परिवर्त्तन लाता है। कार्य रूप से वस्तु की अनागत अवस्था वर्त्तमान हो जाती है। वस्तु की सत्ता बराबर बनी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु कारणरूप से कारण के साथ अभेद रखती है और

कार्यरूप से भेद रखती है। इसी आधार पर कार्य की हेतुमत्ता आदि विशेषताओं का वर्णन संगत होगा। कार्य-कारण के भेदाभेद को सूत्रकार अग्रिम सूत्र से सिद्ध करता है—

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥६०॥

[आञ्जस्यात्] आञ्जस्य (प्रत्यक्ष) से [वा] अथवा [गुणसामान्यादेः] गुणसामान्य आदि के [अभेदतः] अभेद से, [वा] अथवा [प्रधानव्यपदेशात्] प्रधान व्यपदेश से [तत्सिद्धिः] उस (कार्यभेद) की सिद्धि है।

इस सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण के द्वारा उक्त अर्थ को सिद्ध किया है। यहाँ तीनों प्रमाणों का समुच्चय न समझना चाहिए। प्रत्युत कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अनुमान से इस अर्थ की सिद्धि होती है, तथा शब्द प्रमाण द्वारा उसी अर्थ को पुष्ट किया गया है। आञ्जस्य-प्रत्यक्ष से कार्य-कारण के भेदाभेद की सिद्धि होती है। सत्कार्यवाद को पहले सिद्ध किया जा चुका है, उसके आधार पर कार्य-कारण का अभेद तो सिद्ध ही है, इस सूत्र में भेद को सिद्ध करने के लिए विशेष यत्न है। 'अञ्जसा' पद से तद्धित प्रत्यय करके 'आञ्जस्य' बना है। इसका अर्थ होता है—अनायास होने वाला। जिसके सम्पन्न होने में अधिक यत्न न करना पड़े। प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रमाण है, इसलिए यह पद यहां प्रत्यक्ष प्रमाण का द्योतक है। प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य-कारण का भेद सिद्ध होता है। मट्टी कारण और घड़ा कार्य है, यद्यपि घड़ा मट्टी का रूप है पर साधारण मट्टी से उसका आकार प्रकार हम कुछ विशेष देखते हैं। यह भेद प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी तरह सूत और कपड़ा, सोना और कुण्डल, पहला कारण और दूसरा कार्य, इनमें भेद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह नियम प्रत्येक कार्य-कारण में लागू है।

जहां हम प्रत्यक्ष से इस स्थिति का अनुभव नहीं कर सकते, वहां अनुमान से इसकी सिद्धि होती है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा—वा गुणसामान्यादेर-भेदतः। अथवा गुणसामान्य आदि के अभेद से कार्य-कारण का भेद प्रतीत होता है। बुद्धि में अध्यवसाय गुण है और यह सामान्यरूप से समस्त बुद्धियों में है। इस-प्रकार अध्यवसायरूप गुणसामान्य का अभेद अर्थात् एकरूपता समस्त बुद्धियों में देखी जाती है। पर यह बुद्धिमात्र का ही स्वरूप है, कारण प्रकृति का नहीं, इसलिए अध्यवसाय रूप में बुद्धि का—उसके कारण प्रकृति से—भेद सिद्ध होता है। इसी-प्रकार सूत्रगत 'आदि' पद से अन्य गुणसामान्य की एकरूपता का संग्रह हो जाता है। अहंवृत्तिरूप सामान्यधर्म की समस्त अहंकारों में एकरूप अवस्थिति देखी जाती है। अहंकार के कारणभूत बुद्धि में यह नहीं है, अतएव अहंकार कार्य का—अपने कारण बुद्धि से—भेद सिद्ध होता में। घट कार्य में जलाहरण आदि गुण सामान्यरूप से देखे जाते हैं, पर यह सब मट्टी में नहीं, इसलिए कारण मट्टी से घटरूप कार्य का

भेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य-कारण में समझना चाहिए।

कार्यकारण के भेद की पुष्टि शब्द प्रमाण से भी होती है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा—प्रधानव्यपदेशाद्वा। जगत् के मूल कारण प्रधान—जिसमें समस्त जगत् प्रलय के समय लीन-अन्तर्हित हो जाता है—का जगत् से पृथक् रूप में व्यप-देश-वर्णन होने से। शास्त्र में जगत् के मूलकारण प्रधान और उसके कार्य का पृथक् रूप में वर्णन किया गया उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त [१०।१२९।२] में प्रलय काल का वर्णन करते हुए उस समय समस्त स्थूल सूक्ष्म भूतों और दिन रात के चिन्ह सूर्य आदि का अभाव बतलाया है, पर उनके मूल कारण स्वधा के अस्तित्व को उस समय स्वीकार किया गया है। वेद के अनेक स्थलों में 'स्वधा' प्रकृति का नाम है। इससे मूलकारण प्रकृति और उसके कार्य का परस्पर भेद स्पष्ट होता है। इसी तरह के अन्य अनेक वर्णन शास्त्रों में पाये जाते हैं। फलतः कारण का भेद सिद्ध हो जाने पर कार्य का हेतुमत्त्व आदि स्वरूप—जो पूर्व सूत्र में प्रतिपादित किया गया है—सर्वथा संगत माना जाना चाहिए। भेदमूलक कार्य-रूप, तथा अभेद मूलक सत्कार्यवाद को सांख्य में स्वीकार किया गया है। इसप्रकार कार्यकारण का भेदाभेद अभिमत पक्ष है ।।९०।।

अब मूल कारण और कार्य दोनों में रहने वाले धर्मों का सूत्रकार निर्देश करता है—

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ।।९१।।

[द्वयोः] दोनों (कार्य-कारण) में [त्रिगुणाचेतनत्वादि] त्रिगुणत्व अचेत-नत्व आदि (धर्म) हैं।

कारण और कार्य दोनों का त्रिगुणत्व अचेतनत्व आदि साधर्म्य है। आदि पद से अविवेकित्व विषयत्व परिणामित्व तथा अन्य समस्त प्राकृत धर्मों का संग्रह हो जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अचेतन है, अविवेकी है, विषय है, परिणामी है, उसके समस्त कार्य भी त्रिगुणात्मक तथा अचेतनरूप आदि हैं। इसप्रकार त्रि-गुणत्व आदि, मूलकारण और उसके कार्य दोनों के साधर्म्य हैं। इसीलिये ये सब चेतन के वैधर्म्य हैं, अर्थात् त्रिगुणत्व अचेतनत्व आदि, चेतन में नहीं रहते। पर एक दो धर्म जीवात्म-चेतन में पाये जाते हैं—सक्रियत्व और अनेकत्व। समस्त आध्या-त्मिक साहित्य में जीवात्मा की गति आगति का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। इसलिए प्रत्येक जीवात्मा सक्रिय माना गया है। जीवात्माओं की अनेकता भी अनेक हेतुओं से सिद्ध है। इसका प्रतिपादन सूत्रकार ने अन्यत्र [१।११४-११९] किया है। पर जीवात्माओं की अनेकता में विविधरूपता की भावना नहीं है। आत्मा व्यक्ति-रूप से अनेक हैं, उन सब का स्वरूप एकसमान है ।।९१।।

प्रकृति सत्त्व रजस् तमस् रूप है, उसके साधर्म्य का कथन कर सूत्रकार सत्त्व

आदि के स्वरूप का निरूपण करता है—

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ॥६२॥

[गुणानां] गुणों का [प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः] प्रीति, अप्रीति, विषाद आदि द्वारा [अन्योऽन्यं] परस्पर [वैधर्म्यं] वैधर्म्य है।

सत्त्व-रजस्-तमस् ये तीनों यथाक्रम प्रीति, अप्रीति, और विषादस्वरूप हैं। सूत्रगत 'आद्य' पद, सत्त्व आदि के प्रीति आदि स्वरूप की मुख्यता का संकेत करता है। मुख्यतया सत्त्व प्रीतिस्वरूप, रजस् अप्रीतिस्वरूप तथा तमस् विषादस्वरूप है। प्रीति आदि की मुख्यता के कथन से सत्त्व आदि की अन्य समस्त विशेषताओं का प्रतिपादन हो जाता है, जिनमें प्रीति आदि को मुख्य बताया गया है। और सूक्ष्मता से विचारें तो मुख्यता के कथन में वास्तविक भावना यही है, कि प्रीति आदि में सत्त्व आदि की अन्य समस्त विशेषताओं का समावेश है। सत्त्व की अन्य विशेषता प्रसाद लाघव अनभिरति तितिक्षा संतोष सुख आदि हैं, रजस् की शोक तृष्णा ईर्ष्या दुःख आदि, तथा तमस् की निद्रा प्रमाद मोह आदि हैं। प्रीति सत्त्व का स्वरूप है, रजस् तमस् का नहीं। अप्रीति रजस् का स्वरूप है, सत्त्व तमस् का नहीं, इसी प्रकार विषाद तमस् का स्वरूप है, सत्त्व रजस् का नहीं। अतएव प्रीति आदि को सत्त्व आदि में से परस्पर एक दूसरे का वैधर्म्य कहा गया है।

जगत् के मूल उपादान तत्त्व का स्वरूप, प्रीति आदि पदों से किस प्रकार प्रकट होता है, यह एक विशेष ज्ञातव्य बात है। इन पदों के साधारण अर्थ की उपयोगिता केवल उस समय सन्मुख आती है, जब हम मानव अमानव प्राणी समाज का सत्त्व आदि गुणों के आधार पर विश्लेषण करना चाहते हैं। उन विशेषताओं के सम्बन्ध में भी यही स्थिति समझनी चाहिये, जिनका 'आद्य' पद से संग्रह किया गया है। पर सत्त्व आदि तत्त्वों की मूल स्थिति अथवा मूल स्वरूप का कैसे प्रकाशन होता है, यह एक विचारणीय बात है। यदि हम प्रीति आदि पदों के साधारण अर्थ का सीधा सम्बन्ध सत्त्व आदि के साथ न जोड़कर यहां तक सोचें, कि मूलतत्त्व की वास्तविकता को प्रकट करने के लिये प्रीति आदि पदों का प्रयोग, एक विशेष भावना के आधार पर किया गया है, तो कदाचित् हमें उस स्वरूप को समझने में अवश्य सुविधा होगी। वह भावना क्या है, इसे समझने के लिये आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान द्वारा प्रदर्शित मूल तत्त्वों के विश्लेषण की ओर हमें थोड़ा ध्यान देना होगा। जगत् के मूलतत्त्व अणु-प्रोटोन्, इलेक्ट्रॉन्, न्यूट्रॉन् हैं। ये एक प्रकार के विद्युत्कण अथवा विद्युत्तरंग के रूप में समझे जाते हैं। अणु की रचना बहुत रहस्यपूर्ण है, यह स्वयं अपने में एक संसार है। इसमें प्रोटोन् के चारों ओर इलेक्ट्रॉन् तीव्र गति के साथ घूमते रहते हैं। प्रोटोन् अपनी ओर को दूसरे तत्त्व को आकृष्ट करता है, दूसरा अलग को भागना चाहता है, पर पहले का आकर्षण उसे दूर

भागने नहीं देता। इसका परिणाम यह निकलता है कि दूसरा [इलेक्ट्रॉन्] पहले [प्रोटोन्] के चारों ओर तीव्र गति के साथ चक्कर काटता रहता है। इन दोनों के इस चुम्बकीय आकर्षणानुकर्षण का आधार तीसरा तत्त्व रहता है। वह निष्क्रिय के समान वहां पड़ा रहता है, जिसके सहारे पर पूर्वोक्त दोनों अपनी क्रीड़ा में रत रहते हैं।

यद्यपि सत्त्व आदि के साथ इनका सन्तुलन करना कदाचित् पूर्ण एवं व्यवस्थित नहीं कहा जायगा। निश्चित ही सत्त्व आदि की स्थिति और भी मूल की ओर है, तथा वर्तमान विज्ञान के आधार पर विश्लेषित अणु, सांख्य के 'तन्मात्र' तत्त्व के परिणामरूप सूक्ष्म तत्त्वकणों के स्थान पर हों, ऐसा संभव है, फिर भी सत्त्व आदि के साथ पूर्वोक्त विश्लेषण का सन्तुलन, कपिल की अन्तर्भावना को समझने में सहायक हो सकता है। यदि हम प्रोटोन् को सत्त्व, इलैक्ट्रॉन् को रजस् और न्यूट्रॉन को तमस् की तुलना में रखते हैं, तो सत्त्व आदि के प्रीति आदि स्वरूप का स्पष्टीकरण हमारे सन्मुख हो जाता है। सत्त्व, रजस् को अपनी ओर आकृष्ट करता है, यही सत्त्व का प्रीतिस्वरूप है। तथा रजस्, सत्त्व से दूर भागना चाहता है, यही रजस् का अप्रीतिस्वरूप है। सत्त्व अपने प्रीतिस्वरूप आकर्षण से उसे दूर नहीं हटने देता, फलतः रजस् तीव्र गति से उसके चारों ओर चक्कर काटता रहता है। फिर भी वह उसमें अपने आपको समाविष्ट नहीं होने देता, उसके साथ, पर पृथक् रूप में अवस्थित रहता है, इसप्रकार उसका अप्रीतिस्वरूप बराबर बना रहता है। सांख्य में रजस् को इसी कारण चल-स्वभाव कहा गया है। तमस् उनके आधाररूप में वहां निष्क्रिय सा पड़ा रहता है, यही उसका विषादस्वरूप है। इसे पहले दोनों का भारवाही समझना चाहिये। इसप्रकार कपिल ने 'प्रीति' आदि पदों के द्वारा 'सत्त्व' आदि मूल तत्त्वों के स्वरूप का जो संकेत किया है, उसमें एक गम्भीर भावना निहित है, जो मूल तत्त्वों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के 'प्रकृति' नामक प्रकरण के अन्तर्गत 'प्रकृति-स्वरूप' प्रसंग में किया गया है ॥९२॥

सत्त्व आदि तत्त्वों के प्रीति आदि स्वरूप तथा 'आद्य' पद-संगृहीत लघुत्व आदि धर्मों का निर्देश कर सूत्रकार उन्हीं धर्मों के आधार पर गुणों का स्पष्ट रूप में साधर्म्य बतलाता है—

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥९३॥

[लघ्वादिधर्मैः] लघु आदि धर्मों द्वारा [गुणानां] गुणों का [साधर्म्यं] साधर्म्य [च] और [वैधर्म्यं] वैधर्म्य है।

समस्त सत्त्व, लघुत्व आदि धर्मों से युक्त होने के कारण एकसमान हैं। इसलिए लघुत्व आदि धर्म उनके साधर्म्य हैं और रजस् तमस् के वैधर्म्य हैं। इसी

प्रकार चलत्व आदि, रजस् तत्त्वों के साधर्म्य हैं और सत्त्व तमस् के वैधर्म्य हैं, तथा गुरुत्व आदि, समस्त तमस् तत्त्वों के साधर्म्य हैं और सत्त्व रजस् के वैधर्म्य हैं। परमर्षि कपिल ने इस सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति एक व्यक्ति-रूप तत्त्व नहीं है। सत्त्व, रजस्, तमस का नाम प्रकृति है। उनमें प्रत्येक अनन्त-रूप है, इसालिए उनमें साधर्म्य का कथन संगत हो सकता है। यदि सत्त्व एक-व्यक्तिरूप हो, तो वहां साधर्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता ॥६३॥

हेतुमत्त्व आदि, समस्त कार्य के साधर्म्य बतलाये गये। पर महत् आदि तत्त्व कार्य हैं, इसमें प्रमाण क्या? सूत्रकार इनकी कार्यता में प्रमाण उपस्थित करता है—

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥६४॥

[उभयान्यत्वात्] दोनों (पुरुष-प्रकृति) से अन्य होने के कारण, [महदादेः] महत् आदि का [कार्यत्वं] कार्य होना स्पष्ट है, [घटादिवत्] घटादि के समान।

मूल में चेतन और अचेतन दो तत्त्वों का स्वीकार किया गया है। चेतन अधिष्ठाता पुरुष हैं और अचेतन है जगत् का उपादान प्रकृति। परन्तु इनका कोई अन्य उपादान नहीं होता, इसलिए ये नित्य हैं, किसी का कार्य नहीं। महत् आदि पदार्थ इन दोनों से भिन्न हैं, न वे पुरुष हैं, और न मूल प्रकृति। दोनों से भिन्न होने के कारण यह स्पष्ट होता है कि महत् आदि पदार्थ कार्य हैं, जैसे कि प्रत्यक्ष से दृश्यमान घट आदि पदार्थ कार्य हैं। इस सूत्र में महत् आदि कार्य को उसके कारण—प्रकृति से भिन्न बताना यह स्पष्ट करता है, कि कपिल कार्यरूप से कार्य-कारण में भेद मानता है। जैसा कि पहले ६० वें सूत्रमें प्रतिपादन किया गयाहै ॥६४॥

महत् आदि के कार्य होने में सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करता है—

परिमाणात् ॥६५॥

[परिमाणात्] परिमाण से।

परिमित होने से महत् आदि कार्य हैं, यह निश्चित होता है। जैसे समस्त संसार घटमय नहीं है। घट की इयत्ता का हम ग्रहण करते हैं, वह कार्य है। इसी प्रकार महत् का क्षेत्र सीमित है, विश्व में उसका अस्तित्व सर्वत्र नहीं पाया जाता, अतः परिमित होने से उसे कार्य माना जाना चाहिये ॥६५॥

इसी प्रसंग में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

समन्वयात् ॥६६॥

[समन्वयात्] समन्वय से।

भिन्न पदार्थों का समानरूप होना समन्वय कहा जाता है। जैसे व्यक्तिरूप से प्रत्येक घट भिन्न-भिन्न हैं, पर मृत्तिकारूप से सब में समानता है। इससे प्रतीत

होता है, कि ये सब मृद्विकार हैं। इसी प्रकार कुण्डल रुचक कटक आदि आभूषण परस्पर भिन्न हैं, पर सुवर्णरूप से सब में समानता पाई जाती है। इस समन्वय से कुण्डल आदि सब सुवर्ण के विकार हैं, यह निश्चय होता है। अध्यवसायस्वरूप बुद्धि अर्थात् महत्, भिन्न व्यक्ति होने पर भी सुख-दुःख-मोहरूपता सब में समान पाई जाती है, इससे ज्ञात होता है, कि समस्त महत् सुख-दुःख-मोहरूप त्रिगुण के विकार हैं। विकार होने से महत् आदि का कार्य होना निश्चित है ॥ ६६ ॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिये सूत्रकार एक और हेतु उपस्थित करता है—

शक्तितश्चेति ॥६७॥

[च] और [शक्तितः] शक्ति से (महत् आदि कार्य हैं)।

शक्ति पद का अर्थ साधन और योग्यता दोनों हैं। महत् जीवात्मा के लिये प्रत्येक भोग आदि उपस्थित करने में मुख्य साधन अर्थात् करण है, जैसे चक्षु आदि करण कार्य हैं, इसी प्रकार महत् भी कार्य है। अथवा प्रत्येक कार्य अपने योग्य कारण से उत्पन्न होता है। तिलों से तेल होता है, रेत बालू से नहीं, जैसे तिलों में तेल उत्पन्न करने की योग्यता है, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक महत्, सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति से उत्पन्न होता है, अतः वह कार्य है यह निश्चित होता है। सूत्र में 'इति' पद का निर्देश इस हेतु-परम्परा की समाप्ति का द्योतक है ॥६७॥

महत् आदि की कार्यता पर सूत्रकार प्रकारान्तर से प्रकाश डालता है—

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥६८॥

[तद्धाने] उसके हान (न मानने) में [प्रकृतिः] (वह) प्रकृति है [पुरुषः वा] अथवा पुरुष।

महत् आदि को कार्य न माने जाने की अवस्था में, उन्हें या तो प्रकृति माना जा सकता है, या पुरुष। क्योंकि अकार्यरूप ये दो ही तत्त्व हैं। यदि महत् आदि अकार्य होने पर परिणामी तत्त्व हैं, तो वे प्रकृति हो सकते हैं, यदि अपरिणामी हैं, तो पुरुष होंगे। पर मूल उपादान प्रकृति की जो स्थिति है, वह महत् आदि की नहीं, इसलिए उन्हें मूल प्रकृति कहना कठिन है। पुरुष भी उन्हें नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुरुष चेतन और महत् आदि समस्त तत्त्व अचेतन हैं। इसलिए उन्हें प्रकृति अथवा पुरुष नहीं माना जा सकता। इन दोनों से अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, सब अनित्य हैं। फलतः महत् आदि पदार्थ अनित्य अर्थात् कार्य हैं यह निश्चित होता है॥६८॥

तब अकार्य मानते हुए उन्हें प्रकृति-पुरुष से अतिरिक्त मानना चाहिये। सूत्रकार कहता है—

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥६६॥

[तयोः] उनसे [अन्यत्वे] अन्य होने पर [तुच्छत्वं] तुच्छ है।

अकार्यरूप में प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अभाव ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि मूलरूप में चेतन और अचेतन अर्थात् पुरुष और प्रकृति के विना अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व संभव नहीं। पर महत् आदि के अस्तित्व का अनुभव किया जाता है। फलतः इनको कार्य ही माना जा सकता है, अन्य कुछ नहीं ॥६६॥

महत् आदि की कार्यता निश्चित हो जाने पर उनके पूर्वोक्त हेतुमत्त्व आदि साधर्म्य सर्वथा युक्त हैं। महत् आदि के हेतुमत् होने पर अब निर्बाधरूप से उनके उपादान हेतु का अनुमान किया जा सकता है। इसी आशय से सूत्रकार अब कार्य द्वारा मूलकारण के अनुमान का प्रसंग प्रारम्भ करता है—

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥१००॥

[तत्साहित्यात्] उस (कार्य) के (कारण में) समावेश से, [कार्यात्] कार्य से [कारणानुमानं] कारण का अनुमान होता है।

अड़सठवें सूत्र में सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा पुरुष और प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने का उल्लेख किया गया है। पर सामान्यतोदृष्ट अनुमान का ऐसे स्थलों में भी प्रयोग होता है, जहां साध्य और साधन का परस्पर कार्य-कारणभाव अथवा उपादानोपादेयभाव नहीं होता; जैसे प्रकृति अथवा प्राकृत पदार्थों की परार्थता से चेतन आत्मा का अनुमान किया जाता है। क्या महत् आदि से प्रकृति का सामान्यतोदृष्ट अनुमान इसी तरह का है? प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार का कहना है कि यह अनुमान ऐसा नहीं, जहां साध्य-साधन का परस्पर कार्यकारणभाव न हो। क्योंकि महत् आदि की कार्यता अभी विस्तारपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है। इसलिए यहां कार्यसाहित्य हेतु से, महदादि कार्य से उसके उपादानभूत प्रकृति का अनुमान होता है।

सूत्र के 'तत्साहित्य' हेतु में यह भाव अन्तर्निहित है। लोक में देखा जाता है—मृद्विकार घट गृह आदि का मट्टी में तथा सुवर्णविकार कुण्डल रुचक आदि का सुवर्ण में लय हो जाता है। मृत् या सुवर्ण इन कार्यों के कारण हैं। इसप्रकार समस्त स्थूल भूतों का लय उनके कारण-सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्रों में हो जाता है। तन्मात्र और समस्त बाह्य तथा आन्तर इन्द्रियों का लय अहंकार में हो जाता है। अहंकार इन सबका कारण है। अहंकार का लय महत् में हो जाता है, इसप्रकार यह अपने कारण महत् को सिद्ध करता है। इन समस्त कार्यों को अपने अन्दर समेटता हुआ महत् कार्य अपने मूल उपादान प्रकृति में लीन होकर उसकी कारणता को सिद्ध करता है। इसप्रकार कार्य की अपने कारण में लीन होने की परम्परा 'कार्यसाहित्य' है। इससे महदादि कार्य मूलप्रकृति के अनुमापक होते हैं ॥१००॥

महत् एक अन्य प्रकार से भी प्रकृति का अनुमापक है, इस आशय से सूत्र-

कार ने कहा—

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ।।१०१।।

[त्रिगुणाल्लिङ्गात्] त्रिगुण लिंग (महत्) से [अव्यक्तं] अव्यक्त (प्रकृति का अनुमान होता) है।

कार्य के कारण में लय होने की परम्परा से महत् सर्वापेक्षया अन्तिम कार्य है। जब हम इसकी रचना की ओर ध्यान देते हैं, तो हमें इसकी सुख-दुःख-मोहात्मकता का निश्चय होता है। सुख दुःख और मोह, सत्त्व रजस् तमस् के परिणाम हैं। समस्त व्यक्त जगत् अपने कारण में लय होते-होते महत् में अन्तर्हित हो जाता है। लय परम्परा में यह अन्तिम व्यक्त तत्त्व है। यह त्रिगुणात्मक व्यक्त, अपने मूल उपादान त्रिगुणात्मक अव्यक्त तत्त्व का अनुमान कराता है। जो मूल कारण होगा, वह निश्चित रूप से अव्यक्त होगा। यदि उसे व्यक्त कहा जाय, तो वह मूल कारण नहीं माना जा सकता। कार्यरूप में परिणत होना व्यक्त का स्वरूप है। इसी आशय को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से कहा, कि त्रिगुणात्मक लिङ्ग अर्थात् महत्तत्त्व से अव्यक्त-प्रकृति का अनुमान होता है ।।१०१।।

इसप्रकार सामान्योदृष्ट अनुमान से प्रकृति की सिद्धि होने पर उसको अभावरूप बतलाना अथवा उसकी उपेक्षा किया जाना संभव नहीं। इस आशय से सूत्रकार ने कहा—

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ।।१०२।।

[तत्कार्यतः] उसके कार्यों से [तत्सिद्धेः] उसकी सिद्धि होने के कारण [न अपलापः] अपलाप नहीं।

प्रकृति के कार्य महत् आदि के द्वारा प्रकृति की सिद्धि हो जाने से उसका अपलाप नहीं किया जासकता। प्रकृति के अभावरूप अथवा किसी अन्य रूप की कल्पना करना अप्रामाणिक होगा। यहां तक प्रकृति सम्बन्धी विवेचन पूरा हुआ। अब पुरुष के सम्बन्ध में विचार किया जाता है ।।१०२।।

प्रकृति एक ऐसा तत्त्व है, जो अदृश्य एवं अतीन्द्रिय होने के कारण विवाद का विषय बन सकता है। पर स्वयं अनुभूयमान आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं है। इस आशय से सूत्रकार ने कहा—

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ।।१०३।।

[सामान्येन] साधारण रूप से [विवादाभावात्] विवाद न होने के कारण [न साधनम्] (विशेष) साधन (अपेक्षित) नहीं, [धर्मवत्] धर्म के समान।

चेतन आत्मा के सम्बन्ध में साधारण रूप से कोई विवाद प्रस्तुत नहीं किया जाता। क्योंकि प्रत्येक चेतन व्यक्ति 'मैं हूं' इस रूप में आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता है। इसलिए उसके अस्तित्व को समझने के लिए विशेष साधन की

कोई अपेक्षा नहीं। जैसे धर्म के विषय में किसी को कोई विवाद नहीं। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य अथवा चातुराश्रम्य धर्म को शब्द प्रमाण के आधार पर निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करता है, उसके लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार स्वानुभूतिगम्य आत्मा के लिए साधनान्तर की अपेक्षा नहीं ॥१०३॥

यद्यपि आत्मा साधारण रूप से स्वसंवेद्य है। तथापि अविवेक दशा में प्रत्येक व्यक्ति 'मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं बलवान् हूं तथा मैं अन्धा हूं, मैं लंगड़ा या लूला हूं' इसप्रकार 'अहं' का सामानाधिकरण्य स्थूल शरीर और इन्द्रियों के साथ अनुभव करता है, और शरीरादि को ही आत्मा समझता है। अतः चेतनाचेतन विवेक के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट किया जाय। इसी आशय से सूत्रकार कहता है—

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥१०४॥

[शरीरादिव्यतिरिक्तः] शरीर आदि से भिन्न है [पुमान्] पुरुष (आत्मा)।

स्थूल शरीर से लगाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृति पर्यन्त जितना अचेतन जगत् है, उस सबसे अतिरिक्ति है पुमान्, अर्थात् चेतन आत्मा। मूल रूप से सांख्य दो तत्त्व स्वीकार करता है, जड़ और चेतन। प्रकृति और उसके समस्त विकार जड़ हैं, तथा अनन्त जीवात्मा और एक परमात्मा चेतन हैं। इस सूत्र में 'पुमान्' पद समस्त चेतन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जीवात्मा अविवेक के कारण शरीर इन्द्रिय तथा बाह्य अर्थों के साथ अभेद का ग्रहण करता हुआ भी वास्तविक स्थिति में वह इन सबसे अतिरिक्त है। सर्वज्ञ ईश्वर को इस प्रकार की भ्रान्ति की संभावना ही नहीं। वह भी प्रकृत्यादि समस्त अचेतन जगत् से स्वतः अतिरिक्त है॥१०४॥

इस अर्थ की सिद्धि के लिए सूत्रकार हेतु का निर्देश करता है—

संहतपरार्थत्वात् ॥१०५॥

[संहतपरार्थत्वात्] संघात के परार्थ (अन्य के लिए) होने से।

जीवात्मा के लिए भोग और अपवर्ग की सिद्धि के प्रसंग में इकसठवें सूत्र द्वारा जीवात्म-चेतन की सिद्धि के लिए इस हेतु का प्रथम उल्लेख किया गया है। यहां पर भी इसका उपन्यास जीवात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए है। इस प्रसंग में चेतनमात्र के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आगे हेत्वन्तरों का निर्देश है, उसमें उक्त हेतु का संग्रह कर लिया गया है। संहत अर्थात् संघात रूप में विद्यमान समस्त अचेतन तत्त्व, परार्थ देखा जाता है, उसकी समस्त प्रवृत्ति 'पर' के लिए होती हैं। इससे विलक्षण वह 'पर' है, इसका भोक्ता जीवात्मा। यदि भोक्ता आत्मा का अस्तित्व न माना जाए, तो जगत् की प्रवृत्ति निष्फल है। इस

प्रकार भोग्य अचेतन से विलक्षण भोक्ता चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१०५॥

चेतनमात्र की सिद्धि के लिये सूत्रकार हेतु का निर्देश करता है—

त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥१०६॥

[त्रिगुणादिविपर्ययात्] त्रिगुण आदि से विपरीत होने के कारण।

सत्त्व रजस् तमस् ये तीन गुण हैं। 'आदि' पद से इनके समस्त परिणाम अन्योन्यमिथुनवृत्तिता जड़ता आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। इसप्रकार त्रिगुणात्मक मूल उपादान तथा उसके समस्त परिणाम महदादि से विपरीत एक विलक्षण तत्त्व को स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व त्रिगुणातीत अपरिणामी चेतन आत्मा है, जो जीवात्मा और परमात्मा इन दो रूपों में वर्णित है ॥१०६॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार अगला हेतु प्रस्तुत करता है—

अधिष्ठानाच्चेति ॥१०७॥

[च] और [अधिष्ठानात्] अधिष्ठान से।

जितना त्रिगुणात्मक अचेतन जगत् है, उसका कोई अन्य चेतन अधिष्ठाता रहता है, जो अचेतन में प्रवृत्ति आदि का हेतु होता है। जिस प्रकार रथ आदि अचेतन की प्रवृत्ति का हेतु एक यन्ता अधिष्ठाता रहता है, इसी प्रकार बुद्धि से लेकर स्थूलभूतनिर्मित शरीर तक जितना यह संघात है, इसमें प्रवृत्ति का हेतु कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए, वह जीवात्मा है। जैसे इस शरीर का अधिष्ठाता एक चेतन है, ऐसे ही अखिल अचेतन प्रकृति का एक चेतन अधिष्ठाता होना चाहिये। क्योंकि शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने के कारण अखिल प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं होसकता। फिर आत्मा अनन्त होने के कारण यह व्यवस्था करनी अशक्य है कि इनमें से कौनसा आत्मा प्रकृति का अधिष्ठाता हो, इसलिए समस्त विश्व का एक अधिष्ठाता परमात्मा है। इसप्रकार जीवात्मा और परमात्मा-चेतनमात्र का अस्तित्व इन हेतुओं से सिद्ध होता है।

चेतन-सिद्धि के प्रसंग में यहां प्रथम हेतु, इकत्तीसवें सूत्र का संग्रहमात्र है, जो जीवात्म-चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करता है। प्रस्तुत प्रसंग के मुख्य दो हेतु, जिनको प्रथम प्रस्तुत किया गया है, चेतनमात्र [जीवात्मा और परमात्मा दोनों] के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, तथा अन्तिम दोनों हेतु [सूत्र १०८, १०९] केवल जीवात्म-चेतन के अस्तित्व को। इस विशेषता का संकेत करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र में 'च' और 'इति' इन दो पदों का अधिक निर्देश किया है। प्रथम पद परमात्मा की सिद्धि में द्वितीय हेतु का संग्रह करता है, और दूसरा पद इन दो हेतुओं के द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि की समाप्ति का द्योतक है ॥१०७॥

आत्मा की सिद्धि में सूत्रकार हेत्वन्तर उपस्थित करता है—

भोक्तृभावात् ॥१०८॥

[भोक्तृभावात्] भोक्ता होने से।

समस्त अचेतन त्रिगुणात्मक जगत् भोग्य है, इसकी उपयुक्तता व सफलता उसी समय है जब इसका कोई भोक्ता हो। अचेतन भोग्य जगत् का कोई चेतन भोक्ता स्वीकार करना आवश्यक है। स्वयं भोग्य, भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए अचेतन प्रकृति के अतिरिक्त चेतन आत्मा को सांख्य में भोक्ता स्वीकार किया गया है। इसप्रकार प्रकृति का भोक्ता होने के कारण आत्मा की सिद्धि होती है ॥१०८॥

सूत्रकार इस प्रसंग के अन्तिम हेतु का निर्देश करता है—

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१०६॥

[च] और [कैवल्यार्थं] कैवल्य के लिए [प्रवृत्तेः] प्रवृत्ति से।

कैवल्य मोक्ष का नाम है। इसी को सांख्य में 'अत्यन्तपुरुषार्थ' कहा है। प्रत्येक आत्मा दुःखों से बचना चाहता है। दुःख आदि द्वन्द्व प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर प्राप्त होते हैं। इस स्थिति से बच जाना कैवल्य है, अर्थात् प्रकृति के साक्षात् सम्पर्क से रहित केवल आत्मा की स्थिति। चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही प्रकृति के साथ उसके सम्पर्क की कल्पना की जासकती है। इसप्रकार जिसके कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति है, ऐसे चेतन के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। अथवा दूसरे रूप में दुःखों से बचने के लिए जो प्रवृत्त होता है, अवश्य दुःखाद्यात्मक प्रकृति से अतिरिक्त उसका अस्तित्व होगा, वही चेतन आत्मा है। इन सब आधारों पर त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति से भिन्न चेतन तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। इन सूत्रों का विशेष विवरण 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण के 'आत्मा नित्यमुक्त है' प्रसंग में किया गया है ॥१०६॥

रहो चेतन, पर वह स्वतः सिद्ध तत्त्व नहीं, प्रत्युत जड़ की एक विकसित अवस्था है। जड़ परिणत होता हुआ जब ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है, जहां उसमें कुछ विशेष विलक्षणता आजाती है, और साधारण जड़ तत्त्व के समान उसमें व्यवहार नहीं किया जासकता; तब वही चेतन कह दिया जाता है। सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥११०॥

[जड] जड़ का [प्रकाश] चेतन रूप में [अयोगात्] परिणाम न होने से [प्रकाशः] चेतन (स्वतः सिद्ध है)।

जड़ वस्तु का प्रकाश के साथ, अथवा प्रकाश के रूप में योग न होने से प्रकाश स्वतः सिद्ध माना जाना चाहिए। सूत्र में 'प्रकाश' पद चेतन के लिए प्रयुक्त हुआ हैं। 'योग' पद का अर्थ है—किसी रूप में पहुचना या प्राप्त होना, अर्थात् परिणाम। कोई भी जड़ वस्तु चेतनरूप में परिणत नहीं होती, इसलियं चेतन को स्वतः-

सिद्ध मानना चाहिए। जड़-चेतन की यह विशेषता है, कि जड़ परिणामी और चेतन अपरिणामी होता है। अतः दोनों को एक नहीं माना जासकता । इस विषय का विस्तृत विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण के प्रारम्भ में किया गया है ।।११०।।

चेतन को नित्य व स्वतः सिद्ध मानने पर भी क्या चेतना उस तत्त्व का धर्म मानना चाहिए, और धर्मी उससे अतिरिक्त, अथवा चेतना उसका स्वरूप होना चाहिए ? सूत्रकार समाधान करता है—

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ।।१११।।

[निर्गुणत्वात्] निर्गुण होने से (आत्मा) [चिद्धर्मा] चित् धर्म वाला [न] नहीं।

सांख्य में 'गुण' पद, सत्त्व रजस् तमस् के लिए पारिभाषिक है। धर्म-धर्मी की कल्पना गुणों में की गई है, जहां कार्यकारणभाव अथवा उपादानोपादेयभाव के आधार पर उन दोनों के भेदाभेद को स्वीकार किया जाता है। परन्तु चेतन तत्त्व निर्गुण है, अर्थात् त्रिगुणात्मक तत्त्व मे भिन्न है। इसलिए चेतन में धर्म-धर्मी की कल्पना संभव नहीं। फलतः आत्मा चिन्मात्र है, चिद्धर्मा नहीं। चित् अथवा चिति उसका स्वरूप है। उससे अतिरिक्त आत्मा अथवा चेतन का कोई अस्तित्व नहीं ।।१११।।

आत्मा चिन्मात्र है, यह सिद्धान्त लोकव्यवहार के विरुद्ध है। लोक में 'मैं जानता हूं' अथवा 'मैं ज्ञानवान् हूं' यह प्रतीति, ज्ञान अर्थात् चेतना को आत्मा का धर्म बताती है। सूत्रकार समाधान करता है—

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ।।११२।।

[श्रुत्या] वेद से [सिद्धस्य] सिद्ध की [अपलापः] उपेक्षा [न] नहीं, (आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर) [तत्प्रत्यक्षबाधात्] लौकिक प्रत्यक्ष की बाधा हो जाने से।

आत्मा चिन्मात्र है, यह सिद्धान्त न केवल युक्ति से सिद्ध है, अपितु श्रुति से भी सिद्ध है। इसलिए आत्मा के इस स्वरूप का अपलाप नहीं किया जा सकता। उपनिषद् में 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' साक्षी, चिन्मात्र और निर्गुण, आत्मा का स्वरूप बताया गया है। लोक में जो साधारण प्रतीति होती है, वह अविवेक के कारण है। चिन्मात्र आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर उस प्रकार के भ्रान्त प्रत्यक्ष की बाधा देखी जाती है। इस कारण लौकिक भ्रान्त प्रतीति के आधार पर, वेदप्रतिपादित आत्मस्वरूप की उपेक्षा करना असंगत होगा।

'तत्प्रत्यक्षबाधात्' पद में दो प्रकार से समास संभव है—तेन आत्मसाक्षात्कारेण प्रत्यक्षस्य-लौकिकप्रत्यक्षस्य बाधात्; आत्मसाक्षात्कार के द्वारा लौकिक

प्रत्यक्ष की बाधा होने से। इस समास के अनुसार उपर्युक्त अर्थ किया गया है। दूसरा प्रकार समास का होगा—तस्य-लौकिकप्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्षेण-आत्मसाक्षात्कारेण बाधात्, अर्थात् 'मैं ज्ञानवान् हूं या मैं जानता हूं' इत्यादि लौकिक प्रतीति की आत्मसाक्षात्काररूप प्रत्यक्ष के द्वारा बाधा हो जाने से आत्मा चिन्मात्र है यह स्पष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि श्रुति द्वारा प्रतिपादित आत्मा का केवल चेतनस्वरूप वा निर्गुण होना आत्मसाक्षात्कार से भी पुष्ट होता है ॥११२॥

यदि आत्मा चेतनस्वरूप है, तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का भेद उपपन्न नहीं होगा। तब एक ही अवस्था रहनी चाहिए। सूत्रकार कहता है—

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥११३॥

[सुषुप्त्याद्य, सुषुप्ति-आद्य] सुषुप्ति प्रभृति अवस्था विशेषों का [साक्षित्वं] साक्षी होना है (आत्मा का)।

सुषुप्ति आदि अवस्था, अन्तःकरण-बुद्धि की वृत्तिमात्र हैं। इसलिए इनका आधार तो बुद्धि होगी, आत्मा केवल साक्षी। साक्षी का अभिप्राय यही है, कि बुद्धि की समस्त वृत्ति, आत्मा के सहयोग अथवा सान्निध्य से होती हैं, अन्यथा नहीं। बाह्य विषय इन्द्रिय द्वारा जब बुद्धि तक पहुंचता है, बुद्धि तदाकार हो जाती है, इसी का नाम बुद्धि-वृत्ति है। बुद्धि उस विषय को आत्मा में अर्पित करती है। आत्मा को बाह्य विषय की जो अनुभूति होती है, उसका यह क्रम है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि आदि उस अनुभूति के लिए साधनमात्र हैं। आत्मा को बाह्य विषय का बोध साधन के विना नहीं होता। आत्मा के चेतनस्वरूप होते हुए भी सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के भेद का कारण यही है, कि कभी साधन कार्योन्मुख होते हैं, कभी नहीं। जब साधन बाह्य विषय को प्रस्तुत करेंगे, तब जाग्रत अवस्था, जब नहीं करेंगे, वह सुषुप्ति। यद्यपि आत्मा सब अवस्थाओं में एकसमान रहता है।

अथवा सूत्र का व्याख्यान इस प्रकार भी हो सकता है—यदि श्रुति की उपेक्षा करके ऐसा माना जाए कि चित्-चेतना आत्मा का धर्म है और वह बुद्धि के वृत्तिरूप ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं, तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आत्मा का साक्षी होना संभव नहीं होगा; क्योंकि उस अवस्था में वृत्तिरूप ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। परन्तु सुषुप्ति में सुखानुभूति की प्रतीति जागने पर होती है—'सुखमहमस्वाप्सम्, नान्यत् किञ्चिदवेदिषम्', मैं सुखपूर्वक सोया और किसी तरह की बाधा का अनुभव नहीं किया। फलतः आत्मा चिति-स्वरूप है, यह प्रमाणित होता है। इस अर्थ में सूत्र का पदच्छेद होगा—सुषुप्त्यादि-असाक्षित्वम् ॥११३॥

आत्मा के नित्य व चेतन सिद्ध होने पर, आत्मा एक है अथवा अनेक, यह आशंका बनी रहती है। सूत्रकार समाधान करता है—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥११४॥

[जन्मादिव्यवस्थातः] जन्म आदि की व्यवस्था से [पुरुषबहुत्वम्] आत्मा का बहुत्व है।

यह जीवात्म-चेतन का विवेचन चल रहा है। सांख्य का सिद्धान्त है कि यह आत्मा एक नहीं, प्रत्युत अनेक व अनन्त हैं। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में जन्म आदि की व्यवस्था अर्थात् भेद देखा जाता है। एक जन्मता है, एक मरता है; एक सुखी है, एक दुःखी है, इत्यादि विविधता लोक में देखी जाती है। यदि एक ही आत्मा हो, तो इस प्रकार के भेद का होना असम्भव है, उस अवस्था में सबको एक साथ जन्मना चाहिए और एक साथ मरना। एक समान सुख व दुःख की स्थिति रहनी चाहिए। फलतः जन्म-मरण आदि की विविधता के आधार पर पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है। यद्यपि आत्मा नित्य व अपरिणामी है, उसका जन्म-मरण संभव नहीं। तथापि आत्मा का स्थूल शरीर के सम्पर्क में आना जन्म तथा शरीर से वियुक्त हो जाना मरण कहा जाता है॥११४॥

जन्म-मरण आदि की व्यवस्था के कारण आत्मा अनेक हैं, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। पर जन्म-मरण आत्मा का ही क्यों न माना जाए। इससे आत्मा की अनेकता में कोई बाधा नहीं आती, प्रत्युत इसकी पुष्टि होती है। अब प्रत्येक नए शरीर के साथ आत्मा भी नया होगा। सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः॥११५॥

[उपाधिभेदेऽपि] देह का नाश हो जाने पर भी [एकस्य] एक (आत्मा) का [नानायोगः] अनेक (देहों) के साथ सम्बन्ध होता है, [आकाशस्येव] जैसे आकाश का [घटादिभिः] घट आदि के साथ।

उपाधि अर्थात् देह के नाश हो जाने पर भी आत्मा बराबर बना रहता है, उस आत्मा का फिर आगे इसी प्रकार नाना शरीरों के साथ योग होता रहता है। जन्म के अनन्तर जीवनकाल व्यतीत होने पर जब मरण का अवसर आता है, तब केवल देह का नाश होता है, आत्मा देह को छोड़ देता है। जब उसके अस्तित्व के वहां कोई चिन्ह नहीं रहते, तब उसे जला दिया जाता है या पानी में वहा दिया जाता है या भूमि में गाड़ दिया जाता है। देह का प्रत्येक अंग अपने कारणों में लय हो जाता है; पर आत्मा अलग बना रहता है, और वही एक आत्मा उस देह को छोड़ जाने के अनन्तर दूसरा देह धारण करता है, यह उसका जन्म कहा जाता है। जन्म के अनन्तर फिर मरण आ जाता है, और उसके अनन्तर फिर वही आत्मा अन्य देह धारण कर लेता है। इसप्रकार एक आत्मा का नाना शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है। जैसे किसी जगह एक घड़ा रक्खा है, वह आकाश से व्याप्त है, क्योंकि आकाश द्वारा अवकाश दिए विना उसका अस्तित्व संभव नहीं। उस घट

के नष्ट हो जाने पर उसका स्थान अन्य घट ले लेता है। यहां घट तो बदल गया है, पर आकाश वही बना रहा। इसप्रकार एक ही आत्मा का नाना देहों के साथ सम्बन्ध होता रहता है। आत्मा देह के समान बनता-बिगड़ता नहीं, न वह कभी नया-पुराना होता है ॥ ११५॥

इसी अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहता है—

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥ ११६॥

[उपाधिः] देह [भिद्यते] नष्ट हो जाता है [तु] परन्तु [तद्वान्] देही (आत्मा) [न] नहीं।

प्रथम सूत्र के समान यहां भी 'उपाधि' पद देह के लिए प्रयुक्त हुआ है। उत्पादविनाशशाली होने के कारण देह का नाश हो जाता है, परन्तु देही का नाश नहीं होता; क्योंकि वह नित्य एवं अपरिणामी है। जन्म-जन्मान्तरों में अनेक देहों को धारण करता हुआ भी आत्मा उनमें एक ही बना रहता है। इसी आधार पर शुभाशुभ कर्मफलों की तथा बन्धमोक्ष की व्यवस्था का उपपादन किया जा सकता है। इसप्रकार अनेक शरीरों के बदलते रहने पर भी आत्मा उनमें एक ही बना रहता है। ११५ और ११६ सूत्रों को पूर्वपक्षरूप में भी लगाया जा सकता है। जो इसप्रकार है—

[उपाधिभेदे] (अन्तःकरण आदि) उपाधि का भेद होने पर [एकस्य अपि] एक (आत्मा) का भी [नानायोगः] अनेक (देहादि) के साथ सम्बन्ध है, [आकाशस्येव] जैसे आकाश का [घटादिभिः] घट आदि के साथ।

आत्मा केवल एक है, अन्तःकरण अनन्त हैं, उन्हीं के द्वारा अनेक देहादि के साथ एक आत्मा का सम्बन्ध संभव है, उसी के आधार पर जन्म-मरण आदि की व्यवस्था मानी जा सकती है। जैसे एक आकाश का सम्बन्ध घट, मठ आदि अनेक पदार्थों के साथ देखा जाता है। ऐसी अवस्था में अनेक आत्माओं का माना जाना व्यर्थ है।

इसी के स्पष्टीकरण के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत किया गया—

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्।

[उपाधिः] अन्तःकरण आदि [भिद्यते] भिन्न हैं (परस्पर), [तद्वान्] उपाधि वाला अर्थात् उपहित आत्मा [तु] तो [न] नहीं।

जन्म-मरण आदि की व्यवस्था के आधार पर जो भेद देखा जाता है, वह केवल उपाधिनिष्ठ है। उस भेद के कारण परस्पर विभिन्न अन्तःकरण आदि हैं, आत्मा नहीं। इसलिए आत्मा को अनेक न मानकर केवल एक माना जाना चाहिए।

सूत्रों के इन दोनों प्रकार के अर्थों में 'उपाधिभेद' पद के अर्थ का थोड़ा अन्तर है, जो व्याख्या में स्पष्ट है। उसी आधार पर दोनों प्रकार की व्याख्या संभव

है। ११५ सूत्र में आकाश का घट आदि के साथ सम्बन्ध को लेकर जो दृष्टान्त दिया गया है, वह पहली व्याख्या के अनुसार केवल इतने अंश में समझना चाहिए, कि एक ही आकाश-प्रदेश के साथ अनेक घट आदि पदार्थों का सम्बन्ध होता रहता है। घट आदि पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, पर आकाश वही बना रहता है। इसमें आकाश का स्थायित्व और घट का आशुविनाशित्व प्रदर्शित है। इसी प्रकार आत्मा अपरिणामी और देह आदि परिणामी तत्त्व हैं। यद्यपि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार आकाश भी परिणामी तत्त्व है, पर अन्य घटादि की अपेक्षा अधिक स्थायी है। इतने ही अंश को लेकर दृष्टान्त है, आकाश की व्यापकता दृष्टान्त में अपेक्षित नहीं।

आकाश के व्यापकभाव को लेकर जो यह कहा जाता है कि आकाश घट या मठ से घिरा रहता है, सांख्य के अनुसार यह सर्वथा भ्रामक धारणा है। इस कथन में वास्तविकता का शीर्षासन करा दिया गया है। वस्तुभूत स्थिति यह है कि आकाश कभी घट आदि से घिरा नहीं रहता, प्रत्युत घट आदि समस्त एकदेशी पदार्थ आकाश से घिरे रहते हैं। इसका विवरण (६।५९) सूत्र की व्याख्या पर देखें ॥११६॥

इसप्रकार शरीरों के बदलते रहने अथवा भिन्न होने पर आत्मा उनमें एक ही बना रहता है, तब वर्त्तमान अनेक देहों में एक ही आत्मा मान लेना होगा, प्रत्येक देह में अतिरिक्त आत्मा मानना व्यर्थ है। सूत्रकार समाधान करता है—

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥११७॥

[एवम्] इसप्रकार (आत्मा के) [एकत्वेन] एक रूप होने के द्वारा [परिवर्त्तमानस्य] घटित व्यवहार के (स्वीकार करने पर) [विरुद्धधर्माध्यासः] विरुद्ध धर्मों की प्रतीति [न] न होनी चाहिए।

यदि इसप्रकार वर्त्तमान समस्त शरीरों में एक ही आत्मा माना जाए, और उसी एक आत्मा के द्वारा समस्त देहों में सुख-दुःख भोग, बन्ध-मोक्ष आदि का होते रहना स्वीकार किया जाए तो लोक में प्रत्यक्षतः अनुभूयमान विरुद्ध धर्मों की प्रतीति न होनी चाहिए। जब सर्वत्र एक आत्मा है, तो कोई जन्म लेता है कोई मरता है, कोई सुखी है कोई दुःखी है, कोई बद्ध है कोई मुक्त हो चुका है इत्यादि समस्त परस्पर विरोधी स्थितियां अस्तित्व में न आनी चाहिएं। जैसे एक देह में एक आत्मा मानने पर विरोधप्रतीतिमूलक कोई दोष नहीं आता, ऐसे अनेक अथवा समस्त देहों में एक आत्मा मानने पर समस्त विरोधी घटनाओं का अभाव होजाना चाहिए। परन्तु यह संभव नहीं, इसलिए समस्त देहों में एक आत्मा का भोक्ता द्रष्टा रूप में माना जाना असंगत है ॥११७॥

समस्त शरीरों में एक आत्मा मानने पर भी विरुद्ध धर्म-प्रतीति की व्यवस्था की जा सकती है। वह यह है, कि प्रत्येक शरीर के साथ जो अन्तःकरण रहता

है, उसी में समस्त विविधताएँ चलती रहती हैं। मरना-जीना, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि सब अन्तःकरण में ही होते हैं। आत्मा में उनका आरोप कर लिया जाता है। इसप्रकार एक ही आत्मा मानने पर अन्तःकरण नाना होने से सब व्यवस्था हो जाएगी। सूत्रकार समाधान करता है—

अन्यधर्मत्वेपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥११८॥

[अन्यधर्मत्वेऽपि] अन्य (अन्तःकरण आदि) का धर्म होने पर भी [आरोपात्] आरोप से [तत्सिद्धिः] व्यवस्था की सिद्धि [न] नहीं, [एकत्वात्] (आत्मा के] एक होने से।

सुख दुःख आदि को अन्य का धर्म मानने पर और आत्मा में उनका आरोप मान लेने से भी उचित व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा एक होने से एक ही समय में वह सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त आदि नहीं होसकता। अन्तःकरण को नाना और सुख-दुःख आदि को उसी का धर्म मानकर भी व्यवस्था बन नहीं सकती। प्रत्येक अन्तःकरण में एक समय में विविध सुख-दुःख तथा अन्य भावनाओं का उदय होता रहता है। तथा प्रत्येक अन्तःकरण से वही आत्मा उपहित है, क्योंकि वह एक ही है। समस्त अन्तःकरणों के समस्त सुख-दुःख आदि का एक समय में आत्मा में आरोप होगा। यदि आत्मा उससे प्रभावित होता है, तो उसे सुखी-दुःखी बद्ध-मुक्त आदि क्या माना जायगा, और इसतरह के प्रभाव में उसकी स्थिति क्या होगी। यदि आत्मा उनसे प्रभावित नहीं होता, तो उसका अस्तित्व ही अनावश्यक है। यदि अन्तःकरणों के सुख-दुःख आदि के लिए उसका अस्तित्व अपेक्षित है, तो वह केवल उनके लिए एक साधनमात्र बन कर रह जाता है, जो आत्मा को उसके वास्तविक स्थान से गिरा देता है, और ऐसा मानने पर सांख्य का यह सिद्धान्त भी नष्ट होजाता है, कि बुद्धि आदि प्राकृतिक समस्त पदार्थ 'परार्थ' अर्थात् आत्मा के लिए हैं। आपकी कही इस स्थिति में तो आत्मा ही बुद्धि आदि के लिए साधन बन जाता है, जब कि आप समस्त सुख-दुःखादि भोग बुद्धि में मानकर उसको इस योग्य बनाने के लिए आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। फलतः समस्त शरीरों में आत्मा को एक मानकर जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि विविधता की व्यवस्था बुद्धि आदि अन्तःकरण द्वारा संभव नहीं ॥११८॥

यदि आत्मा को एक नहीं माना जाता, तो आत्मा की एकता का प्रतिपादन करन वाले वेदवाक्यों के साथ इसका विरोध होगा। सूत्रकार कहता है—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥११९

[अद्वैतश्रुतिविरोधः] अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध [न] नहीं, [जातिपरत्वात्] जातिपरक होने से।

आत्मा को अनेक मानने पर, आत्मा की एकता का प्रतिपादन करने वाले

वेदवाक्यों के साथ साङ्ख्यसिद्धान्त का कोई विरोध नहीं। कारण यह है, कि आत्मा की एकता का प्रतिपादन, उसकी समान चेतनरूपता का प्रतिपादन है। आत्मा चाहे जीवात्मा है या परमात्मा, उनकी चेतनरूपता एकसमान है। जैसे प्रकृति में मूल से ही विलक्षणता है। सत्त्व रजस् तमस् मूलतत्त्व जड़ता में समान होने पर भी स्वरूप से परस्पर विलक्षण हैं। वैसे आत्माओं में चैतन्यस्वरूप के आधार पर किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं है। इसप्रकार चैतन्य रूप की एकता का प्रतिपादन करने की भावना से वेद में जहां-तहां आत्मा का एकत्व प्रतिपादित किया गया है। उसका तात्पर्य आत्मा की व्यक्तिगत एकता के प्रतिपादन में कदापि नहीं है। यदि कहीं व्यक्तिगत एकता का प्रतिपादन है, तो वह केवल परमात्मा के वर्णन में संभव है। इसके अतिरिक्त आत्मा की अनेकता का वेद में बहुत्र वर्णन पाया जाता है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०' [ऋ० १।१६४।२०] तथा ऋग्वेद [१।१६४।३८-३९ ; ६।१५।८], और यजुर्वेद [४०।८] आदि में अनेक ऋचा इस विषय की उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ट है, कि आत्मा अनेक हैं ॥११९॥

समस्त आत्माओं में चेतना समान है, इसको कैसे जाना जासकता है? सूत्रकार बताता है—

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ॥१२०॥

[विदितबन्धकारणस्य] बन्ध के कारण को जाने हुए की [दृष्टया] दृष्टि से [तद्रूपम्] वह चेतना-स्वरूप (जाना जाता है)।

जिस व्यक्ति ने समाधि-लाभ के अनन्तर आत्मा के बन्ध कारणों का साक्षात्कार कर विवेकज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे आत्मदर्शी योगी के विवेकज्ञान द्वारा आत्मा का वह चेतनारूप जाना जासकता है। 'मैं हूं' की लौकिक प्रतीति में आत्मा के अस्तित्व का अनुभव होने पर भी उसके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। वह इन्द्रियातीत तत्त्व है। समाधि-लाभ द्वारा आत्मदर्शन उसका साक्षात्कार है। समस्त आत्म-चेतनास्वरूप को जानने समझने का एकमात्र उपाय यही है ॥१२०॥

पर इस प्रकार का अनुभव साधारण लौकिक जनों को तो होता नहीं, प्रत्युत इससे विपरीत प्रतीति के उदाहरण मिलते हैं। तब आपके कथन को किसप्रकार सत्य मानलिया जाए? सूत्रकार कहता है—

नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥१२१॥

[अन्धादृष्ट्या] अन्धे के द्वारा न देखे जाने से [चक्षुष्मतां] आंख वालों का [अनुपलम्भः] अनुपलब्धि-न देखा जाना [न] नहीं।

यदि अन्धा किसी वस्तु को नहीं देख सकता, तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि आंख वालों के लिए भी उस वस्तु की अनुपलब्धि हो। साधारण जन यदि आ-

त्माओं की समान चेतना का अनुभव नहीं कर पाता, या विपरीत अनुभव करता है, तो उसका यह तात्पर्य नहीं, कि साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी उसको नहीं जान सकता। फलतः आत्माओं की समान चेतना के वर्णन की भावना से ही वेद में जहाँ-तहां आत्मा की एकता का उल्लेख है। वस्तुस्थिति में आत्मा अनेक हैं, यह विचार सर्वप्रमाण-सिद्ध है ॥१२१॥

केवल एक व्यक्तिरूप आत्मा है, इस विचार में सूत्रकार एक और बाधक उपस्थित करता है—

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥१२२॥

[वामदेवादिः] वामदेव आदि [मुक्तः] मोक्ष को प्राप्त (हुए), अतः [अ-द्वैतम्] अद्वैत-एक ही आत्मा [न] नहीं।

यह बात निश्चित है, वामदेव आदि आत्मदर्शी ऋषि मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं। यदि आत्मा व्यक्तिरूप से एक होता, तो आज बन्धन में कोई न दीखता और यह वर्त्तमान संसार-क्रम भी दृष्टिगोचर न होता। एक आत्मा के मुक्त होने पर समस्त संसार समाप्त होजाता। क्योंकि ऐसा नहीं है और समस्त संसार-चक्र उसी रूप में चल रहा है, इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है कि आत्मा अद्वैत अर्थात् एक व्यक्तिरूप नहीं है ॥१२२॥

नाना आत्मा मानने पर भी आत्माओं की बराबर मुक्ति होते रहने से संसार का उच्छेद हो जाना चाहिए। सूत्रकार कहता है—

अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ॥१२३॥

[अनादौ] अनादि काल में [अद्य यावत्] आज तक [अभावात्] न होने से (उच्छेद) [भविष्यदपि] भविष्यत् काल में भी [एवम्] इसी प्रकार (उच्छेद न होगा)।

अनादि काल से आज तक संसार का उच्छेद न होने से भविष्यत् काल में भी ऐसा ही होने की संभावना की जासकती है। अनेकात्मपक्ष में आत्माओं के अनन्त होने के कारण, उनका मोक्ष होते रहने पर भी संसार के उच्छेद की संभावना नहीं, क्योंकि यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक निरन्तर निर्बाध रूप में चलता रहना है ॥१२३॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए प्रकारान्तर से सूत्रकार कहता है—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥१२४॥

[इदानीमिव] इस समय की तरह [सर्वत्र] सब काल में [अत्यन्तोच्छेदः] अत्यन्त उच्छेद [न] नहीं।

आज तक के समान किसी भी काल में संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं हो-सकता। कारण यह है, कि सांख्य ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर यह विचार

प्रकट किया है, कि सत् से असत् अथवा असत् से सत् नहीं होता। जो सत् है वह सत् रहेगा, और जो असत् है वह असत् रहेगा। संसार आज तक अनादि काल से वर्त्तमान है, उसका सत् होना निश्चित है, तब उसके अत्यन्त उच्छेद की कल्पना नहीं की जासकती। संसार का यह प्रवाह अटूट है ॥१२४॥

तब क्या संसार सदा इसी रूप में विद्यमान रहेगा ? सूत्रकार कहता है—

व्यावृत्तोभयरूपः ॥१२५॥

[व्यावृत्त] हटा हुआ [उभयरूपः] दोनों रूपों से।

संसार का किसी काल में सदा के लिए उच्छेद होजाए, यह एक रूप; और संसार सदा इसी वर्त्तमान रूप में बना रहे, यह दूसरा रूप। इन दोनों ही से संसार को व्यावृत्त समझना चाहिये। न संसार किसी भी समय सदा के लिए उच्छिन्न हो-सकता है, और न सदा इसी वर्त्तमान रूप में बना रह सकता है। इसप्रकार इन दोनों स्थितियों से संसार को हटा हुआ बताया गया है। कारण यह है कि सद्रूप होते हुए भी संसार परिणामी है। इस कारण यह बना भी रहता है, और बदलता भी रहता है। इस आधार पर भिन्न रूप में इसकी दो स्थितियां हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक दूसरे के अनन्तर अनिश आवर्त्तमान रहती हैं। आत्माओं का मोक्ष में जाना भी इसकी अविरत आवृत्ति में कभी बाधक न होगा। यह चक्र अनादि अनन्त है। फलतः इस सब स्थिति पर विचार करते हुए आत्माओं की अनेकता व अनन्तता सिद्ध होती है ॥१२५॥

आत्मा की अनेकता का प्रतिपादन कर उसकी अन्य विशेषताओं का निरूपण किया जाता है। जिसप्रकार समस्त प्रकृति का अधिष्ठाता ईश्वर है, इसीप्रकार एक देह में अधिष्ठाता जीवात्मा है, तथा यह समस्त अनुभूतियों का साक्षी है। यदि साक्षी होना इसका स्वरूप है, तो विवेक-ज्ञान होने पर भी साक्षित्व बने रहने से मोक्ष न होना चाहिए। सूत्रकार कहता है—

साक्षात्संबन्धात् साक्षित्वम् ॥१२६॥

[साक्षात् संबन्धात्] साक्षात् संबन्ध से [साक्षित्वम्] साक्षी होना है।

आत्मा का स्वरूप 'साक्षी' होना नहीं है; प्रत्युत बुद्धि आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से यह साक्षी कहलाता है। जब तक अविवेक बना रहता है, बुद्धि आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहता है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर अविवेक की स्थिति नहीं रहती। इसलिए उस अवस्था में साक्षित्व मोक्ष का बाधक न रहेगा। कतिपय पुस्तकों में सूत्र का पाठ 'अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वम्' है। 'अक्ष' इन्द्रिय अथवा करण को कहते हैं। इन्द्रिय अथवा बुद्धि आदि करणों के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा 'साक्षी' कहा जाता है। अर्थ में अन्य कोई अन्तर नहीं। 'साक्षी' पद व्याकरण [पा० ५।२।९१] के अनुसार 'द्रष्टा' अर्थ में नियत है। देहेन्द्रियादि के साथ सम्पर्क

रहने पर द्रष्टृत्व सार्थक व उपयुक्त होपाता है। यदि यह आत्मा का स्वरूप माना जाए तो भी अनुपयोग की अवस्था में मोक्ष का बाधक क्यों होगा ? ॥१२६॥

आत्मा का मुख्य स्वरूप क्या है ? सूत्रकार बताता है—

नित्यमुक्तत्वम् ॥१२७॥

[नित्यमुक्तत्वम्] नित्य मुक्त होना (आत्मा का स्वरूप है)।

नित्यमुक्त अर्थात् प्रकृति से सदा पृथग्रूप होना। प्रकृति अचेतन तथा त्रिगुणात्मक है। अतः आत्मा का मुख्य स्वरूप है–त्रिगुणातीत चेतन। इस पद का विशेष विवरण 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण के 'आत्मा नित्यमुक्त है' प्रसंग में किया गया है। प्रकृति के सम्पर्क में रहता हुआ भी आत्मा, प्रकृतिरूप नहीं, उससे सर्वथा पृथक् है, यही इसका अभिप्राय है ॥१२७॥

आत्मा की एक और विशेषता बताता है—

औदासीन्यं चेति ॥१२८॥

[च] और [औदासीन्यं] उदासीन होना (आत्मा का स्वरूप है)।

औदासीन्य पद का अर्थ है—अपरिणामी। आत्मा अप्रसवधर्मी होने से अकर्त्ता कहा जाता है। जो अकर्त्ता है, वह उदासीन है। आत्मा के सम्बन्ध में 'अकर्त्ता' पद का प्रयोग, उसके अपरिणामी स्वरूप का निर्देश करता है। आत्मा में अपरिणामित्वरूप अकर्त्तृत्व है, द्रष्टृत्व का न होना नहीं, इस विचार का विशेष व्याख्यान 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' प्रकरणान्तर्गत जीवात्मा के कर्त्तृत्व प्रसंग में किया गया है। सूत्र का 'इति' पद प्रकरण की समाप्ति का द्योतक है ॥१२८॥

द्रष्टा आत्मा का कर्त्तृत्व मुख्यरूप से माना जा सकता है, तब बुद्धि आदि में कर्त्तृत्व का व्यपदेश क्यों किया जाता है ? सूत्रकार कहता है—

उपरागात्कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ॥१२६॥

[उपरागात्] उपराग से (बुद्धि में) [कर्त्तृत्वं] कर्त्तृत्व है, [चित्सान्निध्यात्] चेतन की सन्निधि होने से।

परिणामी होने के कारण बुद्धि में प्रसवधर्मित्वरूप कर्त्तृत्व स्वतः रहता है। यदि द्रष्टृत्वरूप कर्त्तृत्व का भान बुद्धि में संभव हो, तो वह चित्सान्निध्य अर्थात् चेतन आत्मा के सान्निध्य से, बुद्धि के चैतन्य-प्रभावित होने पर संभव हो-सकता है। द्रष्टृत्व अथवा अधिष्ठातृत्वरूप कर्त्तृत्व चेतन में संभव है, अचेतन में नहीं। यदि बुद्धि आदि अचेतन में इस प्रकार का औपचारिक कर्त्तृत्व कदाचित् देखा जाए तो वह चेतन सान्निध्य से माना जा सकता है, क्योंकि बुद्धिगत समस्त प्रवृत्तियों की प्रेरणा आत्म-चैतन्य से प्राप्त होती है। बुद्धि में प्रसवधर्मित्वरूप कर्त्तृत्व तथा आत्मा में अधिष्ठातृत्वरूप कर्त्तृत्व स्वतः हैं। इनका अन्यत्र अस्तित्व औपचारिक ही हो सकता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के

'पुरुष' प्रकरणान्तर्गत जीवात्मा के कर्त्तृत्व प्रसंग में किया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस विवेचन की ओर अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए, कि बुद्धि का परिणाम दो प्रकार का होता है—एक अहंकार आदि रूप में, दूसरा विषयाकार रूप में। दूसरे परिणाम को सांख्यमतानुसार बुद्धिवृत्ति कहा जाता है। पहले परिणाम का प्रयोजक ईश्वर-चित्सान्निध्य है और दूसरे का जीवात्म-चित्सान्निध्य। सूत्र में 'चित्सान्निध्यात्' पद की द्विरुक्ति अध्यायसमाप्ति की द्योतक है ॥१२९॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना—उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां'विद्योदय'भाष्ये
विषयनिरूपणाध्यायः प्रथमः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम अध्याय में समस्त प्रतिपाद्य विषय का उद्देशरूप में उल्लेख कर प्रकृति और पुरुष के अस्तित्व तथा उनकी विशेषताओं का सप्रमाण प्रतिपादन किया गया। अब द्वितीय अध्याय में प्रकृति से सृष्टिप्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाएगा। सर्वप्रथम सूत्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन बताता है—

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥१॥

[विमुक्त] आत्मा के [मोक्षार्थं] मोक्ष के लिए [वा] और [स्वार्थं] भोग के लिए [प्रधानस्य] प्रधान-प्रकृति की (प्रवृत्ति है)।

सूत्र में 'विमुक्त' पद आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति के सम्पर्क में रहता हुआ भी आत्मा, उससे सर्वथा भिन्न है, इसीलिए वह विमुक्त है। अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आ, वह अपने स्वरूप चेतन को अचेतन प्रकृति के रूप में तथा प्रकृति के अचेतनरूप को अपने चेतनरूप में अनुभव करने लगता है। यद्यपि उसका वास्तविक चेतन स्वरूप इस अवस्था में भी सर्वथा अपरिवर्तित रहता है। आत्मा को इस अवस्था से हटाकर मोक्ष-प्राप्ति कराने के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग में आत्मा समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, यही प्रकृति का आत्मा के अपवर्ग के लिए उपयोग है। प्रधान की प्रवृत्ति का दूसरा प्रयोजन 'स्वार्थ' है।

यहां पर 'स्व' पद का अर्थ 'भोग' है। 'स्व' पद धन सम्पत्ति आदि ऐश्वर्य का वाचक है, जो ऐहिक भोगों का साधन है। यह पद इसी का निर्देश करता है। इसप्रकार आत्मा के अपवर्ग और भोग को सिद्ध करने के लिए प्रधान कार्य जगद्रूप में परिणत किया जाता है। इसकी परिणामरूप प्रवृत्ति का यही प्रयोजन है। इसमें अन्तिम और मुख्य लक्ष्य अपवर्ग है। सूत्र का 'वा' पद 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥१॥

यदि सर्गरचना का मुख्य प्रयोजन अपवर्ग है, तो सृष्टि के अनन्तर समस्त आत्माओं का अपवर्ग हो जाना चाहिए, आगे और पुनः-पुनः सर्गारम्भ व्यर्थ है सूत्रकार कहता है—

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥२॥

[विरक्तस्य] विरक्त की [तत्सिद्धेः] मोक्षसिद्धि होने से।

केवल सर्गरचना से मोक्ष-प्राप्ति की संभावना नहीं। प्रत्युत अनेक जन्म

मरण व्याधि तथा अन्य विविध क्लेशों से तप्त होकर जिस आत्मा में वैराग्य की भावना उदित होती है, वही अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होकर समाधि-लाभ द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर पाता है। इसलिए विरक्त को मोक्ष-सिद्धि होने से, उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए पुनः-पुनः सर्गरचना की आवश्यकता बनी रहती है ॥२॥

एक बार ही सर्गरचना से वैराग्य का उदय क्यों नहीं हो जाता? सूत्रकार बताता है—

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥३॥

[श्रवणमात्रात्] केवल सुन लेने से [तत्सिद्धिः] वैराग्य की सिद्धि [न] नहीं, [अनादिवासनायाः] अनादि वासना के [बलवत्त्वात्] बलवान् होने के कारण।

पहले तो आत्मसम्बन्धी प्रवचन का सुनना ही अनेक जन्मों के पुण्यसंचय से प्राप्त होता है। फिर केवल ऐसे प्रवचन सुनने से अचानक वैराग्य का उद्रेक नहीं हो उठता। क्योंकि आत्मा अनादि काल से सांसारिक वासनाओं में लिप्त चला आ रहा है। वे वासना अत्यन्त बलवती रहती हैं, जो वैराग्य के उदय में बाधक बनती हैं। इसलिए आत्मसम्बन्धी कथा-वार्त्ता के श्रवणमात्र से वैराग्य की सिद्धि नहीं होती। उसमें निरन्तर अभ्यास और भावनाओं की पवित्रता के लिए सतत प्रयत्न करना पड़ता है। तब एक बार ही सर्गरचना से यह सब कैसे सम्पन्न होगा? अतएव यह सर्ग-प्रवाह अनादि अनन्त माना गया है। काल की दृष्टि से इसकी कोई सीमा संभव नहीं ॥३॥

इस असीम सृष्टि-प्रवाह में सूत्रकार एक और उपोद्बलक देता है—

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥४॥

[वा] और [बहुभृत्यवत्] बहुत से भरणीय व्यक्तियों में जैसे [प्रत्येकम्] प्रत्येक के लिए (प्रवृत्ति होती है)।

किसी व्यक्ति के बहुत से भरणीय पोषणीय प्राणी होते हैं, जिनके भरण-पोषण का भार उस व्यक्ति पर रहता है। जितने अधिक भरणीय प्राणी होंगे, उनकी सन्तुष्टि और पालन के लिए उतने ही अधिक समय और साधनों की अपेक्षा होगी। प्रकृति ने जिनका भरण-पोषण करना है, वे जीवात्मा तो अनन्त हैं, इसलिये उनके भरण पोषण का काल भी अनन्त हो सकता है। आत्माओं का भरण-पोषण उनका भोग और अपवर्ग है। जैसे कोई व्यक्ति अपने भरणीय आत्माओं की सन्तुष्टि तक बराबर प्रयत्नशील बना रहता है, ऐसे ही अनन्त आत्माओं में से प्रत्येक आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि तक प्रधान अविरतरूप में प्रवृत्त रहता है। इसप्रकार सृष्टि-प्रवाह को सीमित नहीं किया जासकता, वह अनादि और अनन्त होना चाहिए ॥४॥

प्रकृति की समस्त प्रवृत्ति का अधिष्ठाता व प्रेरयिता ईश्वर है, यह प्रथम

निश्चय किया गया है। ईश्वर की प्रेरणा के बिना प्रकृति अचेतन होने से कुछ भी करने में असमर्थ रहती है। ऐसी स्थिति में यही क्यों न मान लिया जाए, कि आत्मा के भोग अपवर्ग की सिद्धि ईश्वर की प्रेरणा से हो जाती है। प्रकृति एक कल्पना-मात्र है। सूत्रकार बताता है—

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥५॥

[प्रकृतिवास्तवे] प्रकृति के वास्तविक होने में [च] ही [पुरुषस्य] पुरुष के [अध्याससिद्धिः] अध्यास की सिद्धि है।

सूत्र में 'च' पद अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति को वास्तविक मानने पर ही पुरुष के अध्यास की सिद्धि होसकती है। चेतन अपरिणामी आत्मा अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आकर अध्यास की स्थिति का निश्चय कराता है। चेतन में अचेतन और अचेतन में चेतन प्रतीति का होना अध्यास है। यदि अचेतन प्रकृति कल्पना-मात्र है, उसकी वास्तविक सत्ता कुछ नहीं तो पुरुष की उपर्युक्त अध्यास की स्थिति संभव नहीं होसकती, क्योंकि जब अचेतन का अस्तित्व ही न होगा, तो अचेतन में चेतन अथवा चेतन में अचेतन की भावना की कल्पना नहीं की जासकेगी। परन्तु पुरुष का अध्यास प्रत्यक्षसिद्ध है, इसलिए प्रकृति की वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। ईश्वर की प्रेरणा आत्मा के भोगापवर्ग को जगन्निर्माण के विना सिद्ध नहीं कर सकती। जगत् का निर्माण केवल प्रेरणा से संभव नहीं; इसका विवेचन प्रथमाध्याय के छयालीसवें सूत्र में कर दिया गया है। फलतः आत्मा के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति को वास्तविक मानना आवश्यक है ॥५॥

इसी अर्थ का निर्देश सूत्रकार प्रकारान्तर से करता है—

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥६॥

[कार्यतः] कार्य से—प्रकृति के परिणामद्वारा [तत्सिद्धेः] भोग-अपवर्ग की सिद्धि होने से।

प्रकृति के कार्यरूप में परिणत होने पर आत्मा के भोगापवर्ग की सिद्धि होने से प्रकृति की वास्तविकता और प्रयोजनवत्ता स्पष्ट होती है। प्रकृति यदि आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न नहीं करती, तो उसके कार्यरूप में परिणत होने का और कोई प्रयोजन नहीं है। जब वह कार्यरूप में परिणत हो रही है, तो यह निश्चित है कि वह आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न करे। यह निर्धारण होने पर कि प्रकृति आत्मा के भोगापवर्ग के लिए है, उसकी वास्तविकता से नकार नहीं किया जा सकता। इसप्रकार उसकी वस्तु-सत्ता और प्रयोजन दोनों का स्पष्टीकरण हो जाता है ॥६॥

यदि प्रकृति आत्मा के भोगापवर्ग के लिए है तो वह प्रत्येक को भोग अथवा

प्रत्येक को अपवर्ग क्यों नहीं करती ? सूत्रकार बताता है—

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥७॥

[चेतनोद्देशात्] चेतन के उद्देश से (प्रधानप्रवृत्ति के कारण) [नियमः] व्यवस्था है, [कण्टकमोक्षवत्] कांटे से बचाव की तरह।

चेतन के उद्देश से प्रधान की प्रवृत्ति होने के कारण एक नियम—एक व्यवस्था है कि प्रत्येक आत्मा को एक साथ भोग अथवा प्रत्येक आत्मा को एक साथ अपवर्ग नहीं हो पाता। चेतन की जैसी स्थिति है, उसको लक्ष्य करके अर्थात् उसके अनुसार प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए प्रकृति किसी के लिए भोग और किसी के लिए अपवर्ग के साधन प्रस्तुत करती है। जैसे एक नेत्रहीन व्यक्ति मार्ग पर जा रहा हो, तो उसे बताया जाता है कि इधर से बचकर निकलो, यहां आगे कांटा है, या अन्य कोई बाधा है, इससे तुम्हें कष्ट होगा। वह बचकर निकल जाता है। पर जिसके चक्षुरिन्द्रिय निर्दोष हैं, उसके लिए यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होती कि तुम इधर से बचकर निकलो। वह तो साधनसम्पन्न होने के कारण स्वतः उससे बच जाता है। इसी प्रकार जो अविवेकी हैं, उनके लिए भोग; और जो ज्ञानी हैं, उनके लिए अपवर्ग है। ज्ञानी संसार से स्वतः बचा है, उसके लिए भोग प्रस्तुत करना निष्प्रयोजन होगा। इसलिए चेतन की स्थिति के अनुसार भोग और अपवर्ग की व्यवस्था है ॥७॥

प्रकृति के सर्गरूप में परिणत होने का प्रयोजन आत्मा के भोग अपवर्ग की सिद्धि है, पर प्रकृति का सर्ग ईश्वर की प्रेरणा के विना संभव नहीं। तब आत्मा के भोगापवर्ग की सिद्धि साक्षात् ईश्वर से मान लेनी चाहिए। अन्तर्गड्ड प्रकृति व्यर्थ है। सूत्रकार कहता है—

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥८॥

[अन्ययोगे] अन्य (परमात्मा) का सहयोग होने पर [अपि] भी [आञ्जस्येन] सीधे-साक्षात् उससे [तत्सिद्धिः] भोग अपवर्ग की सिद्धि [न] नहीं, [अयोदाहवत्] लोहे से जले समान।

अन्ययोग होने पर भी अर्थात् सर्गरचना में प्रकृति के साथ प्रेरणारूप में ईश्वर का सहयोग होने पर भी उससे साक्षात् भोगापवर्ग की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि ईश्वर अथवा प्रेरणा स्वयं परिणत होकर सर्गरूप अर्थात् जगत्रूप हो जाते हों, ऐसा नहीं है। साक्षात् भोगापवर्ग की सिद्धि तो उसी से होती है, जो जगत् रूप में विद्यमान है। जैसे लोहा स्वयं जला नहीं सकता। अग्नितप्त लोहे में अग्नि के साथ लोहे का सहयोग है. लोहा अग्नि का आधार है, उसके सम्पर्क से दाह अग्नि द्वारा ही होता है। यद्यपि व्यवहार में हम ऐसा प्रयोग करते हैं कि यह भगवान् का ही ऐश्वर्य है, या भगवान् की ही कृपा है, जो हमें ये सब सांसारिक

भोग प्राप्त हैं। परन्तु यह केवल औपचारिक प्रयोग है, क्योंकि भगवान् की कृपा स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं हुई। वस्तुतः वह इसका नियन्ता है। यदि प्रकृति को भगवान् की कृपा या दया कहा जाता है, तब इस प्रकार के प्रयोगों की औपचारिकता स्पष्ट है। यह ऐसा ही प्रयोग है, जैसे लोक में अग्नि द्वारा दाह होने पर कहा जाता है कि वह लोहे से जल गया, अथवा लकड़ी से जल गया। इसलिए प्रकृति के साथ सहयोग होने पर भी साक्षात् ईश्वर अथवा उसकी प्रेरणा से भोगापवर्ग की सिद्धि नहीं मानी जानी चाहिए। सांख्यशास्त्र में इसी स्थिति को जगत् की उपादानता के प्रति प्रकृति की सुकुमारतरता के रूप में वर्णन किया गया है, और ईश्वर आदि को इस रूप में स्वीकार नहीं किया गया। वस्तुतः भोग-साधनों के समान अपवर्ग के साधन भी प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। स्थूल-सूक्ष्मदेह तथा इन्द्रियादि द्वारा अपवर्ग प्राप्ति के लिए प्रयत्न किए जाते हैं और वे प्रकृति के परिणाम हैं। देह इन्द्रियादि के अभाव में केवल आत्मा द्वारा मोक्ष के लिए प्रयत्न किया जाना संभव नहीं। इसलिए आत्मा के अपवर्ग प्राप्त करने में प्रकृति एक विशिष्ट साधन है ॥८॥

जगद्रचना का एकमात्र प्रयोजन आत्मा के भोगापवर्ग है, और उसमें सीधा ईश्वर का कुछ हाथ नहीं; फिर जगद्रचना में ही ईश्वर की आवश्यकता क्यों मानी जाय? सूत्रकार बताता है—

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥९॥

[रागविरागयोः] अचेतन (प्रकृति) के साथ चेतन (परमात्मा) का [योगः] सम्बन्ध-(प्रेरणात्मक) सहयोग [सृष्टि] सर्ग रचना है।

जगद्रचना में ईश्वर की आवश्यकता निश्चित है। वह उपादान न होकर केवल निमित्त माना जाना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि राग और विराग का योग सृष्टि है। प्रकृति अपनी कारणरूप अवस्था से परिणत होकर जब कार्यरूप अवस्था में उपस्थित होती है, इसी को सर्ग अथवा सृष्टि कहा जाता है। पर यह कब संभव है? जब राग के साथ विराग का योग होता है, तभी इसकी संभावना हो सकती है। सूत्र में 'राग' पद अचेतन प्रकृति का उपलक्षण है, क्योंकि राग का उद्भव सत्त्व आदि में होता है। इसीलिए 'विराग' पद चेतन का उपलक्षण है, जो त्रिगुणातीत है। फलतः जब तक अचेतन प्रकृति के साथ चेतन का प्रेरणात्मक सहयोग नहीं होता तब तक सृष्टि की संभावना नहीं। अतएव सर्गरचना में ईश्वर की नितान्त आवश्यकता है। पर क्योंकि वह स्वयं जगत्सर्गरूप में परिणत नहीं होता, केवल प्रकृति का परिणाम इस रूप में होता है, इसलिए आत्माओं के भोग आदि का सम्पादन साक्षात् प्रकृति प्रस्तुत करती है यह स्पष्ट है। इसप्रकार ईश्वर जगत् का उपादान न होकर केवल निमित्त अथवा अधिष्ठाता है ॥९॥

जगद्रचना के प्रयोजन का प्रतिपादन कर सूत्रकार अब सृष्टिप्रक्रिया का

निरूपण प्रारम्भ करता है। उसका प्रथम सूत्र है—

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥१०॥

[महदादिक्रमेण] महत् आदि क्रम से [पञ्चभूतानाम्] पांच भूतों की (उत्पत्ति है)।

लोक में स्थूल रूप से पांच भूतों की प्रतीति होती है। इनकी रचना महदादि क्रम से हुई है। जैसा कि प्रथम अध्याय में वर्णन किया गया है। इसके लिए छब्बीस से अड़तीस तक सूत्र देखने चाहिएं। प्रकृति का आद्य कार्य महत् है। उसके अनन्तर अहंकार की उत्पत्ति होती है। फिर सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां—जिनमें एक आन्तर इन्द्रिय मन तथा पांच [श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण] ज्ञानेन्द्रिय और पांच [वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ] कर्मेन्द्रिय मिलकर दस बाह्य—उत्पन्न होती हैं। तामस अहंकार से पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत, तदनन्तर पांच सूक्ष्म भतों से आकाश आदि पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार महत् आदि क्रम से पांच भूतों की उत्पत्ति का वर्णन सांख्य में किया गया है ॥१०॥

सृष्टि का प्रयोजन भोगापवर्ग है, इस पूर्वोक्त अर्थ की दृढ़ता के लिए सूत्रकार उसे पुनः स्मरण कराता है—

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥११॥

[सृष्टेः] सृष्टि के [आत्मार्थत्वात्] आत्मा के लिए होने से [एषाम्] इन (महत् आदि) का [आत्मार्थः] अपने लिए [आरम्भः] आरम्भ-उत्पादन [न] नहीं।

समस्त सृष्टि आत्मा के लिये होती है, इसलिए इन महत् आदि का आरम्भ किसी अपने स्वार्थ के लिए नहीं होता। अचेतन की प्रवृत्ति अर्थात् महत् आदि रूप से अचेतन का परिणाम, किसी अन्य अचेतन के प्रयोजन को पूरा करने के लिए नहीं है। अचेतन के किसी प्रयोजन की संभावना भी नहीं। यह समस्त दृश्यादृश्य अचेतन, चेतन के प्रयोजन को पूरा करता है। इसलिए महदादिरूप में इनके परिणाम का कोई अपना प्रयोजन होगा, ऐसा नहीं समझना चाहिए ॥११॥

महदादि क्रम से सर्ग की रचना में दिशा और काल का उल्लेख नहीं किया गया, पर लोकव्यवहार में इनका अस्तित्व प्रतीत होता है। तब क्या यह सर्गक्रम का निर्देश अपूर्ण है? सूत्रकार कहता है—

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥१२॥

[दिक्कालौ] दिशा और काल [आकाशादिभ्यः] आकाश आदि से।

यहां पूर्वसूत्र से 'न' की अनुवृत्ति आती है, और वाक्य को पूरा करने के लिए 'दिक्कालौ' के अनुसार 'भिद्येते' क्रियापद का अध्याहार करना चाहिए। 'आदि' पद स्वरूप का बोधक है। दिशा और काल, आकाश-स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। इसी

कारण सर्ग-रचना में उनका पृथक् निर्देश नहीं किया गया। आकाश ही दिक् अथवा काल रूप में व्यवहार के लिए कल्पना कर लिया जाता है। केवल आकाश द्वारा यह लोकव्यवहार कैसे सम्पन्न होता है, यह विचारणीय विषय है।

समस्त दृग्विषय पदार्थ कुछ न कुछ 'जगह' घेरते हैं। यह संभव नहीं, कि बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला कोई धर्मी किसी न किसी जगह को न घेरे। जगह ऐसी भी रहती हैं, जहां कोई धर्मी नहीं, जो रिक्त है, पर हमें यह पूर्ण विश्वास है कि वहां किसी भी धर्मी के रहने या आजाने की घटना घट सकती है। इसलिए यह निश्चित है, कि प्रत्येक जगह में धर्मी के रह जाने की घटना संभव है। इन 'जगहों' के निरवशेष समुच्चय का नाम आकाश है, और उसी को 'दिक्' कहा जाता है। किसी भी धर्मी का इधर या उधर आना या जाना—इस प्रकार की गति को अवकाश देना—यह 'दिक्' का लक्षण है। इधर या उधर समीप या दूर, व्यवहार की यह स्थिति अथवा यह अनुभव निश्चित रूप से सापेक्ष है। जो दूर है वह किसी की अपेक्षा से समीप भी है और जो समीप है वह दूर है; अपने ही लिए जो पूर्व है वह पश्चिम होजाता है और पश्चिम पूर्व। इसलिए इस व्यवहार का आधार कोई स्थिर वस्तुतत्त्व नहीं है, वह केवल कल्पनाप्रसूत है, और उस कल्पना का आधारभूत तत्त्व है आकाश। जहां हम दिग्विषयक व्यवहार या अनुभव करते हैं वहां आकाश और उससे सम्बन्धित धर्मियों तथा धर्मिगत क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुभूत तत्त्व का अस्तित्व संभव में नहीं आता। फलतः उक्त व्यवहार की सम्पन्नता के लिए कल्पित दिक् का आकाश से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।' आकाश क्योंकि अखण्ड एवं अनन्त है, इसीलिए यह व्यवहार 'दिक्' में भी होता रहता है।

दिग्व्यवहार का क्षेत्र इन्द्रियग्राह्य विषयों तक सीमित रहता है, परन्तु काल के क्षेत्र की सीमा इससे अधिक व्यापक है। धर्मियों में विभिन्न धर्मान्तर-परिणाम होते रहते है, कोई भी धर्मान्तर-परिणाम ऐसा नहीं, जो कालावच्छिन्न न हो, यद्यपि उनमें से अनेक परिणाम दिग्व्यवहार के विषय नहीं होते। अन्तःकरण के परिणाम इच्छा द्वेष यत्न संकल्प स्मृति आदि एक दूसरे के अनन्तर क्षय और उदय अवस्था का लाभ करते रहते हैं। एक का क्षय और दूसरे का उदय, यह परिणाम के पूर्वापर भाव का निर्देश करता है। इस पूर्व और अपर व्यवहार में दिशा का प्रवेश नहीं है, इच्छा से संकल्प पूर्व है या पश्चिम, दूर है या समीप, इधर है या उधर—ऐसा अनुभव कभी नहीं होता; इससे निश्चित है कि दिशा की सत्ता की अनुभूति चित्त-परिणामों को अपना विषय नहीं बनाती, परन्तु काल की सत्ता की अनुभूति चित्त के परिणामों में भी बराबर होती है। जहां भी धर्मी का धर्मान्तर में परिणाम अथवा कार्यकारणभाव का अनुभव होता है, वहां सर्वत्र काल का प्रवेश है, चाहे वह धर्म-धर्मी अथवा कार्य-कारण इन्द्रिग्राह्य हों या इन्द्रियातीत। हम कह सकते हैं,

इच्छा के अनन्तर संकल्प का उदय हुआ। यह आनन्तर्यक्रम अथवा पूर्वापरभाव काल का विषय है। दिशा और काल के स्वरूप में इतना भेद है।

धर्मी के धर्मान्तर-परिणाम को नापने की यह एक अन्य रीति है, जिसको 'काल' नाम दिया गया है, वह परिणाम चाहे वस्तुरूप हो या क्रियारूप। पृथिवी गति करती हुई जब अपनी एक परिधि को पूरा करती है, उसको एक 'विन्दु' मान लिया गया। ऐसे ही अनेक विन्दुओं का एक समुच्चय होगया। गति (क्रिया) के नापने की इस रीति का नाम हमने 'काल' रक्खा है। अपने व्यवहार को संपन्न करने के लिए इसे छोटे-बड़े अनन्त भागों में बांट लिया जाता है। जिनका प्रयोग क्षण लव निमेष काष्ठा कला मुहूर्त्त याम अहो-रात्र सप्ताह पक्ष मास ऋतु अयन संवत्सर युग आदि रूप में बराबर होता है। इस रीति से जहां पूर्व-अपर भाव की अनुभूति होती है, वहां आकाश और उससे सम्बन्धित धर्मी तथा धर्मिगत परिणाम या क्रियाओं के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुभूत तत्त्व का संभव होना प्रतीत नहीं होता, फलतः उक्त व्यवहार की सम्पन्नता के लिए कल्पित काल का आकाश से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। काल के समान काल के भेद भी कल्पना-मूलक हैं। पर क्योंकि आकाश अखण्ड और व्यापक है, इसलिये यह व्यवहार काल में भी होता रहता है।

दिक्कृत अनुभव के समान कालकृत अनुभव भी सापेक्ष होता है। काल के आधार पर जो किसी की अपेक्षा छोटा है, वह अन्य की अपेक्षा बड़ा भी है, यह छोटाई-बड़ाई पृथिवी आदि की क्रियाओं के कल्पित 'बिन्दुओं' के आधार पर ही नापी जाती है। इसका यही तात्पर्य है कि कौन धर्मी कितने बिन्दुओं के साथ—न्यून या अधिक—संबन्ध स्थापित कर चुका है। क्योंकि परिणाम या गति निरन्तर चालू है, इसलिए यह भाव [छोटा या बड़ा होना] स्थिर होना संभव नहीं, जो छोटा [कनिष्ठ] हैं, वह सदा छोटा ही है, किसी अवस्था में बड़ा [ज्येष्ठ] नहीं हो सकता, यह स्थिति संभव नहीं। वर्त्तमान भूत, और भविष्यत् वर्त्तमान होता रहता है। यद्यपि वे क्रिया जो एकवार हो चुकी हैं, लौटकर नहीं आसकतीं, समान क्रिया हो सकती हैं पर वे ही दुबारा नहीं आतीं। इसलिए जो हमारे लिए अतीत है वह हमारे लिए दुबारा वर्त्तमान नहीं होगा, पर हमारे लिए भी वह वर्त्तमान रहा है; यदि हमारे लिए नहीं रहा, तो अन्य के लिए रहा है। इसलिए अतीत वर्त्तमान भविष्यत् स्थिर भाव नहीं हैं। जो मेरे लिए वर्त्तमान है वह दूसरे के लिए भूत और भविष्यत् भी है। फलतः काल की सापेक्षता एक निश्चित विचार है, चाहे वह वास्तविक मूलभूत काल हो, या कृत्रिम अथवा व्यावहारिक काल।

पृथिव्यादि दृग्विषयों के समान अन्तःकरण के परिणामों का जो क्रमिक ज्ञान होता है, वह भी काल का विषय है। एक ज्ञान का क्षय होता है दूसरे का उदय, ज्ञान

के इस तिरोभाव और प्रादुर्भाव के क्रम से ही काल के अतीत वर्त्तमान अनागत आदि विभाग बनते हैं। बुद्धि आदि अन्तःकरण का क्रमिक परिणाम क्रिया के समान ही पलटा नहीं जासकता, जो परिणाम या विकार एक वार होजाता है वह फिर लौट नहीं सकता, उसकी स्मृति होसकती है। उसके सदृश अन्य परिणाम होसकते है, पर वही परिणाम फिर दुबारा होना संभव नहीं। इसलिए काल के प्रवाह को पलटा नहीं जासकता। अपने अतीत को अपने ही लिए फिर वर्त्तमान नहीं बनाया जासकता। यद्यपि असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान होता है, पर उस अवस्था में परिणामों का क्रम ओझल हो जाता है और समाहित व्यक्ति—क्रम का अभाव हो जाने से—काल का अतिक्रमण कर जाता है।

इससे यह स्पष्ट होजाता है कि अन्तःकरण के परिणामों के ज्ञान का नाम काल है। ये ज्ञान आदि परिणाम बाह्यवस्तुओं के धर्मान्तर परिणामों का अनुगमन करते हैं। जैसे ही इन्द्रियग्राह्य विषयों में कोई परिणाम होता है,उसके अनुसार अन्तः-करण में भी परिणाम होता है, अन्तःकरण के इन क्रमिक परिणामों का ज्ञान ही वास्तविक काल है। इसलिये प्रत्येक परिणाम या घटना की प्रतीति काल में होती है, यह निश्चित है। यह कहा जा चुका है कि वस्तु की गति को काल का प्रतीक मान लिया गया है। अपनी सुविधा के अनुसार हम किसी भी गति से काम चला लेते हैं, चाहे वह गति पृथ्वी की हो, किसी ग्रह उपग्रह या तारा की हो, घड़ी की सुई या सूर्य-छाया की हो, गति के समान लम्बाई या दूरी आदि को काल का प्रतीक मान लिया गया है। इन सब को अपने अस्तित्व का अवकाश केवल आकाश के आधार पर उपलब्ध है, इसलिए यह दैशिक या कालिक सार्वजनीन व्यवहार आकाश में ही दिशा और काल की प्रति-च्छाया या प्रतिक्षेप का परिणाम है। वस्तुतः हम दिशा या काल के नाम पर आकाश से ही काम लेते हैं। ऐसे ही आधारों पर कपिल ने तत्त्वों में इनकी गणना नहीं की।

सूत्र में पठित 'आदि' पद का अर्थ हमनें प्रारम्भ में 'स्वरूप' किया है। दैशिक और कालिक व्यवहार में निमित्तरूप से इन्द्रियग्राह्य और इन्द्रियातीत तत्त्व अपेक्षित होते हैं। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि का आदर करते हुए 'आदि' पद उन सब पदार्थों का संग्रह करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, ऐसा मान लेने में कोई बाधा नहीं। सूत्रार्थ इसप्रकार होगा—दिक्कृत और कालकृत व्यवहार, आकाश और उससे सम्बन्धित धर्मी अथवा धर्मिगत क्रिया आदि निमित्तों से सम्पन्न होता है। उस व्यवहार के लिये स्वतन्त्र दिक् या काल तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

जिन दार्शनिकों [गौतम, कणाद आदि] ने काल और दिशा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है, वे भी इनके अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए धर्मी

[वस्तु], धर्मान्तरपरिणाम [गुण] अथवा धर्मिगत क्रियाओं [कर्म] के आधार माने जाने की उपेक्षा नहीं कर सके। इसके लिए न्यायदर्शन के द्वितीयाध्याय-प्रथम आह्निक के ३७ से ४१ तक सूत्र द्रष्टव्य हैं। वहां वर्त्तमान काल के अस्तित्व को क्रिया आदि के आधार पर अभिव्यक्त माना गया है। वर्त्तमान की अपेक्षा से अतीत अनागत का व्यवहार होता है। इन्हीं सूत्रों की व्याख्या में वात्स्यायन ने लिखा है—

'नाध्वव्यङ्ग्यः कालः, किन्तर्हि ? क्रियाव्यङ्ग्यः—पततीति। यदा पतनक्रिया व्युपरता भवति स कालः पतितकालः, यदोत्पत्स्यते स पतितव्यकालः, यदा द्रव्ये वर्त्तमाने क्रिया गृह्यते स वर्त्तमानः कालः। ......अर्थसद्भावव्यङ्ग्यश्चायं वर्त्तमानः कालः—विद्यते द्रव्यं विद्यते गुणः विद्यते कर्म—इति।"

इससे स्पष्ट है, काल की अभिव्यक्ति इन दार्शनिकों को भी धर्मी, परिणाम अथवा क्रिया के आधार पर होना अभिमत है। काल, दिशा की नित्यता आदि का व्यवहार औपचारिक ही समझना चाहिए, जैसा कि पूर्व इसी सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है ॥१२॥

अब यथाक्रम महत् आदि के स्वरूप और कार्य का निर्देश सूत्रकार करता है—

अध्यवसायो बुद्धिः ॥१३॥

[अध्यवसायः] अध्यवसाय (निश्चयवृत्ति वाली) [बुद्धिः] बुद्धि है।

सांख्य में महत्तत्व का अपर नाम बुद्धि है। यह अध्यवसायस्वरूप है। अध्यवसाय निश्चय को कहते हैं। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं, प्रत्युत निश्चय कराने वाली बुद्धि होती है। इसलिए जिसकी निश्चयात्मिका वृत्ति है, अथवा जो निश्चयवृत्तिक है वह बुद्धि है, ऐसा कहना चाहिए। निश्चय करना बुद्धि का व्यापार अर्थात् कार्य है। निश्चय, वृत्ति अर्थात् धर्म है और बुद्धि धर्मी है। सूत्र की रचना ऐसी है, जिसमें यह प्रतीत होता है कि यहां धर्म को ही धर्मी कह दिया है। यह दोनों की अभेदभावना से कह दिया गया है। अव्यक्त प्रकृति के अनन्तर यह सर्वप्रथम व्यक्त पदार्थ है, इसीलिए इसका नाम 'महत्' है। निश्चयात्मिका वृत्ति का करण होने से यह बुद्धि है ॥१३॥

अध्यवसाय के अतिरिक्त बुद्धि के अन्य कार्यों का भी सूत्रकार निर्देश करता है—

तत्कार्यं धर्मादि ॥१४॥

[तत्कार्यं] उस (बुद्धि) के कार्य [धर्मादि] धर्म आदि हैं।

धर्म आदि भी बुद्धि के कार्य हैं। आदि पद से ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य का संग्रह हो जाता है। निश्चय अथवा अध्यवसाय बुद्धि का असाधारण कार्य-व्यापार है। उसका प्रथम सूत्र से निर्देश किया है, अन्य धर्म आदि का प्रस्तुत सूत्र में निर्देश है।

ये सब कार्य बुद्धि में उसी समय होते हैं, जब वह सत्त्वगुणप्रधान रहती है ॥१४॥

जब बुद्धि रजस् और तमस् से प्रभावित रहती है, उस समय—

महदुपरागाद् विपरीतम् ॥१५॥

[उपरागात्] (रजस् तमस् के) प्रभाव से [महत्] बुद्धि [विपरीतम्] विपरीत (अधर्म आदि रूप) है।

रजस् और तमस् के उपराग से महत् विपरीत हो जाता है। तब उसमें अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य का उदय हो आता है। रजस्-तमस् से प्रभावित होने पर बुद्धि में अधर्म आदि का उद्रेक होने लगता है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि में इस प्रकार की वृत्ति का उदय, उसमें रजस्तमस् के प्रभाव को प्रकट करता है। अध्यवसाय वृत्ति उस समय भी बराबर हुआ करती है, यही उसकी असाधारणता है ॥१५॥

अब क्रमप्राप्त अहंकार के स्वरूप का सूत्रकार निर्देश करता है—

अभिमानोऽहंकारः ॥१६॥

[अभिमानः] अभिमान वृत्ति वाला [अहंकारः] अहंकार है।

अभिमान अहंकार है। अहंकार का स्वरूप है अभिमान। तेरहवें सूत्र में जैसे धर्म-धर्मी की अभेद भावना से अध्यवसाय को बुद्धि कहा है, वैसे ही यहां अभिमान को अहंकार कहा है। वस्तुतः अभिमानवृत्तिक अहंकार है, ऐसा कहना चाहिए। अभिमान जिसकी वृत्ति है, व्यापार है। 'अहं' भावना का नाम अभिमान है। अहं [मैं] की भावना का जो साधन है, अहं जिसकी वृत्ति है, वह अहंकार कहा जाता है। अहंवृत्तिक होने के कारण ही इसका नाम अहंकार है ॥१६॥

अहंकार के कार्य का निर्देश सूत्रकार करता है—

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥१७॥

[एकादशपञ्चतन्मात्रं] ग्यारह (इन्द्रिय) और पांच तन्मात्र [तत्कार्यम्] उस (अहंकार) का कार्य हैं।

एकादश इन्द्रिय और पांच तन्मात्र, अहंकार के कार्य हैं। ग्यारह इन्द्रियां दो भागों में विभक्त हैं। आन्तर अथवा आभ्यन्तर और बाह्य। आन्तर इन्द्रिय केवल एक है—मन। बाह्य इन्द्रिय दस हैं, जो दो भागों में विभक्त हैं—पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय। पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण। पांच कर्मेन्द्रिय हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। पांच तन्मात्र, पांच सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इनके नाम इनके कार्यों के आधार पर हैं—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र ॥१७॥

कौनसा कार्य किस प्रकार के अहंकार से उत्पन्न होता है, सूत्रकार ने इसका विवेचन किया—

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥१८॥

[वैकृतात्] वैकृत (सात्त्विक) [अहंकारात्] अहंकार से [सात्त्विकं] सत्त्वप्रधान [एकादशकं] ग्यारह (इन्द्रियों) का समूह [प्रवर्त्तते] प्रवृत्त है।

सत्त्वगुणप्रधान अहंकार का नाम वैकृत है। वैकृत अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं। ग्यारह इन्द्रियों का कारण सात्त्विक अहंकार होने से ये भी सात्त्विक हैं। इनका सात्त्विकरूप ज्ञान-ग्राहकता तथा क्रिया-निर्वर्तकता में प्रकट होता है। ज्ञान और क्रिया के प्रकाशक होने से ये सात्त्विक हैं। वैकृत अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन यह स्पष्ट करता है कि तन्मात्रों की उत्पत्ति तामस अहंकार से होती है। जैसे सात्त्विक अहंकार का नाम वैकृत है, इसी प्रकार तामस अहंकार का नाम भूतादि है। कदाचित् इसका भूतादि नाम इसीलिए रक्खा गया हो कि यह भूतों के आदि अर्थात् कारणभूत तन्मात्रों का उत्पादक है। राजस अहंकार का अपर नाम तैजस है। वैसे तो प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, पर कार्यमात्र में गुणों की विषमता के कारण जहां जिस गुण का प्राधान्य होता है, उसीके आधार पर उसका व्यवहार होने लगता है। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक एक अहंकार गुणभेद से विभिन्न कार्यों का उत्पादक हो जाता है। अहंकार के दोनों प्रकार के कार्यों में रजोगुण का पूरा सहयोग रहता है। सत्त्व प्रीत्यात्मक होने से चुम्बकीय आकर्षण का प्रभाव तो रखता है, पर स्वयं अक्रिय होता है। तमस् विषादात्मक होने से स्वतः अक्रिय एवं मूढ है, क्रियाशील रजस् प्रत्येक कार्य में इनका वहन करता है, तथा कार्योत्पादन में सहयोग देता है।

विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि सात्त्विक अहंकार, इन्द्रियों में ग्यारहवें स्थान पर बैठे केवल मन का उत्पादन करता है। शेष दस इन्द्रियां राजस अथवा तैजस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। सूत्र तथा कारिकाओं के उपलब्ध समस्त व्याख्याकारों में केवल विज्ञानभिक्षु ने ऐसा अर्थ किया है। इन्द्रियों में ज्ञान व क्रिया के प्रकाशन की क्षमता देखी जाती है जो सत्त्वगुण की विशेषता है। यदि इन्द्रियों की उत्पत्ति राजस अहंकार से है, तो इन्द्रियों के इस स्वरूप का सामञ्जस्य कैसे बैठाया जाएगा? इन्द्रियों का मुख्य स्वरूप ज्ञान-क्रिया अथवा अर्थ-क्रिया का प्रकाशन है, अतः वे सात्त्विक बताई गई हैं। रजस् का सहयोग तो वहां रहता ही है, क्योंकि प्रत्येक परिणाम सांख्यमतानुसार त्रिगुणात्मक होता है ॥१८॥

ग्यारह इन्द्रियों का निर्देश सूत्रकार स्वयं करता है—

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥१९॥

[कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः] कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के साथ [एकादशकं] ग्यारहवां (इन्द्रिय) [आन्तरं] आन्तर-मन है।

पांच कर्मेन्द्रिय और पांच बुद्धीन्द्रियों के साथ ग्यारहवां आन्तर इन्द्रिय मन

है। बुद्धीन्द्रियों से अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों से है। पांच कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के ज्ञान एवं भोग का साधन होने के कारण इनका नाम इन्द्रिय है ॥१९॥

इन्द्रियों की एक और विशेषता का सूत्रकार उल्लेख करता है—

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥२०॥

[आहंकारिकत्वश्रुतेः] अहंकार से उत्पन्न होने की श्रुति से (इन्द्रियां) [भौतिकानि] भूतों से उत्पन्न हुईं [न] नहीं।

अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियां आहंकारिक हैं, भौतिक नहीं। इस अर्थ की पुष्टि का संकेत शब्द प्रमाण से भी मिल जाता है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न की आठवीं कण्डिका में स्थूल कार्य की ओर से सूक्ष्म कारण की ओर निर्देश करते हुए जो क्रम प्रस्तुत किया गया है, वहां स्थूलभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, अहंकार यह क्रम स्वीकार किया है। इससे यह ध्वनित होता है कि इन्द्रियों का कारण अहंकार होना चाहिए, स्थूल या सूक्ष्म भूत नहीं। इन्द्रियों की रचना के विचार में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन्द्रियां अर्थ-प्रकाशक होने के कारण सत्त्वगुणप्रधान हैं, परन्तु भूतों के निर्माण में तमोगुण की प्रधानता रहती है। इसलिए भूतों को इन्द्रियों का कारण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त सर्ग की सांख्यप्रक्रिया के अनुसार इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हो जाने के अनन्तर भूतों का निर्माण होता है। जब इन्द्रियां प्रकट में आईं; तब तक भूतों का अस्तित्व ही न था, उनकी सत्ता केवल कारणरूप में थी; पर इन्द्रियों का निर्माण अपने रूप में सम्पन्न हो चुका था। तब इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् भूतों का विकार माना जाना संभव नहीं ॥२०॥

वैदिक साहित्य में ऐसे निर्देश उपलब्ध होते हैं, जहां अग्नि में वाक् इन्द्रिय के, आदित्य में चक्षु इन्द्रिय के लय का उल्लेख (बृ० ३।२।१३) किया गया है। प्रायः कारण में कार्य के लय का निर्देश किया जाता है। वाक् और चक्षु के समान अन्य इन्द्रियों का भी कारण अहंकार न होना चाहिए, अन्यथा शब्द प्रमाण से इसका विरोध होगा। सूत्रकार समाधान करता है—

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥२१॥

[देवतालयश्रुतिः] देवता में लय (बताने वाली) श्रुति [आरम्भकस्य] उत्पादक का (निर्देश) [न] नहीं।

देवता पद से व्यवह्रियमाण अग्नि अथवा आदित्य आदि में जो इन्द्रिय का लय, शब्द द्वारा प्रदर्शित किया गया है, वह शब्द अग्नि अथवा आदित्य को इन्द्रिय का आरम्भक [कारण] सिद्ध नहीं करता, क्योंकि कभी किसी वस्तु का अकारण में भी लय देखा जाता है। जैसे पृथ्वी पर जल गिरकर वहीं लीन होजाता है।

वस्तुतः यह औपचारिक लय का निर्देश है, वास्तविक कार्य का कारण में लय नहीं। शब्दप्रमाण के उन्हीं स्थलों में आत्मा का आकाश में तथा श्रोत्र का दिशा में लय बताया गया है, जो कार्यकारणभाव के आधारपर संगत नहीं कहा जासकता। वह केवल अदृश्यता की भावना से किया गया उल्लेख है। इसलिए ऐसे कथनों के आधार पर उनके अनुसार इन्द्रियों की कारणता का निर्णय नहीं किया जा-सकता ॥२१॥

इसके विपरीत इन्द्रियों की अहंकार से उत्पत्ति में शब्द प्रमाण है, तथा उन-का विनाश भी अहंकार में लय होना जाना जाता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥२२॥

[तदुत्पत्तिश्रुतेः] अहंकार से (इन्द्रियों की) उत्पत्ति की श्रुति से [च] और (इन्द्रियों का अहंकार में) [विनाशदर्शनात्] लय देखे जाने से।

अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इस अर्थ के शब्दप्रमाण द्वारा पुष्ट होने से तथा अहंकार में इन्द्रियों का लय देखे जाने से यह निश्चित होता है कि इन्द्रियां आहङ्कारिक हैं, भौतिक नहीं। अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द प्रमाण का संकेत बीसवें सूत्र पर कर दिया गया है ॥२२॥

इन्द्रियसम्बन्धी अन्य विशेषता का उल्लेख सूत्रकार करता है—

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥२३॥

[इन्द्रियं] इन्द्रिय [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय है [अधिष्ठाने] गोलक में (इन्द्रिय प्रतीति) [भ्रान्तानां] भ्रान्तों की है।

इन्द्रिय अतीन्द्रिय है, किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं होता। इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों के अधि-ष्ठान गोलकों में इन्द्रियप्रतीति, भ्रान्त व्यक्तियों को होती है। अभिप्राय यह है कि गोलकों को इन्द्रिय समझकर यह कहना कि इन्द्रियों का इन्द्रियान्तर से ग्रहण हो-जाता है, सर्वथा भ्रान्ति है। गोलक तो इन्द्रियों के रहने का स्थानमात्र है, स्वयं इन्द्रिय नहीं। इसलिए इन्द्रियों का अतीन्द्रिय होना सिद्ध होता है ॥२३॥

सांख्य में ग्यारह इन्द्रियां स्वीकार की गई हैं। शिष्य आशंका करता है — एक ही इन्द्रिय मानने पर शक्तिभेद से उसी इन्द्रिय द्वारा समस्त विषयों का ग्रहण होसकेगा, फिर इतनी इन्द्रियां मानना व्यर्थ है। सूत्रकार समाधान करता है—

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥२४॥

[शक्तिभेदे] शक्तिभेद होने पर [अपि] भी [भेदसिद्धौ] भेद सिद्ध हो-जाने पर [एकत्वं] एक होना (इन्द्रिय का) [न] नहीं।

इन्द्रिय एक मानकर यदि उसकी भिन्न शक्तियों के द्वारा विभिन्न विषयों

का ग्रहण स्वीकार किया जाता है, तो जितने विषय हैं, उनके अनुसार उस इन्द्रिय के शक्तिभेद मानने होंगे, फिर इसी रूप में इन्द्रियों का भेद सिद्ध होगया, उनका इन्द्रिय नाम न रखकर शक्तिभेद कह दिया गया। इसप्रकार विषयग्रहण के लिए शक्तिभेद मानने पर भी साधन की अनेकता सिद्ध होजाती है, तब इन्द्रिय का एक कहना संभव नहीं होसकता। समस्त विषयों का इन्हीं इन्द्रियों से ग्रहण होजाने के कारण अधिक की कल्पना भी अप्रामाणिक है। इसलिए यह निश्चित होता है, कि इन्द्रिय ग्यारह हैं ॥२४॥

इसी अर्थ को सूत्रकार प्रकारान्तर से दृढ़ करता है—

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

[प्रमाणदृष्टस्य] प्रमाण से सिद्ध का [कल्पनाविरोधः] कल्पना द्वारा विरोध [न] नहीं।

जो वस्तु प्रमाण द्वारा निश्चित है, केवल कल्पना के आधार पर उसका विरोध नहीं किया जासकता। ग्राह्य विषय का वर्गीकरण, शरीररचना तथा क्रियाओं के आधार पर ग्यारह इन्द्रियां निश्चित की गई हैं। केवल कल्पना के आधार पर इनको न्यून या अधिक बताना सर्वथा अप्रामाणिक है ॥२५॥

बाह्य इन्द्रियों का प्रतिपादन कर सूत्रकार आन्तर इन्द्रिय के सम्बन्ध में कहता है—

उभयात्मकं मनः ॥२६॥

[मनः] मन [उभयात्मकं] उभयात्मक है।

समस्त इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ इसका सम्पर्क रहता है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मन के सहयोग के विना अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। प्रत्येक इन्द्रिय से आलोचित वस्तु—यह ऐसी है अथवा ऐसी नहीं है—इस रूप में मन द्वारा संकल्पित होती है। इसप्रकार मन का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्पर्क रहने से वह उभयात्मक कहा जाता है। विषय के साथ सीधा सम्बन्ध होना ही इन्द्रिय की विशेषता है। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है, इसलिए ये बाह्य इन्द्रियां हैं। साधारण रूप में ज्ञानादि के लिए बाह्य साधन की दृष्टि से इनको 'बाह्यकरण' भी कहा जाता है। परन्तु मन, अहंकार तथा बुद्धि का साधारण अर्थ-ग्रहण में कभी भी बाह्य विषयके साथ सीधा सम्पर्क नहीं रहता, इसलिए इन तीनों को अन्तःकरण कहा जाता है। स्मृति आदि स्थलों में मन का आन्तर विषय के साथ सीधा सम्पर्क रहने से मन को आन्तर इन्द्रिय माना गया है। करण और इन्द्रिय दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है, इस रूप में भी इसे उभयात्मक कहा जासकता है ॥२६॥

एक ही अहंकार से उपर्युक्त रूप में विविध इन्द्रियों का उत्पादन कैसे हो-

जाता है ? सूत्रकार इसका समाधान करता है—

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥

[गुणपरिणामभेदात्] गुणों के परिणाम-विशेष से [नानात्वं] अनेकता-विभिन्नता है (इन्द्रियों की) [अवस्थावत्] अवस्था के समान।

सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के परिणामविशेष के कारण नाना इन्द्रियों की उत्पत्ति होजाती है। गुणपरिणाम इतना विचित्र एवं चमत्कारपूर्ण है, कि गुणों की विषमता अर्थात् न्यूनाधिकता की विशेषता से इनके विचित्र परिणाम होते रहते हैं। इसप्रकार एक ही अहंकार, सत्त्व आदि गुणों के परिणामविशेष के कारण विविध इन्द्रियों को उत्पन्न करदेता है। जिनमें रूपादि विभिन्न विषयों के ग्रहण का सीमित सामर्थ्य निहित रहता है। चक्षु रूप को ही ग्रहण करसकती है, श्रोत्र केवल शब्द को। अन्य विषय का ग्रहण इनके द्वारा नहीं किया जासकता। जैसे एक ही देह का बाल्य, कौमार, यौवन, वार्द्धक्य आदि अवस्थाओं के रूप में विविध परिणाम होता है, ऐसे ही एक अहंकार अनेक-रूप सृष्टि कर देता है। यह केवल इन्द्रिय-सर्ग में नहीं, भूतादि नामक तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्ररूप विविध सृष्टि होती है। यह सब गुणपरिणाम की विशेषता का ही चमत्कार है ॥२७॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के विषय का निरूपण करता है—

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥२८॥

[उभयोः] दोनों प्रकार (की इन्द्रियों) के (विषय) [रूपादिरसमलान्तः] रूप से लगाकर रसमल (पुरीष) पर्यन्त हैं।

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का विषय रूप से लगाकर रसमल अर्थात् पुरीष पर्यन्त समझना चाहिए। चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, रसन, घ्राण—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों का विषय यथाक्रम रूप, स्पर्श, शब्द, रस, गन्ध है। वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा—इन पांच कर्मेन्द्रियों का विषय क्रमानुसार बोलना, लेना देना पकड़ना, चलना, आनन्द और मलोत्सर्जन है ॥२८॥

इन्द्रियां करण हैं और जिसके करण हैं, सूत्रकार निर्देश करता है—

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥२९॥

[द्रष्टृत्वादिः] द्रष्टृत्व आदि धर्म [आत्मनः] आत्मा के हैं [करणत्वं] करण-साधन होना [इन्द्रियाणां] इन्द्रियों का (धर्म) है।

समस्त इन्द्रियां करण हैं, किसी के साधन हैं। कहा जासकता है कि सब इन्द्रियों की यह एकसमान स्थिति है कि वे किसी के साधनमात्ररूप में उपस्थित होती हैं। चक्षु साधन बनकर रूप को जिसके लिए प्रस्तुत करता है, वह इसका द्रष्टा है। द्रष्टृत्व अर्थात् द्रष्टा होना, आत्मा का स्वरूप है। आदि शब्द से श्रोता स्पर्शयिता, रसयिता, घ्राता आदि रूप में सब इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने

वाला अथवा भोगने वाला आत्मा है, यह समझना चाहिए। जैसे करण-साधन होना इन्द्रियों का स्वरूप है, ऐसे ही द्रष्टा, श्रोता, भोक्ता, कर्त्ता आदि होना आत्मा का स्वरूप है ॥२६॥

तीनों अन्तःकरणों के असाधारण व्यापार का निर्देश करता है—

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥३०॥

[त्रयाणां] तीन (अन्तःकरणों) का [स्वालक्षण्यम्] स्वलक्षण होना (धर्म अथवा व्यापार है)।

महत् अहंकार और मन इन तीनों अन्तःकरणों का अपना-अपना जो विशेष लक्षण है, वही इनका असाधारण व्यापार है। अध्यवसायवृत्तिक महत्तत्त्व है। उसकी असाधारण वृत्ति अध्यवसाय है। इसीप्रकार अभिमान अहंकार का तथा संकल्प मन का असाधारण व्यापार है ॥३०॥

समस्त करणों की असाधारण वृत्ति का उल्लेख कर सूत्रकार उनकी साधारण वृत्ति का निर्देश करता है—

सामान्या[1] करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥३१॥

[प्राणाद्याः] प्राण आदि [पञ्च] पांच [वायवः] वायु [सामान्या]

---

१. सांख्यदर्शन की मुद्रित पुस्तकों में इस सूत्र के प्रथम दो पदों का समास किया हुआ पाठ उपलब्ध होता है। इस सूत्र का प्राचीन वास्तविक पाठ यही है, जो हमने दिया है। ईश्वरकृष्ण ने कारिकाओं की रचना के समय, जो सांख्यसूत्रों के आधार पर बनाई गई हैं इस सूत्र के प्रथम दो पदों को समस्त करके आर्या[२६]का उत्तरार्द्ध बना दिया। अनन्तर काल में कारिकाओं का प्रचलन पठन-पाठन में अधिक रहा। उसी संस्कार के आधार पर सांख्यसूत्रों के अध्येता व्यक्तियों ने सूत्र का पाठ भी कारिकानुसार बना डाला। यह सूत्र 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' [२।४।६] इस वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य में उद्धृत किया गया है। वहां यही पाठ है, और समस्त भारत तथा विदेशों में मुद्रित शांकरभाष्य के प्रामाणिक संस्करणों में इसी पाठ को स्वीकार किया है। परन्तु आधुनिक भाषा के संस्करणों में शांकरभाष्य के इस पाठ को भी कारिका के अनुसार बनाकर अशुद्ध कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय,बनारस तथा ब्रह्मचारी विष्णुकृत हिन्दी अनुवाद,वेदान्त केसरी कार्यालय, आगरा के संस्करणों का नाम लिया जा सकता है। यह निश्चित बात है, कि इस ग्रन्थ के सम्पादक तथा संशोधक महानुभावों ने बाल्यकाल से कारिका के पाठ का अभ्यास होने के कारण इस पाठ को कारिकानुसारी बना दिया है। उन्होंने शांकरभाष्य के पाठ के महत्त्व को नहीं समझा। सांख्यदर्शन के मुद्रित पुस्तकों में जो आज इस सूत्र का कारिकानुसारी पाठ मिलता है, वह भी इसी प्रकार भ्रष्ट किया गया है।

साधारण [करणवृत्तिः] करणवृत्ति-करणों का व्यापार हैं।

प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पांचों प्राण, जो वायुरूप हैं, सब करणों की साधारण वृत्ति हैं। पांचों प्राण समस्त करणों का साधारण व्यापार हैं। करण तेरह हैं, ग्यारह इन्द्रियां, अहंकार और बुद्धि। अड़तीसवें सूत्र में इनका प्रतिपादन किया गया है। इन सबका अस्तित्व, प्राणों का प्रयोजक होने से प्राण इन सब का व्यापार माना गया है। यदि दो-एक करण का अथवा अधिक का भी अस्तित्व न रहे, तो कुछ करणों के अस्तित्व में भी प्राण-व्यापार बराबर चलता रहता है।

सांख्यसप्तति की उनत्तीसवीं आर्या में, जहां इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने उसकी व्याख्या करते हुए, पांचों प्राणों को तीन अन्तःकरण का ही सामान्य व्यापार बताया है, बाह्य इन्द्रियों का नहीं। उसी का अनुकरण करते हुए इस सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने भी प्राण आदि को तीन अन्तःकरणों की सामान्यवृत्ति माना है। उक्त आर्या की सांख्यतत्त्वकौमुदी पर टिप्पणी करते हुए बालराम उदासीन ने लिखा है, कि सुषुप्ति में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का उपसंहार होने पर भी प्राण-व्यापार बराबर देखा जाता है, इसलिए प्राण आदि को बाह्य इन्द्रियों का व्यापार न मानकर अन्तःकरण का ही व्यापार मानना ठीक है। पर सुषुप्ति में तो बाह्य इन्द्रियों के समान अन्तःकरण का भी उपसंहार रहता है। तथा उन्मत्त एवं मूढ अवस्था में अन्तःकरण भी विकृत होजाता है, पर उस अवस्था में भी प्राण-व्यापार बराबर बना रहता है। वस्तुतः सुषुप्ति आदि में प्रत्येक करण का अस्तित्व बना रहता है, केवल उसके असाधारण व्यापार का अवरोध होता है। जीवनानुकूल प्राणवृत्ति तो, जो समस्त करणों की साधारणवृत्ति है, बराबर बनी रहती है। अन्ध बधिर आदि अवस्था में भी चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियां बराबर बनी रहती हैं, केवल उनके बाह्य गोलक नष्ट हो जाते हैं, फलस्वरूप उनका असाधारण बाह्य व्यापार नहीं रहता। इसलिए उस अवस्था में भी प्राण-व्यापार के बराबर बने रहने में कोई आपत्ति नहीं। इस आधार पर वेदान्त सूत्र [२।४।६] की भामती में वाचस्पति मिश्र ने प्राण आदि को सांख्य-सिद्धान्त से समस्त करणों का साधारण व्यापार मानकर उसके प्रत्याख्यान का यत्न किया है, तथा योगसूत्र [३।३९] की तत्त्ववैशारदी में, 'समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं' इस व्यासभाष्य की व्याख्या करते हुए, प्राण आदि को समस्त करणों का व्यापार लिखा है। फलतः सांख्यसप्तति की उनत्तीसवीं आर्या पर वाचस्पति मिश्र का लेख चिन्त्य है। वस्तुतः उनत्तीसवीं आर्या के 'सैषा भवत्यसामान्या' पदों का सम्बन्ध मिश्र ने उसी आर्या के प्रथम चरण के साथ समझा, जबकि उसका सम्बन्ध अट्ठाईसवीं आर्या के साथ भी है। इसप्रकार समस्त करणों के असाधारण व्यापार को बताकर, उनत्तीसवीं आर्या के उत्तरार्द्ध से उन्हीं

समस्त करणों के साधारण व्यापार का निर्देश किया गया है। इसप्रकार पांच प्राण समस्त करणों के व्यापार हैं, केवल अन्तःकरण के नहीं ॥३१॥

अब इन्द्रियवृत्तियों की कुछ विशेषताओं का निरूपण किया जाता है। क्या इन्द्रियवृत्ति सदा क्रमशः होती हैं, अथवा कभी युगपत् भी हो जाती हैं? सूत्रकार बताता है—

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥३२॥

[इन्द्रियवृत्तिः] इन्द्रियों का व्यापार [क्रमशः] क्रमवार [च] और [अक्रमशः] विना क्रम-युगपत् (होता है)।

इन्द्रियवृत्ति क्रमशः होती है। किसी वस्तु के सन्मुख होनेपर चक्षु से उसका आलोचनमात्र होता है। तदनन्तर मन उसके विषय में संकल्प करता है, यह क्या वस्तु है। पुनः अहंकार अपने साथ उसके सम्बन्ध की भावना करता है, अन्त में बुद्धि उसका निश्चय करती है। जैसे झुटपुटे में कोई वस्तु दीखी, यह चक्षु का व्यापार है। उसके अनन्तर यह संकल्प हुआ, कि यह चोर है, या और कुछ? यह संकल्प मन का व्यापार है। पुनः अपने साथ उसके सम्बन्ध की भावना होती है, कि यह मेरी ओर आ रहा है, अथवा यह मेरी किसी वस्तु को उठा रहा है, यह अहंकार का व्यापार है। अन्त में यह निर्णय होता है, कि यहां से हटजाना चाहिए, अथवा यह चोर है, इसे पकड़ लेना चाहिये, यह बुद्धि का व्यापार है। इसप्रकार किसी भी विषय में इन्द्रियों का व्यापार क्रमशः होता है। यद्यपि इस क्रम के निर्देश में अहंकार और बुद्धि इन्द्रिय नहीं हैं, और सूत्र में इन्द्रियवृत्ति की ही क्रमिकता अथवा अक्रमिकता का उल्लेख है। तथापि एकादश इन्द्रियों के बृहत् समुदाय के साथ अहंकार और बुद्धि का भी समावेश कर लिया है।

कभी-कभी इन्द्रियवृत्ति युगपत् भी होजाती है। जंगल तथा अन्धेरे में जाते हुए अचानक बिजली चमकने अथवा अन्य आकस्मिक आलोक से अपने सन्मुख बघेरे या सांप या अन्य किसी अति भयावह वस्तु को देखते ही व्यक्ति भाग खड़ा होता है। ऐसे अवसर पर आलोचन चक्षु से, संकल्प मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि से सहसा होजाता है। ऐसे इन्द्रियव्यापार को अक्रमिक अथवा युगपत् कहा जाता है। वस्तुस्थिति यह है, कि इन्द्रियव्यापार यहां भी युगपत् नहीं होता, वह क्रमपूर्वक ही होता है, पर इतनी शीघ्रता के साथ होजाता है, कि भयादि के कारण उस क्रम को पकड़ा नहीं जाता। जैसे कमल की बहुत सी पंखुड़ियों में सुई छेदने से सब पंखुड़ियां एक साथ ही बिंधी हुई प्रतीत होती हैं, पर वस्तुतः ऊपर की एक पंखड़ी को बींधने के बाद ही सुई दूसरी पंखड़ी में जाती है। इस भावना को ध्वनित करने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में 'क्रमशः' पद को ही मुख्य रूप में प्रथम रक्खा है। आपाततः प्रतीयमान अक्रमिकता को गौणरूप में दिखलाने के लिए अनन्तर

'अक्रमशः' पद का निर्देश है। आगे 'च' पद समुच्चय के अर्थ में है, जो इन्द्रियवृत्ति के अक्रम को केवल व्यावहारिक आधार पर होने से उसकी औपचारिकता को अधिक दृढ़ करता है।

इस प्रसंग में विज्ञानभिक्षु का कहना है, कि एक समय में एक इन्द्रियवृत्ति होती है, उसके अनन्तर दूसरी। चक्षुवृत्ति के अनन्तर श्रोत्रादिवृत्ति होगी। यह इन्द्रियवृत्ति की क्रमिकता के उदाहरणस्थल हैं। जब साधन-सामग्री उपस्थित होने पर एक ही समय में अनेक इन्द्रियवृत्ति होजाती हैं, चक्षु श्रोत्र रसन त्वक् एक साथ ही शष्कुलीभक्षण आदि स्थल में व्यापृत होती हैं, यह इन्द्रियवृत्ति की अक्रमिकता का उदाहरण है। वह वृत्ति की क्रमिकता अक्रमिकता के इस प्रसंग में अहंकार और बुद्धि का समावेश नहीं करना चाहता, वह केवल इन्द्रियवृत्ति के सम्बन्ध में इस निर्देश को मानता है, इसलिए कि सूत्रकार अक्रमिकता का प्रतिपादन कर मन की अणुता का प्रतिषेध करना चाहता है, और मध्यम परिमाणता का प्रतिपादन। पर वस्तुतः विज्ञानभिक्षु का यह विचार युक्त प्रतीत नहीं होता। इसमें दो आपत्ति बहुत प्रबल हैं। प्रथम यह है, कि यदि मन को मध्यम परिमाण मानने का प्रभाव यह होता है, कि वह एक समय में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है, अणु मानने पर ऐसा नहीं होसकता, तो सदा ही युगपत् वृत्ति होनी चाहिए, क्रमिक वृत्ति का अवकाश ही नहीं रहता। क्योंकि मध्यमपरिमाण मन का प्रतिक्षण प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्पर्क बराबर बना रहेगा। यह स्थिति अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। दूसरी आपत्ति यह है, सांख्यसूत्र [३।१४] में मन को साक्षात् अणुपरिमाण कहा है। यदि अणु का अभिप्राय परिच्छिन्न है, और उस अवस्था में मन को मध्यम परिमाण मानने पर भी सूत्र का विरोध नहीं रहता, तो भी सांख्य में मन की ऐसी स्थिति कदापि प्रतिपादित नहीं की गई, जिससे यह स्पष्ट होसके, कि मन एक समय में लौकिक विषयग्रहण के लिए अनेक इन्द्रियों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। सांख्य में जिस भावना से मन के मध्यम परिमाण होने की कल्पना की जाती है, उस दृष्टि से इन्द्रियों की स्थिति भी वैसी ही है। यह निश्चित है, कि सांख्य लौकिक प्रत्यक्ष में एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ मन का सम्पर्क स्वीकार करता है। पूरी या परांवठे को बत्तीसी बनाकर, हाथ में पकड़, काट-काटकर खाना 'शष्कुलीभक्षण' है। कहा जाता है, इस में छः इन्द्रियां का एक साथ व्यापार होरहा है। हाथ में पकड़ने से एक कर्मेन्द्रिय का व्यापार, स्पर्श रहने से त्वक् का व्यापार, काटते समय नासिका के आगे गन्धग्रहण से घ्राण का व्यापार, चबाते समय उत्पन्न हुए ध्वनि का ग्रहण होने से श्रोत्र का व्यापार, उसे देखते रहने से चक्षु का व्यापार और चबाने में रसास्वादन से रसनेन्द्रिय का व्यापार होता है। भिक्षु के विचार से यहां एक ही समय में इन समस्त इन्द्रियों के साथ मनका सम्पर्क है, और ये इन्द्रियवृत्ति

युगपत् होरही हैं। पर यहां तक सम्बन्ध मानकर ही कार्य पूरा नहीं होजाता। मन के साथ अहंकार और तब बुद्धि का सम्बन्ध माने विना किसी भी अर्थ का निश्चय होना अशक्य है।

वस्तुतः सूत्र के 'अक्रमशः' पद से प्रतिपादित विचार को सांख्य का मुख्य सिद्धान्त समझ कर भिक्षु ने धोखा खाया है। शष्कुलीभक्षण स्थल में भी इन्द्रियवृत्तियां क्रमिक ही होती हैं। आंख से देखना, त्वक् से छूना, हाथ से उठाना, मुख में देने के लिए नाक के आगे लाना, काटकर चबाना और रसास्वादन करना, यह सब इन्द्रियों का क्रम है, इसी के अनुसार वृत्तिलाभ होता है। क्रमिकता की ओर ध्यान न देने से युगपद्भावना की केवल भ्रान्ति है। क्रमिक और अक्रमिक के उदाहरण चाहे कोई हों, पर इन्द्रियवृत्ति की क्रमिकता सर्वत्र मुख्य सिद्धान्त है, अक्रमिकता का केवल लौकिक व्यवहार के आधार पर औपचारिक वर्णन है ॥३२॥

वृत्तियों की अन्य विशेषता का सूत्रकार प्रतिपादन करता है—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥३३॥

[क्लिष्टाऽक्लिष्टाः] क्लेश देनेवाली और क्लेश न देनेवाली [पञ्चतय्यः] पांच प्रकार की [वृत्तयः] वृत्तियां हैं।

समस्त तेरह करणों की पृथक्-पृथक् विशेष वृत्तियों तथा सब की मिलित सामान्यवृत्ति का एवं उनकी कुछ विशेषता का यथावसर प्रतिपादन किया गया। उन्हीं वृत्तियों की एक अन्य विशेषता का इस सूत्र से प्रतिपादन किया जाता है। तेरह करणों की जो पृथक् विशेष वृत्ति हैं, उन में तीन अन्तःकरणों की वृत्ति स्वतन्त्ररूप से सीधे किसी बाह्य अर्थ को विषय नहीं करती। प्रत्युत बाह्य इन्द्रियों द्वारा जो विषय उपस्थित किया जाता है, अन्तःकरणों का व्यापार उसी पर आश्रित रहता है। बाह्य इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय हैं। कर्मेन्द्रियों का केवल क्रियारूप व्यापार होता है, जिसका सीधा प्रभाव आत्मा तक नहीं पहुंचता, प्रत्युत ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पहुंचता है। इसप्रकार मुख्यरूप से पांच ज्ञानेन्द्रियवृत्तियां हैं, जो क्लिष्ट अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती हैं। बाह्य अर्थ के अनुसार जो इन्द्रियवृत्तियां आत्मा में अनुकूल अनुभूति की जनक हैं वे अक्लिष्ट हैं-क्लेश न देनेवाली-सुखद। इसके विपरीत जो प्रतिकूल अनुभूति की जनक हैं, वे क्लिष्ट हैं—क्लेश देनेवाली—दुःखद। इसप्रकार आत्मा का समस्त सांसारिक सुख-दुःख भोग, इन्हीं पांच इन्द्रिय-वृत्तियों द्वारा सम्पन्न होता है। जब समस्त बाह्यार्थविषयक इन्द्रियवृत्तियों को दुःखपक्ष में डाल दिया जाता है, तब ये सब क्लिष्ट हैं। केवल समाधिवृत्तियां अक्लिष्ट रह जाती हैं।

इसीप्रकार की आनुपूर्वी का एक सूत्र योगदर्शन में भी है। पर अर्थ-दृष्टि से यहां उसका कोई संकेत नहीं। अभी तक उपलभ्यमान व्याख्याओं में इस सूत्र का

व्याख्यान उसी सूत्र के सामञ्जस्य के अनुसार किया गया है। पर वस्तुतः यहां योग-दर्शन के सूत्र की कोई तुक बैठती नहीं। वहां जिन पांच वृत्तियों का उल्लेख है, प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई सामञ्जस्य नहीं है। यहां जिन इन्द्रियवृत्तियों का प्रकरण चल रहा है, उसी के अनुसार सूत्र का अर्थ किया जाना चाहिए। यह बात अलग है कि योगसूत्रोक्त वृत्तियां, प्रस्तुत इन्द्रियवृत्तियों से अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व न रखती हों ॥३३॥

पूर्वोक्त इन्द्रियवृत्तियां क्लिष्ट अक्लिष्ट रूप में आत्मा के समस्त भोगों को प्रस्तुत करती हैं। पर इनके शान्त होजाने पर आत्मा की क्या स्थिति होतीहै? सूत्र-कार बताता है—

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥३४॥

[तन्निवृत्तौ] इन्द्रियवृत्तियों के निवृत्त होजाने पर [उपशान्तोपरागः] विषयों का प्रभाव शान्त होने से [स्वस्थः] अपने में आत्मा स्थित होता है।

इन्द्रियवृत्तियां जब क्लेशहेतु अथवा अक्लेशहेतु रूपमें आत्मा के लिए भोग प्रस्तुत करती रहती हैं, उस समय आत्मा वृत्तिसरूप रहता है। पर जब इन्द्रिय-वृत्तियां निवृत्त होजाती हैं, सांसारिक विषयों की ओर कोई आकर्षण नहीं रहता, तृष्णा के न रहने से आत्मा पर बाह्य विषयों का प्रभाव होना शान्त होजाता है, तब आत्मा स्वरूप में अवस्थित होता है। चेतन में अचेतन तथा अचेतन में चेतन की भावना जो अविवेक के कारण रहती है, वह न रहकर चेतन में चेतन की भावना होना ही आत्मा का स्वरूप में अवस्थित होना है। यह स्थिति, समाधिलाभ के अनन्तर आत्मसाक्षात्कार होने पर प्राप्त होती है, जब समस्त वैषयिक इन्द्रियवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं ॥३४॥

इसी अर्थ को सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाता है—

कुसुमवच्च मणिः ॥३५॥

[मणिः] स्वच्छ स्फटिक [च] जैसे [कुसुमवत्] फूल के समान (प्रतीत होता है)।

जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि, फूल के सम्पर्क में फूल के समान लाल, नीली या पीली प्रतीत होती है। पर फूल के हट जाने पर वह अपने स्वरूप में स्वच्छ प्रतीत होने लगती है। उसके वास्तविक स्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं आता। इसी-प्रकार चेतनस्वरूप आत्मा को इन्द्रियवृत्तियों से प्रभावित होकर चेतन में अचेतन तथा अचेतन में चेतन की प्रतीति हुआ करती है। पर समाधिलाभ द्वारा इन्द्रिय-वृत्तियों के हट जाने से वह अपने चेतनस्वरूप का साक्षात्कार करता है। उसके अपने इस वास्तविक स्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं आता। वृत्तिसरूपता में भी उसका चेतनस्वरूप तदवस्थ रहता है। वृत्तियों का हट जाना ही उसका स्वरूप में

अवस्थित होना कहा जाता है। 'च'कार पूर्वसूत्र के साथ दृष्टान्त द्वारा अर्थ-सम्बन्ध को प्रकट करता है ।।३५।।

यदि करणव्यापार पुरुष के लिए क्लेश का हेतु है, तब करणों की प्रवृत्ति क्यों होती है ? सूत्रकार बताता है—

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।।३६।।

[अदृष्टोल्लासात्] अदृष्ट के प्रभाव से—प्रकट में आने से [अपि] ही [करणोद्भवः] करणों का व्यापार [पुरुषार्थं] पुरुष-चेतन आत्मा के लिए है।

अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म की अभिव्यक्ति से, पुरुष के भोग तथा अपवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए करणों की प्रवृत्ति होती है। अनादि काल से आत्मा इसी क्रम में चला आरहा है। इसने जो कुछ शुभ-अशुभ कर्म किए होते हैं, उसी के अनुसार करणों की प्रवृत्ति होती रहती है, जो पुरुषार्थ के साधक हैं। यद्यपि इन्द्रियवृत्तियां क्लेशहेतुक कही गई हैं, फिर भी इस स्थिति में आए विना आत्मा के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि नहीं होती। करणव्यापार का यही प्रयोजन है। सूत्र में 'अपि' पद अवधारण अर्थ में है ।।३६।।

पुरुषार्थ के लिए करणरूप में प्रकृति की प्रवृत्ति को सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करता है—

धेनुवद्वत्साय ।।३७।।

[वत्साय] बच्छे के लिए [धेनुवत्] गाय के समान (आत्मा के लिए इन्द्रियादि रूप में प्रकृति की प्रवृत्ति होती है)।

बछड़े के लिए गौ जैसे दूध प्रस्रवित करती है, ऐसे पुरुषार्थ के लिए समस्त करण प्रवृत्त होते हैं। पुत्रस्नेह की भावना से अनुप्राणित गो-चेतन पयःप्रवृत्ति का निमित्त है। गौ-आत्मा से प्रेरित पय वत्स के लिए प्रवृत्त होता है। इसीप्रकार सर्वनियन्ता चेतन से प्रेरित अचेतन करण, पुरुषार्थ के लिए प्रवृत्त रहते हैं ।।३७।।

अभी तक करणों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया, पर ये करण हैं कितने ? सूत्रकार बताता है—

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।।३८।।

[अवान्तरभेदात्] अवान्तर भेद से [त्रयोदशविधं] तेरह प्रकार का [करणं] करण है।

तेरह प्रकार के करण हैं, अवान्तर भेद से। मुख्य करण एक बुद्धि है। उसीका परिणाम अहंकार है। अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां परिणत होजाती हैं। इसप्रकार बुद्धि के ही अवान्तर भेद ये कहे जासकते हैं। सूत्र में 'विध' का प्रयोग करणों के समस्त अवान्तर भेदों का प्रकार बताने के लिए है। वे प्रकार केवल तेरह हैं। वैसे तो आत्माओं के अनन्त होने के कारण और प्रत्येक आत्मा के साथ

करणों का पृथक् सम्बन्ध रहने के कारण व्यक्तिरूप से इनको भी अनन्त कहा जासकता है। ये तेरह प्रकार करण के स्पष्ट हैं—बुद्धि, अहंकार, मन ये तीनों अन्तःकरण ; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय मिलाकर दस बाह्यकरण हैं। अन्तःकरण और बाह्यकरण मिलाकर तेरह हैं ॥३८॥

पुरुष के लिये सब विषयों को सीधा समर्पित करने में केवल बुद्धि को करण कहना चाहिए। इन्द्रियों को करण क्यों कहा जाता है ? सूत्रकार बताता है—

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ॥३९॥

[साधकतमत्वयोगात्] अतिशय साधन होने के सम्बन्ध से [इन्द्रियेषु] इन्द्रियों में (करण व्यवहार हाता हैं) [कुठारवत्] कुल्हाड़े के समान।

यह ठीक है कि बुद्धि पुरुष के लिए विषय को सीधा समर्पित करती है, परन्तु प्रत्येक बाह्य विषय के बुद्धि तक पहुंचने में इन्द्रियों का अतिशय सहयोग है; इसीलिए इन्द्रियों को करण माना गया है। बुद्धि का बाह्य विषय के साथ कभी सीधा सम्पर्क नहीं होता। इस कार्य को इन्द्रियां ही सम्पन्न करती हैं। जैसे लकड़ी काटने में कुल्हाड़े का उपयोग है; पर लकड़ी कटने का सीधा सम्बन्ध प्रहार से है। कुल्हाड़ा यदि पास में रक्खा रहे, वेगपूर्वक लकड़ी पर उसका प्रहार न किया जाए, तो लकड़ी कट नहीं सकती। यद्यपि यहां 'कटना' क्रिया से सीधा सम्बन्ध प्रहार का है, पर यदि कुल्हाड़ा न हो तो प्रहार की संभावना ही नहीं होसकती; इसलिए कुल्हाड़ा लकड़ी काटने का साधन माना जाता है। इसीप्रकार आत्मा के साथ विषय-समर्पण की दृष्टि से बुद्धि का सीधा सम्पर्क होने पर भी इन्द्रियों के विना कोई बाह्य विषय बुद्धि तक पहुंच नहीं सकता; इसलिए पुरुषार्थ के सम्पादन में उनका आवश्यक सहयोग होने के कारण उनको करण माना गया है ॥३९॥

इन्द्रियां ग्यारह हैं। क्या उनमें सबकी स्थिति एक समान है, या कुछ गौण-प्रधान भाव भी है ? सूत्रकार बताता है—

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥४०॥

[द्वयोः] दोनों (आन्तर-बाह्य) प्रकार की इन्द्रियों में [मनः] मन (आन्तर इन्द्रिय) [प्रधानं] मुख्य है। [भृत्यवर्गेषु] भृत्य वर्गों में [लोकवत्] लोक में जैसे (होता है अथवा देखा जाता है)।

आन्तर और बाह्य भेद से इन्द्रियां दो प्रकार की हैं, यह प्रतिपादन किया जाचुका है [१।२८॥२।१९]। आन्तर इन्द्रिय एक मन है, और शेष दस इन्द्रियां बाह्य हैं। इन दोनों में मन प्रधान अर्थात् मुख्य माना गया है। जैसे लोक में किसी राजा के अनेक भृत्यवर्ग होते हैं। उनका कार्य पृथक् बंटा होता है। सब अपना-अपना कार्य सम्पन्न कर अपने मुख्य राजभृत्य को सौंप देते हैं, वह उस कार्य को राजा तक

पहुँचाने का प्रबन्ध करता है। इसीप्रकार चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का अपना-अपना विषय नियत है। ये सब इन्द्रियां अपना-अपना कार्य मन को सौंपती रहती हैं। मन उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की प्रत्येक इन्द्रिय के साथ आवश्यकतानुसार उसका सम्पर्क हुआ करता है। वह उस कार्य को आगे पहुंचाता है। इसलिए दोनों प्रकार की इन्द्रियों में आन्तर इन्द्रिय मन को प्रधान अर्थात् मुख्य माना गया है। 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'।

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार एक हेतु उपस्थित करता है—

अव्यभिचारात् ॥४१॥

[अव्यभिचारात्] इन्द्रिय के साथ नियत सम्बन्ध होने से।

प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय के साथ आवश्यकतानुसार मन का सम्पर्क होता रहता है, और प्रत्येक इन्द्रिय बाह्य विषय को अपने अन्दर लेकर मन को सौंप दिया करती है, इस नियम का कभी उल्लंघन नहीं होसकता। दस बाह्य इन्द्रियों के ऊपर मन एक कोटपाल के समान है। समस्त बाह्य इन्द्रियां अपना-अपना विषय यथाक्रम मनको सौंपा करती हैं, इस नियम के अनुल्लंघनीय होने से इन्द्रियों में मन की प्रधानता स्पष्ट होती है ॥४१॥

मन समस्त इन्द्रियों में जैसे प्रधान है, क्या समस्त करणों में भी कोई एक प्रधान है? सूत्रकार इसका समाधान करता है—

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥४२॥

[अशेषसंस्काराधारत्वात्] समस्त संस्कारों का आधार होने से (सब करणों में बुद्धि) [तथा] प्रधान है।

सूत्र में 'तथा' पद प्रधान अर्थ का परामर्शक होने से अपने उद्देश्य बुद्धि का अध्याहार कर लेता है। अशेष संस्कारों का आधार होने से समस्त करणों में बुद्धि को प्रधान माना जाता है। समस्त इन्द्रियां अपना-अपना विषय मन को सौंपती हैं, मन अहंकार को और अहंकार बुद्धि को। बुद्धि सर्वात्मना उस विषय का अवधारण करती हुई, पुरुष के लिए उसे अर्पित करती है। सब विषयों को पुरुष के लिए साक्षात् समर्पण करने के कारण तो बुद्धि की प्रधानता है ही, उसके अतिरिक्त सब संस्कार व धर्माधर्म आदि का आधार होने से भी समस्त करणों में बुद्धि की प्रधानता निश्चित होती है ॥४२॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार एक और हेतु उपस्थित करता है—

स्मृत्यानुमानाच्च ॥४३॥

[स्मृत्या] स्मृति से [च] और [अनुमानात्] अनुमान से (यह सिद्ध होता है)।

स्मृति अर्थात् चिन्तनरूप वृत्ति के द्वारा भी बुद्धि की प्रधानता का अनुमान होता है। पूर्वानुभूत अर्थ के संस्कार ही स्मृति के जनक होते हैं, और सब संस्कारों का आधार है बुद्धि। इसलिए प्रत्येक स्मृति का अस्तित्व, बुद्धि का अनुमान कराता है, जो स्थिति अन्य करणों के लिए नहीं है। अतः समस्त करणों में बुद्धि प्रधान है। स्मृति पद का अर्थ जब चिन्तन या ध्यान किया जाता है, उससे भी करणों में बुद्धि की मुख्य स्थिति का अनुमान किया जाता है। कारण यह है कि ध्यानरूप वृत्ति, अन्य समस्त वृत्तियों में श्रेष्ठ है। उस अवस्था में बाह्य और आन्तर इन्द्रियों की समस्त वृत्तियां तथा किसी भी प्रकार की अहंवृत्ति सर्वथा रुद्ध हो जाती हैं, केवल एक ज्ञान अथवा चेतनावृत्ति निरन्तर बनी रहती है, जो बुद्धिवृत्ति है। इसलिए स्मृति अर्थात् ध्यान के द्वारा भी सब करणों में बुद्धि की मुख्यता का अनुमान किया जाता है ॥४३॥

क्या ये समस्त करण पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं, या इनका अन्य कोई निमित्त है ? सूत्रकार बताता है—

संभवेन्न स्वतः ॥४४॥

[स्वतः] स्वतन्त्र रूप से, विना किसी की प्रेरणा के [न] नहीं [संभवेत्] प्रवृत्ति संभव है।

समस्त करणों के गुणप्रधानभाव का निरूपण कर प्रस्तुत सूत्र से तत्सम्बन्धी एक प्रासंगिक विशेषता का प्रतिपादन किया गया है। आशंका यह है, कि क्या ये समस्त आन्तर अथवा बाह्यकरण, पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं ? सूत्रकार ने समाधान किया है, कि करणों की प्रवृत्ति स्वतः संभव नहीं। कारण यह है, कि समस्त करण, अचेतन प्रकृति का परिणाम होने से अचेतन हैं। उनमें किसी भी स्वतः प्रवृत्ति की संभावना नहीं। जिस पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा के लिए इनकी प्रवृत्ति कही जाती है, उस चेतन आत्मा का सान्निध्य इनकी प्रवृत्ति का निमित्त होता है। उससे प्रेरित करण, उसके भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, स्वतः नहीं ॥४४॥

करणों में जो गुणप्रधानभाव दिखाया गया है, उसका हेतु क्या है ? सूत्रकार बताता है—

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥

[क्रियाविशेषात्] कार्यभेद से [आपेक्षिकः] परस्पर अपेक्षामूलक [गुणप्रधानभावः] गौणत्व और प्राधान्य है (करणों का)।

करणों का परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से जो गुणप्रधानभाव बताया गया है, वह क्रियाविशेष के कारण होता है। करणों का जो अपना-अपना कार्य है, वह उनकी स्थिति का नियामक है। उसीके आधार पर उनके गुणप्रधानभाव का निर्धा-

रण किया गया है। चक्षु आदि इन्द्रियां अपने नियत विषय का ग्रहण करती हैं, इनका इतना ही कार्य है। मन उन समस्त विषयों का संकल्प करता है। जहां चक्षु आदि इन्द्रियां एक ही विषय का ग्रहण करती हैं, मन अनेक विषयों का। यह इनके कार्य की विशेषता है। मन जिस अर्थ के सम्बन्ध में संकल्प करता है, बुद्धि वहां अन्तिम निश्चय करती है, और आत्मा के लिए उस विषय को समर्पित करती है, यह बुद्धि-वृत्ति की अन्य करणों के व्यापार से विशेषता है। इसप्रकार करणों के क्रियाविशेष अर्थात् व्यापारभेद के कारण उनमें गुणप्रधानभाव की कल्पना की गई है ।।४५।।

समस्त करणों की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के सम्पन्न करने के लिए होती है, इसमें क्या हेतु है ? सूत्रकार बताता है—

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।।४६।।

[तत्कर्मार्जितत्वात्] आत्मकृत कर्मों द्वारा अर्जित होने से [तदर्थं] उस आत्मा के लिए [अभिचेष्टा] करणों की प्रवृत्ति है [लोकवत्] जैसे लोक में (देखा जाता है)।

किसी भी आत्मा के कर्मों से अर्जित होने के कारण, उसी आत्मा के लिए वे समस्त करण प्रवृत्ति करते हैं। जैसे लोक में कोई पुरुष क्रय आदि करके साधन सामग्री का अर्जन कर लेता है। वह संग्रह की हुई साधन-सामग्री उसी पुरुष के उपयोग में आती है। इसीप्रकार सर्गादि काल में जब आत्मा देह में आता है, उसी समय वह अपने पूर्व कर्मों के अनुसार सूक्ष्म देह में आविष्ट होजाता है। यह देह तेरह करण और उनके आधारभूत पांच तन्मात्र से सम्पन्न होती है। यह आत्मा का आतिवाहिक शरीर होता है, जो आदि सर्ग से लगाकर तत्त्वज्ञान पर्यन्त बना रहता है, और आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिए निरन्तर प्रवृत्तिशील रहता है। इसप्रकार पुरुष-कर्मो से अर्जित होने के कारण समस्त करण, पुरुषार्थ को सम्पन्न करने के लिए क्रियाशील होते हैं ।।४६।।

यदि समस्त करण समान रूप से पुरुषार्थ को सम्पन्न करने के लिए प्रवृत्तिशील रहते हैं, तो बुद्धि को सब में प्रधान क्यों कहा गया है ? सूत्रकार बताता है—

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ।।४७।।

[समानकर्मयोगे] समान कर्मयोग (कार्य के प्रति उपयोग) होने पर [बुद्धेः] बुद्धि का [प्राधान्यं] प्राधान्य है [लोकवत्] जैसे लोक में (देखा जाता है)।

पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजनको सम्पन्न करने के लिए समस्त करणों का समान उपयोग होने पर भी बुद्धि का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। यह ठीक है, कि जो जिसका व्यापार है, उसको पर्णरूप से निभाने में सबकी समानता है फिर भी

उनके विशेष व्यापार के आधार पर उनकी स्थिति में भी विशेषता है। जैसे लोक में एक राजा के कर्मचारी, जो जिस कार्य पर नियुक्त किए गए हैं उसके अनुसार सावधानतापूर्वक अपने कार्य को पूरा करने का जहां तक प्रश्न है, सब समान हैं। पर उनके कार्य की विशेषता से उनकी स्थिति में अन्तर होता है। एक साधारण सैनिक अथवा गांव के मुखिया और प्रधानमन्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर है। उसके कार्यों के अनुसार निश्चित ही मन्त्री का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। क्योंकि समस्त कार्यों में राजा के साथ उसका सीधा सम्पर्क रहता है। इसी प्रकार समस्त करणों में बुद्धि की स्थिति है। इसलिए उसके प्राधान्य की कल्पना की गई है। सूत्र में 'लोकवत्' पद का दो बार प्रयोग, अध्याय की समाप्ति का द्योतक है। उदाहरण की विशेषता के कारण पूर्वसूत्र से इस पद को अनुवृत्त नहीं किया गया ॥४७॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना–उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां'विद्योदय'भाष्ये
द्वितीयः करणनिरूपणाध्यायः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय में सर्ग का प्रयोजन, तेरह करण और तन्मात्रों की उत्पत्ति तथा उनका विस्तृत विवेचन किया गया। अब पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति, दोनों प्रकार के देह, तथा वैराग्य के लिए आत्मा की विविध योनियों में गति एवं अन्य ज्ञानसाधनों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाएगा। इसके लिए तृतीयाध्याय का प्रारम्भ किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र है—

अविशेषाद् विशेषारम्भः ॥१॥

[अविशेषात्] अविशेषों (तन्मात्रों-सूक्ष्मभूतों) से [विशेषारम्भः] विशेषों (स्थूलभूतों) का आरम्भ होता है।

सांख्य में 'अविशेष' पांच सूक्ष्मभूतों अथवा तन्मात्रों का नाम है। इन्हें 'तन्मात्र' इसलिए कहा जाता है, कि समस्त स्थूल जगत् के ये ऐसे कारणीभूत तत्त्व हैं, जिनमें अभी तक, जगत् की अनुभूयमान विशेषताओं का उदय नहीं हुआ होता। स्थूल जगत् में यह पृथ्वी है, जल है, आग है, सोना है, लोहा है, पारा है; इसप्रकार की विशेषताओं का हम अनुभव करते हैं। इनके मूलकारण की खोज करते हुए, जब हम कारण की एक ऐसी अवस्था तक पहुंच जाते हैं, जहां सोना, पारा या पृथ्वी की विशेषता नहीं रहती; अर्थात् वे कारणतत्त्व जहां ऐसी अवस्था तक परिणत नहीं होपाते, जिसमें सोना, पारा आदि की विशेषता का अस्तित्व प्रकट होगया हो, कारण की वही अवस्था 'अविशेष' है। उतने ही रूप में अवस्थित रहने से इनका नाम 'तन्मात्र' रक्खा गया। इनकी पांच संख्या, तथा इनके नाम के साथ गन्ध रस आदि पदों का निर्देश, इनके पांच प्रकार के विशेष कार्यों के आधार पर निर्धारित किए गए हैं। जो अविशेष अथवा तन्मात्र कार्योन्मुख होकर पृथिवी अणुओं के रूप में परिणत होजाते हैं, व्यवहारार्थ उनको गन्धतन्मात्र कह दिया जाता है, इसीप्रकार रसतन्मात्र आदि। फलतः कारण की अविशेष अवस्था से विशेष अर्थात् स्थूलभूतों का आरम्भ-उत्पाद-परिणाम होता है ॥१॥

भूतों से शरीर की उत्पत्ति का सूत्रकार निर्देश करता है—

तस्माच्छरीरस्य ॥२॥

[तस्मात्] उस स्थूलभूत समुदाय से—विशेष से [शरीरस्य] स्थूलशरीर का (आरम्भ है)। अथवा [तस्मात्] उस अविशेष-सूक्ष्मभूत समुदाय से [शरी-

रस्य] सूक्ष्मशरीर का (आरम्भ होता है)।

इस सूत्र में दो पद हैं—'तस्मात्' और 'शरीरस्य'। इन पदों की आवृत्ति माननी चाहिए, अर्थात् इन पदों को दो वार पढ़ना चाहिए। इससे दोनों प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति का निर्देश किया जासकेगा। दो वार पठित 'तस्मात्' सर्वनाम पद, अविशेष और विशेष दोनों का परामर्शक होगा। प्रथम सूत्र के 'आरम्भः' पद का सम्बन्ध यहां भी समझना चाहिए। अब सूत्रार्थ होगा—अविशेष से सूक्ष्मशरीर का आरम्भ होता है, तथा विशेष से स्थूलशरीर का आरम्भ होता है।

सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर की रचना के सम्बन्ध में सूत्रकार स्वयं आगे प्रतिपादन करेगा, पर सूक्ष्मशरीर की विवेचना के लिए यह जानना आवश्यक है, कि सूक्ष्मशरीर के घटक अठारह अवयवों में तेरह करण और पांच तन्मात्र हैं। इनमें करण आश्रित और तन्मात्र आश्रय रहते हैं। इन सब तत्त्वों का यथावसर निरूपण किया जाचुका है। यहां सूक्ष्मशरीर के केवल आश्रयभाग का निर्देश है। यद्यपि सूक्ष्मशरीर के घटक तत्त्व अठारह हैं, पर कभी-कभी केवल इतने अंश के लिए अर्थात् आश्रयभाग के लिए सूक्ष्मशरीर पद का प्रयोग किया जाता है। कतिपय स्थलों में इसीप्रकार केवल आश्रितभाग अर्थात् तेरह करणमात्र के लिए इस नाम का प्रयोग देखा जाता है। सांख्य में केवल दो शरीर माने गए हैं—एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। अन्य शास्त्रों में और दो शरीरों का नाम देखा जाता है—एक लिंगशरीर दूसरा कारणशरीर। पर वस्तुतः सूक्ष्मशरीर का ही अपर नाम लिंगशरीर है। प्रायः ऐसा है, कि अन्यत्र सूक्ष्मशरीर के उपर्युक्त आश्रितभाग को 'लिंगशरीर' तथा आश्रयभाग को 'कारणशरीर' नाम दे दिया गया है। वस्तुतः यह समस्त एक ही सूक्ष्मशरीर है, जिसके घटक अठारह तत्त्व हैं। इसप्रकार यहां अविशेष अर्थात् पांच तन्मात्रों से सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति अथवा रचना का जो निर्देश किया गया है, वह सूक्ष्मशरीर के केवल आश्रयभाग की दृष्टि से है ॥२॥

स्थूलभूतों से स्थूलशरीर और स्थूलभूतों के कारणरूप सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्मशरीर की रचना होती है। इसी शरीर के आधार पर जीवात्मा विविध योनियों में संसरण किया करता है, सूत्रकार ने इस अर्थ को बताया—

तद्बीजात् संसृतिः ॥३॥

[संसृतिः] संसरण (आत्माओं का देहान्तर आदि में) [तद्बीजात्] स्थूलभूतों के बीज—उपादानभूत तन्मात्र घटित सूक्ष्मशरीर से (होता है)।

जीवात्मा का विविध योनियों में संसरण, स्थूलभूतों के बीज अर्थात् उपादानकारणरूप सूक्ष्मभूतो से घटित सूक्ष्मशरीर से होता है। जब आत्मा एक स्थूलशरीर को छोड़कर दूसरे स्थूलशरीर में जाता है, उस समय छोड़ा हुआ स्थूलशरीर तो यहीं रह जाता है, पर सूक्ष्मशरीर आत्मा को आवेष्टित किए बराबर उसके

साथ बना रहता है। वस्तुस्थिति यह है, कि अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर आदि सर्गकाल में प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बद्ध होजाता है, और उसका यह सम्बन्ध आगे प्रलय आने तक समस्त सर्गकाल में बना रहता है। यदि सर्गकाल के अन्तराल में कभी किसी आत्मा को तत्त्वज्ञान होजाता है, तब इस शरीर से छुटकारा उसी समय होजाएगा। इसप्रकार संसार की अति प्रलम्ब महायात्रा पर चले हुए आत्मा का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से बराबर बना रहता है, जो कि आत्मा का एक आवेष्टन-रूप माना गया है ॥३॥

जीवात्मा का यह संसरण कब तक चलता रहता है, सूत्रकार बताता है—

आ विवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥४॥

[च] और [अविशेषाणां] अविशेष घटित सूक्ष्मशरीरों का [प्रवर्त्तनं] प्रवर्त्तन-संसरण [आ विवेकात्] विवेकज्ञान होने तक (रहता है)।

सूत्र में 'अविशेष' पद, अविशेषों अर्थात् सूक्ष्मभूतों से घटित सूक्ष्मशरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। आत्मा के आवेष्टनभूत सूक्ष्मशरीरों का प्रवर्त्तन अर्थात् संसरण विवेक पर्यन्त रहता है। जब किसी आत्मा को आत्मसाक्षात्कार होजाने पर प्रकृति पुरुष के विवेक का ज्ञान होजाता है, तभी यह संसरण समाप्त होजाता है। सूत्र में 'आ' पद मर्यादा अर्थात् सीमा अर्थ में है। विवेक संसरण की सीमा है। विवेक होते ही आगे संसरण चल नहीं सकता, वहीं समाप्त होजाता है ॥४॥

पर यह स्थिति तो उन्हीं आत्माओं की कही जासकती है, जिनको सर्गकाल के अन्तराल में विवेक होगया हो। अविवेकी आत्माओं के लिए संसरण कब तक चला करता है, सूत्रकार ने बताया—

उपभोगादितरस्य ॥५॥

[इतरस्य] दूसरे (अविवेकी) का [उपभोगात्] उपभोग बने रहने तक।

इस सूत्र में पहले सूत्र से 'आ' इस पद की अनुवृत्ति आती है, तथा अर्थ-पूर्ति के लिए 'प्रवर्त्तनमविशेषाणाम्' इन पदों का भी सम्बन्ध है। इतर अर्थात् अविवेकी आत्मा के लिए सूक्ष्मशरीरों का प्रवर्त्तन—आ उपभोगात्—जब तक उपभोग बना रहेगा, बराबर चलता रहेगा। इसप्रकार आदि सर्गकाल में आत्माओं के साथ सूक्ष्मशरीरों का जो सम्बन्ध होता है, वह चालू सर्गकालपर्यन्त अर्थात् आगे प्रलयकाल आने तक बराबर बना रहता है। प्रथम सूत्र में 'आ' पद का अर्थ मर्यादा बताया गया। परन्तु इस सूत्र में वही 'आ' पद अपने अभिविधि अर्थ को कहता है। इसका अभिप्राय है कि जिसके साथ 'आ' का सम्बन्ध प्रकट किया जाता है, उस-को भी प्रतिपाद्य अर्थ की सीमा में समेट लेता है। अविवेकी आत्मा के लिए उप-भोगपर्यन्त सूक्ष्मशरीरों की प्रवृत्ति बतलाई गई है, यहां उपभोग को प्रवृत्ति अपनी

सीमा में लेलेती है, उपभोग की प्रवृत्ति व्याप्त करके रहती है। जब तक उपभोग रहेगा, सूक्ष्मशरीरों की प्रवृत्ति बराबर बनी रहेगी। यह समस्त उपभोग सामग्री प्रलय काल प्रारम्भ होने से पहले तक रहती है, तब तक ही सूक्ष्मशरीरों का संसरण होता रहता है। महाप्रलय में उसका अपने कारणों में लय होजाता है। सर्गान्तर आने पर अन्य बुद्धि आदि का परिणाम होकर उसी क्रम से नया जगत् बन जाता है। यही क्रम सदा चलता रहता है ॥५॥

सर्ग अथवा संसरणकाल में दोनों प्रकार के शरीरों से सम्बन्ध रहता है। इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्रकार स्वयं करता है—

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ॥६॥

[सम्प्रति] अब (सर्ग अथवा संसरणकाल में आत्मा) [द्वाभ्यां] दोनो (सूक्ष्म-स्थूलशरीरों) से [परिष्वक्तः] आबद्ध रहता है।

संसरणकाल में अथवा सर्गकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों से संबद्ध रहता है। यह बात अभी कही गई है, कि आदिसर्गकाल से प्रलय आने तक आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध बराबर बना रहता है। स्थूलशरीर बीच-बीच में अदलता-बदलता रहता है, पर इसका यह क्रम भी चालू रहता है। एक स्थूलशरीर छूट जाने पर दूसरा प्राप्त होजाता है, और उसके समाप्त होजाने पर अगला। ऐसे ही यह क्रम निरन्तर चला करता है। इसप्रकार यह स्पष्ट है, कि संसरणकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों से संबद्ध रहता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि प्रलयकाल में दोनों शरीर अपने कारणों में लीन होजाते हैं, और उतने समय तक आत्मा सुप्त के समान बने रहते हैं। अगला सर्गकाल प्रारम्भ होने पर पुनः उनके भोगादिसाधन प्रस्तुत होजाते हैं, और फिर वही क्रम चल पड़ता है। इसप्रकार यह चक्र अनिश आवर्त्तमान रहता है। सूत्र के 'परिष्वक्तः' पद के स्थान पर किन्हीं पुस्तकों में 'परिमुक्तः' पाठ है, जो लेखकादि प्रमाद से विपर्यस्त होगया प्रतीत होता है। पर व्याख्याकारों ने उसका भी यही अर्थ किया है, जो 'परिष्वक्तः' पद का है। महादेव वेदान्ती ने लिखा है, कि जैसे आङ् उपसर्ग-पूर्वक 'मुच्' धातु का अर्थ 'बन्धन' है, इसीप्रकार 'परि' पूर्वक 'मुच्' का भी यही अर्थ है ॥६॥

अब सूत्रकार दोनों शरीरों की उत्पत्तिगत विशेषता का उल्लेख करता है—

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः, इतरन्न तथा ॥७॥

[प्रायशः] प्रायः करके [स्थूलं] स्थूलशरीर [मातापितृजं] माता-पिता के संयोग से होता है [इतरत्] सूक्ष्मशरीर [तथा] उसप्रकार [न] नहीं होता।

स्थूलशरीर अधिकतर माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है। यह समस्त

सर्गकाल की स्थिति का वर्णन है। आदि सर्गकाल में प्रथम प्राणि-सृष्टि अयोनिज होती है। चालू सर्गकाल में भी स्वेदज यूका लिक्षा आदि कृमि, तथा अन्य अनेक प्रकार के ऊष्मज कृमि कीट आदि अयोनिज होते हैं, उनके स्थूलशरीर भी मातृपितृ-जन्य नहीं होते। इसीलिए सूत्र में 'प्रायशः' पद का निर्देश किया गया है। जो दूसरा सूक्ष्मशरीर है, वह मातापितृज नहीं होता। सर्ग के आदिकाल में इनकी नैसर्गिक रचना होती है। उसी समय प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक सूक्ष्मशरीर सम्बद्ध होजाता है, जो उसी रूप में समस्त सर्गकाल पर्यन्त बराबर बना रहता है। जैसा कि छठे सूत्र में कहा है—समस्त सर्गकाल में आत्मा दोनों शरीरों के साथ सम्बद्ध रहता है। इनमें मातापितृज शरीर तो बदलता रहता है, एकका परित्याग और दूसरे का आदान होता रहता है, पर सूक्ष्मशरीर नियत है। इनका एक ही वार सर्गादिकाल में आदान होता है, और एक ही वार प्रलय उपस्थित होने पर अथवा तत्त्वज्ञान होजाने पर परित्याग किया जाता है ॥७॥

समस्त सर्गकाल में आत्मा दोनों शरीरों के साथ सम्बद्ध रहता है। तब आत्मा को सुख-दुःख आदि का भोग, किसी एक शरीर के रहने पर माना जाना चाहिए या दोनों शरीरों के अस्तित्व में ? सूत्रकार बताता है—

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥८॥

[पूर्वोत्पत्तेः] सूक्ष्मशरीर के [भोगात्] भोग से [एकस्य] एक (सूक्ष्म-शरीर) का (भोग है) [इतरस्य] दूसरे (स्थूलशरीर) का [न] नहीं (यह आक्षेप होगा, अतः) [तत्कार्यत्वं] भोग उन दोनों (सूक्ष्म-स्थूलशरीरों) का कार्य है।

सूत्र में 'पूर्वोत्पत्ति' पद, बहुब्रीहि समास के आधार पर 'सूक्ष्मशरीर' के लिए प्रयुक्त हुआ है, पूर्व है उत्पत्ति जिसकी, ऐसा सूक्ष्मशरीर है। क्योंकि सर्गादिकाल में सबसे पहले सूक्ष्मशरीर के घटक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार सूक्ष्म-शरीर के अस्तित्व में ही भोग होने से—एक की विद्यमानता में भोग होता है दूसरे की विद्यमानता में नहीं होता—इस दोष की प्राप्ति होगी। इस आपत्ति का अभिप्राय यह है, कि लोक में स्थूलशरीर के अस्तित्व में ही आत्मा को सुख-दुःखादि अनुभूति का होना देखा जाता है। यदि केवल पहले उत्पत्ति होने के कारण सूक्ष्म-शरीर की विद्यमानता में ही सुखादि-अनुभूति का होना माना जाए, तो इस मान्यता में प्रत्यक्ष के अपलाप का दोष आएगा। इस भावना को सूत्रकार ने 'एकस्य नेतरस्य' इन पदों से प्रकट किया है। इन पदों के साथ 'विद्यमानता' अथवा 'सत्ता' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। एक—सूक्ष्मशरीर की विद्यमानता में भोग होता है, इतर—स्थूलशरीर की विद्यमानता में नहीं; यह स्वीकार करने में प्रत्यक्ष का विरोध होता है। इसलिए आत्मा की सुखादि-अनुभूति का होना [तत्कार्यत्वं—तयोः सूक्ष्म-स्थूलशरीरयोर्द्वयोरपि कार्यत्वं] उन दोनों शरीरों का कार्य माना जाना चाहिए।

वस्तुतः यदि आत्मा के समस्त भोग, केवल सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व में सम्पन्न हो-सकते होते, तो फिर स्थूलशरीर की आवश्यकता ही न रहती। बाह्य विषयों का भोग स्थूलशरीर की विद्यमानता में संभव होसकता है, और सूक्ष्मशरीर आत्मा का साथ सर्गकाल में कभी छोड़ता नहीं, इसप्रकार आत्मा के भोगकाल में दोनों शरीरों का विद्यमान रहना आवश्यक होजाता है। इससे यह भी परिणाम निकलता है, कि जब सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित आत्मा एक स्थूल देह का परित्याग कर दूसरे के आदान के लिए जाता है, उस अन्तराल काल में उसे किसी प्रकार का—बाह्य विषयों से जनित—भोग प्राप्त नहीं होता ॥८॥

अब सूक्ष्मशरीर के घटक तत्त्वों की सूत्रकार गणना करता है—

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥९॥

[सप्तदशैकं] सत्तरह और एक=अठारह (घटक अवयवों वाला) [लिंगं] सूक्ष्मशरीर है।

सत्रह और एक मिलकर अठारह तत्त्वों का लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर बनता है। ये अठारह तत्त्व, तेरह करण और पांच तन्मात्र हैं। तीन अन्तःकरण—मन अहंकार और बुद्धि, तथा दस बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय, ये तेरह करण हैं। पांच तन्मात्र, पांच सूक्ष्मभूत हैं। सूक्ष्मशरीर में तेरह करण आश्रित तथा पांच तन्मात्र आश्रय होते हैं। इस अर्थ को अगले बारहवें सूत्र में स्पष्ट किया है। आश्रयभाग को 'कारणशरीर' नाम से भी अन्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है। करण अनाश्रित नहीं रह सकते, अतः पांच तन्मात्र उनके आश्रयभूत माने जाते हैं। विविध योनियों में गति-आगति के समय भी आत्मा सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है। किन्हीं व्याख्याकारों ने अहंकार और बुद्धि को एक मानकर सूक्ष्मशरीर में सत्रह तत्त्वों की गणना की है। पर उससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि अहंकार को स्वीकार करके भी वे केवल उसकी पृथक् गणना नहीं करते ॥९॥

सब आत्माओं के साथ करण एक जैसे होने पर व्यक्तियों में भेद क्यों देखा जाता है? सूत्रकार समाधान करता है—

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥१०॥

[कर्मविशेषात्] कर्मभेद से [व्यक्तिभेदः] व्यक्तिभेद है।

आत्माओं के साथ समस्त करणों के समान होने पर भी लोक में जो व्यक्तिगत भेद देखा जाता है, वह कर्मभेद के कारण है। यद्यपि बुद्धि आदि करणों की रचना सर्वत्र एक समान है, पर लोक में जो इसकी विशेषता का अनुभव होता है, उसमें प्रत्येक आत्मा के विविध शुभाशुभ कर्मों की विभिन्नता कारण है। बुद्धि आदि के सर्वत्र सदृश होने पर भी उसके फलोन्मुख विकास में नानारूपता का दर्शन

अपने कर्मों का परिणाम है। कर्मों की विविधता का आवरण, सदृश बुद्धि आदि को विसदृश दिखा देता है। व्यक्तिभेद की यही स्थिति है ॥१०॥

देह अथवा शरीर पद का प्रयोग केवल स्थूल में देखा जाता है, तब आश्रित तेरह करण तथा उनके आश्रयभूत पांच तन्मात्र के समुदाय के लिए देह अथवा शरीर पद का व्यवहार क्यों होता है ? जबकि वह सूक्ष्म है। सूत्रकार बताता है—

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥११॥

[तदधिष्ठानाश्रये] आत्मा के अधिष्ठान (—सूक्ष्मशरीर—) के आश्रय [देहे] स्थूलशरीर में [तद्वादात्] देह पद का प्रयोग होने से (उसके सम्बन्ध द्वारा सूक्ष्मशरीर में) [तद्वादः] देह पद का व्यवहार होता है।

सूत्र में प्रथम 'तत्' सर्वनाम, आत्मा का परामर्शक है। आत्मा समस्त सर्गकाल में तेरह करण तथा पांच तन्मात्र के समुदाय से आवेष्टित रहता है। इसप्रकार यह समुदाय आत्मा के बैठने का एक प्रकार का अधिष्ठान है। आत्मा उसका अधिष्ठाता रहता है। परन्तु यह अधिष्ठान, स्थूल देह के आश्रय अथवा सहयोग के विना किसी प्रकार का भोग अपने अधिष्ठाता आत्मा के लिए प्रस्तुत नहीं कर-सकता। वह आत्मा के समस्त भोगों का सम्पादन, स्थूल देह का आश्रय लेकर कर पाता है। इसप्रकार आत्मा के अधिष्ठान—करण-तन्मात्र समुदाय—के आश्रय-भूत स्थूल देह में, देह अथवा शरीर पद का व्यवहार होने से उससे सम्बद्ध 'करण-तन्मात्र' समुदाय में भी देहपद का प्रयोग होता है, इसलिए उसका नाम 'सूक्ष्म-देह' रक्खा गया है। सूक्ष्मदेह के वास्तविक उपयोग की सिद्धि के लिए स्थूल-देह एक साधनमात्र है, और वह आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से 'देह' कहलाता है। तब आत्मा के साथ उसकी अपेक्षा जो अधिक सम्बद्ध है, उसे 'देह' पद से व्यवहृत क्यों न किया जाय ? सूक्ष्मदेह का वास्तविक उपयोग, आत्मा के लिए सुख दुःखादि समस्त भोगों का प्रस्तुत करना, तथा समाधिलाभ द्वारा तत्त्वज्ञान का सम्पादन है। यह सब स्थूलदेह के साथ सम्बन्ध हुए विना सम्पन्न नहीं हो पाता। इस आधार पर स्थूल के समान सूक्ष्म को भी देह कहा जाता है ॥११॥

आत्मा के लिए भोगों को प्रस्तुत करने में वस्तुतः तेरह करणों का साक्षात् उपयोग है। बाह्य उपयोग स्थूलभूतों का है। तन्मात्र का कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता, तब इनको सूक्ष्मशरीर में क्यों समाविष्ट किया गया ? सूत्रकार इसका समाधान करता है—

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

[तदृते] तन्मात्र-आश्रय के विना (करणों की) [स्वातन्त्र्यात्] स्वतन्त्रता से (स्थिति) [न] नहीं, [छायावत्] जैसे छाया की [च] और [चित्रवत्] जैसे चित्र की।

आश्रय के विना स्वतन्त्रता से करणों की स्थिति संभव नहीं। जैसे छाया विना आश्रय के नहीं रहसकती, और न आश्रय के विना चित्र की रचना होती है, इसी प्रकार करण भी आश्रय के विना नहीं रहसकते। इसलिए करणों के आश्रय-रूप में पांच तन्मात्रों का सूक्ष्मशरीर के अन्तर्गत समावेश है। आत्मा के लिए समस्त भोगों को प्रस्तुत करने वाले करणों को आश्रय देने में पांच तन्मात्रों का उपयोग स्पष्ट है ॥१२॥

समस्त भोगों को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य जब करण में ही है, तब भोगों का भोक्ता भी उसे ही क्यों न मान लिया जाए, अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करना अनावश्यक है। सूत्रकार समाधान करता है—

मूर्त्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥

[मूर्त्तत्वे] मूर्त्त होने पर [संघातयोगात्] समूहरूप सम्बन्ध से [अपि] तथा (अचेतन होने से) करण भोक्ता [न] नहीं, [तरणिवत्] सूर्य के समान।

करण सब मूर्त्त हैं। प्रत्येक कार्यद्रव्य मूर्त्त होता है। जो मूर्त्त है, वह अवश्य संघातरूप होगा। इसप्रकार करणों का संघात से योग है, अर्थात् समस्त करण संघातरूप हैं। जो संघात है, वह भोक्ता नहीं होसकता। क्योंकि प्रत्येक संघात परार्थ होता है। जिस 'पर' के लिए वह है, वही उसका भोक्ता होता है। इसलिए करण भोगों को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मूर्त्त एवं संघातरूप होने के कारण भोक्ता नहीं होसकते। सूत्र का 'अपि' पद करणों की अचेतनरूपता का संग्रह करता है। करणों को अचेतन होने के कारण भी भोक्ता नहीं कहा जासकता। तरणि के समान। 'तरणि' सूर्य का नाम है। जैसे—सूर्य प्रकाशस्वरूप तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मूर्त्त एवं अचेतन होने के कारण परार्थ होता है। ऐसे ही करण, अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य रखते हुए भी परार्थ होते हैं, स्वयं भोक्ता नहीं ॥१३॥

करणों के प्रसंग से अन्यतम अन्तःकरण अथवा आन्तर इन्द्रिय मन की एक विशेषता का सूत्रकार निरूपण करता है। शिष्य ने आशंका की, मन एक ऐसा करण है, जिसका प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में मन का परिमाण क्या होना चाहिए? यह संभव है, कि दसों इन्द्रियों से सम्बन्ध होने के कारण वह महापरिमाण हो, अथवा देह परिमाण हो। यह आशंका केवल मन के विषय में इसलिए की गई, कि दसों बाह्य इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध की विशेषता इसी में है। सूत्रकार समाधान करता है—

अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥१४॥

[तत्] वह मन [अणुपरिमाणं] अणुपरिमाण है [कृतिश्रुतेः] उत्पत्ति शब्द प्रमाण होने से।

मन अणुपरिमाण है, न महापरिमाण न देहपरिमाण। क्योंकि अन्तिम दोनों अवस्थाओं में समस्त बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का युगपत् सम्बन्ध होना रोका नहीं जासकता। तब अनेक ज्ञान एक साथ हो जाने चाहियें, अथवा एक साथ होते रहने चाहिएं, जो अनिष्ट एवं असंगत हैं। इन्द्रियों की अपने विषय में प्रवृत्ति क्रमिक होती है अक्रमिक नहीं, इस विचार को [२।३२ में] पुष्ट किया गया है। इसलिए मन को अणुपरिमाण स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में यह ध्यान रहना चाहिए, कि कोई कार्यतत्त्व परिमाण की दृष्टि से अपने मूल उपादान की समानता नहीं करता। जगत् के मूल उपादान सत्त्व-रजस्-तमस् अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व होते हैं। मन का परिमाण उनकी अपेक्षा अवश्य कुछ स्थूल है, क्योंकि वह कार्य-द्रव्य है। तन्मात्रों अथवा अन्य इन्द्रियों के समान ही मन को अणु समझना चाहिए। मन कार्यभूत तत्त्व है, इसकी पुष्टि शब्द प्रमाण से होती है। सांख्य में इसको अहंकार का परिणाम माना है। तथा अन्यत्र भी इसको उत्पन्न हुआ तत्त्व स्वीकार किया गया है। देखें—प्रश्न० उ० [२।२॥४।८॥६।४॥] मुण्ड० [१।१।८॥२।१।३]॥१४॥

मन को अन्नमय कहा गया है, सूत्रकार निर्देश करता है—

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥१५॥

[च] और [तदन्नमयत्वश्रुतेः] मन के अन्नमय होने में शब्द प्रमाण से (मन उत्पन्न होने वाला अणुपरिमाण माना जाना चाहिए)।

मन की अन्नमयता शब्द द्वारा प्रमाणित की गई है 'अन्नमय हि सोम्य मनः' [छा० उ० ६।५।४]। अथर्ववेद [१५।१४।१] में मन को 'अन्नाद' कहा है। इससे मन का अन्नमय होना ध्वनित होता है। वस्तुतः मनसम्बन्धी ये वर्णन औपचारिक समझने चाहिए। क्योंकि मन न तो अन्न खाता है, और न अन्न का विकार है। इसप्रकार के समस्त उल्लेख केवल इतना संकेत करते हैं, कि अन्न का उपयोग करने पर मन अपनी सम अवस्था में बना रहता है, जो व्यवहार में उसकी कार्य-क्षमता को अक्षुण्ण बनाए रखता है। इसी आधार पर मन को 'अन्नाद' व 'अन्नमय' कहा जाता है। वह अन्न का अथवा अन्य किसी भूत तत्व का विकार नहीं है। औप-चारिक होने पर भी ये वर्णन इतना अवश्य स्पष्ट कर देते हैं, कि मन नित्य अथवा महापरिमाण नहीं होसकता। इससे उसके परिच्छिन्न परिमाण होने पर प्रकाश पड़ता है। अन्य इन्द्रियों की भी यही अवस्था रहती है ॥१५॥

एक देह से दूसरे देह में अचेतन करणों का संसरण क्यों होता रहता है ? सूत्रकार इसका समाधान करता है—

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥१६॥

[लिङ्गानां] लिंग-सूक्ष्मशरीररूप करणों का [संसृतिः] संसरण

[पुरुषार्थं] चेतन आत्मा के लिए है, [राज्ञः] राजा के [सूपकारवत्] पाचक के समान।

समस्त करणों का संसरण पुरुषों के लिए होता है। देह से देहान्तर में करणों की जो सतत गति होती रहती है, और अनादि काल से बराबर यही क्रम चल रहा है, यह सब चेतन आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है। आत्मा के प्रयोजन हैं भोग और अपवर्ग, उन्हीं को सम्पन्न करने के लिए करणों की सब दौड़-धूप है। यह सब ऐसे ही है, जैसे—एक सूपकार राजा के लिए दौड़धूप करता है। राजा का अभिप्राय भूमिपति अथवा शासक से नहीं है, प्रत्युत कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसके लिए अन्य व्यक्ति भोगसामग्री जुटाता हो। इसलिए जैसे प्रत्येक पाचक अपने अभिभावक के लिए इधर उधर दौड़धूप करता है, और उसके भोग साधनों को उसके लिए प्रस्तुत करता है, ऐसे ही चेतन आत्मा के लिए करणों की दौड़धूप है ॥१६॥

करणों के सम्बन्ध में विचार करने के अनन्तर अब स्थूलदेहविषयक विचार प्रस्तुत किया जाता है। क्योंकि आत्मा के समस्त भोग स्थूलदेह के सहारे होपाते हैं। प्रथम सूत्रकार स्थूलदेह की रचना के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त बताता है—

पाञ्चभौतिको देहः ॥१७॥

[देहः] शरीर (स्थूल) [पाञ्चभौतिकः] पांच भूतों से बना है।

स्थूलदेह पांचों भूतों से बना हुआ है। समस्त भीतरी बाहरी मुख्य भाग पृथिवी तत्त्वों का बना है। समस्त रक्त तथा अन्य धातुओं एवं अवयवों का संश्लेषण जलीय तत्त्वों से। इसीप्रकार पाचन संस्थान तथा जीवनानुकूल ऊष्मा अग्नि तत्त्वों से, समस्त प्राण एवं रक्त तथा अन्य धातुओं व मलों का देह में सर्वत्र संचरण वायुतत्त्वों से, और बाहर-भीतर समस्त अवकाश प्रदान आकाशतत्त्वों से बने हैं। इसप्रकार प्रत्येक स्थूलदेह पांच भूतों का परिणाम है ॥१७॥

इस सम्बन्ध में सूत्रकार कुछ अन्य विचार-धाराओं का उल्लेख करता है—

चातुर्भौतिकमित्येके ॥१८॥

[चातुर्भौतिकं] चार भूतों से बना है [इति] ऐसा [एके] कोई (आचार्य मानते हैं)।

कोई विचारक देह को चार भूतों से उत्पन्न हुआ मानते हैं। उनके विचार में आकाश किसी वस्तु का आरम्भक नहीं होता। इसलिए प्रत्येक स्थूलदेह, शेष चार भूतों से बनता है। देह की रचना में आकाश अनुपयुक्त है ॥१८॥

इसी सम्बन्ध में दूसरा एक विचार है—

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥१९॥

[ऐकभौतिक] एक भूत से बना है [इति] ऐसा [अपरे] अन्य (आचार्य

कहते हैं) ।

दूसरे विचारकों का कहना है, कि स्थूलदेह केवल एक पृथिवी तत्त्व से बना है । देह के उपादान तत्त्व केवल पार्थिव हैं, अन्य तत्त्व सहायकमात्र हैं । इन विचार-धाराओं में भी यह स्पष्ट है, कि किसी भूत तत्व को स्थूलदेह की रचना में से निकाला नहीं जासकता । तब केवल उसे उपादान न मानने में कोई विशेषता नहीं है । यह संभव है, कि शरीर के ऐकभौतिक होने का विचार, उसमें केवल एक भूत की प्रधानता पर आश्रित हो । जैसे पृथ्वीलोक में समस्त देहों की रचना में पार्थिव तत्त्वों की प्रधानता है, ऐसे ही सूर्य आदि लोकों में तैजस शरीरों की कल्पना की जासकती है । वहां जो शरीर होंगे, उनमें तैजस तत्त्व की प्रधानता संभव है । तथा अन्य लोकों में दूसरे तत्त्वों की प्रधानतावाले देह होसकते हैं । इसप्रकार हमारे पृथ्वीलोक पर देह को पार्थिव ही माना जाना चाहिए । वस्तुतः प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यही है, कि स्थूलदेह की रचना में किन तत्त्वों का उपयोग आवश्यक है, और इस स्थिति से हम किसी भूततत्त्व को बाहर नहीं कर सकते । जब सबका उपयोग आवश्यक है, तो उनमें किसी एक को गौण या मुख्य कहने का अवकाश नहीं रहता । इसलिए देहरचना में पांचों भूततत्त्व उपादान हैं, यह एक निश्चित एवं प्रमाणित तथ्य है ॥१९॥

पहले कहा गया है, कि समस्त भोग स्थूलदेह का सम्बन्ध होने पर सम्पन्न हो सकते हैं, तब स्थूलदेह को ही भोक्ता चेतन मान लेना चाहिए, अतिरिक्त चेतन का मानना निरर्थक है । सूत्रकार अगले तीन सूत्रों में भूत-चैतन्यविषयक विचार प्रस्तुत करता है—

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२०॥

[प्रत्येकादृष्टेः] प्रत्येक भूतकण में न देखे जाने से (भौतिक तत्त्व में) [सांसिद्धिकं] स्वभावतः [चैतन्यं] चैतन्य [न] नहीं है ।

भूतों का विश्लेषण करने पर प्रत्येक मूलभूतत्त्व में चैतन्य का अदर्शन होने से, जगत् के मूलतत्त्व, स्वतः चेतन नहीं माने जासकते । जड़ जगत् के मूलतत्त्व सत्त्व-रजस् तमस् हैं । इनकी स्थिति अथवा स्वरूप का वर्णन पहले [१।३२] किया जाचुका है । उससे स्पष्ट है, कि चेतना इनसे सर्वथा पृथक् तत्त्व है । जब मूलकारण जड़स्वरूप है, तब कार्य-देह चेतन कैसे होसकता है ? सांख्यसिद्धान्त के अनुसार जड़ चेतन के रूप में अथवा चेतन जड़ के रूप में परिवर्त्तित नहीं होसकता । परन्तु आधुनिक भौतिकविज्ञान-विशारदों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया । परीक्षणों के आधार पर उन्होंने इस तथाकथित तथ्य को प्रकट किया है, कि जड़ चेतन दोनों एक दूसरे के रूप में परिवर्त्तित होसकते हैं । इसप्रकार एक ही मूलतत्त्व की ये दो भिन्न अवस्था हैं ।

वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक विज्ञान जिन आधारों पर अथवा जिस रीति से इन तत्त्वों का परीक्षण करता है, चेतना का उस सीमा में आजाना या लेआना अशक्य है। चेतना के प्रतीयमान लक्षणों से कुछ अनुमान लगाए जाते हैं, जो प्रायः उत्पथ होजाने के कारण तथ्य के अतिरिक्त मिथ्या को अधिक सरलता से आश्रय दे सकते हैं। सर्वप्रथम चेतना के लक्षण जहां प्रतीत होने लगते हैं, ऐसा एक प्रकोष्ठ [cell] का प्राणी बताया जाता है। इसका नाम अमीबा (Amoeba) है। इसमें जो सत्त्वमूल (अथवा जीवनमूल=प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) है, उसकी रचना का पूर्ण विश्लेपण आधुनिक विज्ञान ने किया है। विश्लेषित भौतिक तत्त्वों में किसी अंश में चेतना का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, पर उसके मिश्रण में यह प्रतीति होने लगती है। यह एक आश्चर्य की बात है, कि आज तक कोई प्रयोगशाला जीवित सत्त्वमूल का निर्माण नहीं कर सकी है। जब सत्त्वमूल-प्रोटोप्लाज़्म के तत्त्वों का विश्लेषण कर उनका पूर्ण और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है, तब उतने ही अंश में उनको मिलाकर जीवित सत्त्वमूल का निर्माण क्यों नहीं किया जासकता? परिणाम स्पष्ट है, संसार में जो चेतना अनन्तरूप में बिखरी पड़ी हैं, मानव का उनपर कोई नियंत्रण नहीं है। सत्त्वमूल के भौतिक शरीर का निर्माण करके भी मानव उसमें चेतना को लाकर नहीं बिठा सकता। इससे निश्चित है, कि मूलतत्त्व जड़ हैं, उनका कोई परिणाम चेतन नहीं होसकता। फलतः देह चेतन न होने से भोक्ता नहीं माना जाना चाहिए। तब प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतन भोक्ता का अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य होजाता है। इस प्रसंग का विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' नामक प्रकरणों के प्रारम्भ में विस्तार-पूर्वक किया गया है ॥२०॥

देह को चेतन मानने में सूत्रकार एक और बाधक उपस्थित करता है—

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥२१॥

[च] और [प्रपञ्च-मरणाद्यभावः] समस्त जड़ जगत् का और मरण आदि का अभाव होजाना चाहिए (यदि भूत भौतिक को चेतन माना जाए)

देह चेतन तभी संभव होसकता है, जब समस्त भूत भौतिक तत्त्व चेतन माना जाए। तब उस अवस्था में इस प्रतीयमान अखिल जड़ जगत् का अभाव होजाना चाहिए। जड़रूप में समस्त प्रपञ्च की प्रतीति अशक्य होगी। इसके अतिरिक्त मरण आदि अवस्थाओं का भी अभाव होजाना चाहिए। देह में चेतना का न रहना अथवा चेतना द्वारा देह को छोड़ जाना ही मरण है। जब समस्त देह स्वतः चेतन है, तब छोड़ जाने का प्रश्न ही नहीं रहता। सूत्र में 'आदि' पद से सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि अवस्थाओं का ग्रहण किया जासकता है। देहचैतन्य में इन अवस्थाओं का अस्तित्व न रहेगा। क्योंकि उस स्थिति में देह समानरूप से विद्यमान रहता है,

तब सदा एक ही अवस्था बनी रहनी चाहिए। पर यह सब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध है। इसलिए देह का चैतन्य स्वीकार नहीं किया जासकता। सूत्र का पाठ कतिपय पुस्तकों में 'प्रपञ्चत्वाद्यभावश्च' है। वहां 'आदि' पद से मरण आदि समस्त अवस्थाओं का ग्रहण करलेना चाहिए। अर्थ में कोई अन्तर नहीं ॥२१॥

चैतन्य यद्यपि प्रत्येक मूलतत्त्व में नहीं देखा जाता, पर उनके मिश्रण में चैतन्य का उद्भव होजाएगा। तब देह को चेतन मानने में कोई मौलिक आपत्ति नहीं रहती। सूत्रकार आशंकापूर्वक इसका समाधान करता है—

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

[चेत्] यदि [मदशक्तिवत्] मद शक्ति के समान (भूतों में चैतन्य माना जाए, तो यह कथन युक्त न होगा, क्योंकि) [सौक्ष्म्यात्] सूक्ष्मरूप से [प्रत्येकपरि-दृष्टे] प्रत्येक (मादक द्रव्य में) परीक्षण द्वारा मादकता के देखे जाने पर [सांहत्ये] उनके घोल में [तदुद्भवः] मादकता का उद्भव-प्रतीति संभव है।

अनेक द्रव्यों को मिलाकर एक घोल तयार किया जाता है, जिसमें मादकता का उद्भव होजाता है। पर उस घोल के प्रत्येक द्रव्य में पृथक्‌रूप से मादकता की प्रतीति नहीं होती। इसीप्रकार यदि प्रत्येक मूलतत्त्व में चैतन्य का अस्तित्व नहीं है, तो भी तत्त्वों का मिश्रण होने पर चैतन्य का उद्भव होजाना चाहिए, इसमें कोई बाधा नहीं। इसप्रकार जड़ मूलतत्त्वों का कार्य देह, चेतन माना जासकता है। इस आशंका का समाधान सूत्रकार करता है, कि मादक घोल के प्रत्येक द्रव्य में सूक्ष्मरूप से मादकता का अंश देखा जाता है। इसी कारण उनके सांहत्य में—अनेक द्रव्यों के मिश्रित घोल में—मादकता का उद्भव होना संभव है। परन्तु देह आदि भूत भौतिक द्रव्यों में ऐसा नहीं है। समस्त जगत् के मूल तत्त्वों में किसी भी रूप में चेतना का अंश पाया नहीं जाता। इसलिए ऐसे तत्त्वों का कोई भी कार्य, चेतन नहीं माना जासकता। फलतः प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतन भोक्ता का स्वीकार किया जाना आवश्यक है ॥२२॥

एक देह से देहान्तर में करणों का संसरण, पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए बताया गया। इस क्रम में अपवर्ग की स्थिति कब आती है, सूत्रकार बताता है—

ज्ञानान्मुक्तिः ॥२३॥

[ज्ञानात्] चेतन-अचेतन के भेदसाक्षात्कार से [मुक्तिः] मोक्ष-अपवर्ग होता है।

आत्मा का साक्षात्कार होजाने से मोक्ष की स्थिति प्राप्त होती है। संसार में प्राकृत करणों से आवेष्टित रहता हुआ आत्मा, सांसारिक भोगों में बराबर आ-सक्त बना रहता है। पर जब कभी किन्हीं कारणों से उसकी अध्यात्मभावना

जागृत होती है, उसकी प्रवृत्ति बाह्य विषयों की ओर से हटकर—जो केवल भोगों को सम्पन्न करते हैं—अन्तर की ओर झुक जाती है। तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जानने के लिए बेचैन हो उठता है। इन्द्रियसंयमपूर्वक समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है। तब दृढ़ एवं निरन्तर अभ्यास से समाधिलाभ के अनन्तर अपने शुद्ध चेतन स्वरूप को साक्षात् अनुभव करता है। वह देखता है, आत्मा—अचेतन अशुद्ध परिणामिनी प्रकृति से—सर्वथा भिन्न है। तब करणों का समस्त व्यापार उसके लिए समाप्त होजाता है। यही आत्मा के अपवर्ग की स्थिति है ॥२३॥

जब तक यह अवस्था नहीं आती, सूत्रकार कहता है—

बन्धो विपर्ययात् ॥२४॥

[विपर्ययात्] विपर्यय से [बन्धः] बन्ध होता है।

विपर्यय से अर्थात् आत्मज्ञान न होने से बन्ध की अवस्था बनी रहती है। इस अवस्था में आत्मा के साथ बुद्धि आदि करणों का आवेष्टन तथा आत्मा के भोगादि सम्पादन के लिए उनका संसरण बराबर चालू रहता है, और ऐसी अवस्था को लाने का अवकाश बना रहता है, जब समस्त प्रवृत्तियों का झुकाव अध्यात्म की ओर होजाए। इसी अवस्था में आत्मा वर्णाश्रम धर्मों तथा सामाजिक परिस्थितियों का पालन करता, अभ्युदय के मार्ग पर अग्रसर रहता है ॥२४॥

आत्मज्ञान के साथ वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान मोक्ष का साधन क्यों नही ? अथवा कभी धर्मानुष्ठान से मोक्ष हो, और कभी आत्मज्ञान से हो जाया करे, ऐसा क्यों न माना जाए ? इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहता है—

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥२५॥

[नियतकारणत्वात्] निश्चित कारण होने से [समुच्चयविकल्पौ] समुच्चय अथवा विकल्प [न] नहीं।

मोक्ष अवस्था की प्राप्ति का कारण नियत है, एक ही निश्चित कारण है। इसलिए समुच्चय—किसी अन्य कारण का उसमें आकर मिलजाना, अथवा विकल्प—कभी किसी एक कारण से मुक्ति होजाना और कभी किसी दूसरे से—ऐसा उसमें संभव नहीं। मोक्ष अवस्था को प्रकट करने वाला नियत कारण आत्मसाक्षात्कार है। वेद में लिखा है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, [यजु० ३१।१८] जो प्रकृति से परे चेतनस्वरूप पुरुष है, उसीको जानकर प्राकृत बन्धनों से छुटकारा होता है, अपवर्ग के लिए अन्य मार्ग नहीं है। अतएव इस विषय में कारणों के समुच्चय अथवा विकल्प की संभावना नहीं की जासकती ॥२५॥

अपवर्ग के विषय में कारणों का समुच्चय अथवा विकल्प संभव नहीं, इसी अर्थ को सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करता है—

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥२६॥

[मायिकामायिकाभ्यां] मायिक (मिथ्या) और अमायिक (सत्य) [स्वप्नजागराभ्यां] स्वप्न और जागर के लिए (विकल्प, समुच्चय का प्रश्न नहीं) [इव] जैसे, (इसीप्रकार) [पुरुषस्य] पुरुष का [मुक्तिः] मोक्ष [उभयोः] दोनों के (विकल्प, समुच्चय से) [न] नहीं।

स्वप्न और जाग्रत दो अवस्थाएं है, जो पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों का समुच्चय संभव नहीं। एक ही काल में इन दोनों का अस्तित्व नहीं रहपाता। स्वप्न की प्रतीति अस्थिर अवास्तविक एवं छलनामात्र है। इसीलिए सूत्रकार ने इस स्थिति को मायिक पद के द्वारा स्पष्ट किया है। जाग्रत अवस्था की प्रतीति वास्तविक है, तथा वस्तुतत्त्व का बोध कराती है। सूत्रकार ने इस अवस्था की सत्यता को अमायिक पद के द्वारा प्रकट किया है। इसप्रकार जैसे स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं का अपने मिथ्या तथा सत्यस्वरूप के कारण समुच्चय अर्थात् एक ही काल में दोनों का सहसद्भाव संभव नहीं, और जैसे स्वप्न और जागर अवस्थाओं के साथ मायिक एवं अमायिक का विकल्प संभव नहीं, अर्थात् स्वप्न कभी मायिक होजाए और कभी अमायिक; तथा जागर कभी अमायिक होजाए और कभी मायिक; अथवा दोनों अवस्थाओं का ही परस्पर विकल्प माना जाए, अर्थात् स्वप्न कभी जागर होजाए कभी स्वप्न, और जागर कभी स्वप्न होजाए और कभी जागर' ऐसा विकल्प संभव नहीं; ऐसे ही पुरुष के मोक्षलाभ में ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय अथवा विकल्प संभव नहीं। केवल ज्ञान और कर्म के स्थितिभेद को प्रकट करने के लिए उक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। सकाम कर्मानुष्ठान सांसारिक भोग साधनों का एक अंग है। निष्काम कर्म भोग सम्पन्न करने के अतिरिक्त अन्तःकरण की शुद्धि में प्रयोजक होते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि का अभिप्राय यही है, कि उस अवस्था में करणों की प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर झुक पड़ती है। कर्मों का क्रीड़ाक्षेत्र इतना ही है। आगे उपासना तथा ध्यान आदि के द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त होने पर आत्मसाक्षात्कार होजाता है। यही आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। आत्मा की इस स्थिति में कर्मानुष्ठान की कल्पना ही नहीं, तब इनके समुच्चय की संभावना कहां? ॥२६॥

मोक्षलाभ में कर्मानुष्ठान किसी रूप से साधन नहीं, फिर कर्मों का अनुष्ठान क्यों किया जाता है? क्या इनका कोई फल नहीं? सूत्रकार कहता है—

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥२७॥

[इतरस्य] अन्य (कर्म) का (फल) [अपि] भी [आत्यन्तिकं] आत्यन्तिक [न] नहीं।

कर्मानुष्ठान दो रूप में किया जाता है, एक सकाम दूसरा निष्काम। सकाम

कर्मानुष्ठान जिस फल की कामना से किया जाता है, वही उसका फल होता है। पर अपवर्गसाधन में ऐसे कर्मों का कोई उपयोग नहीं है। ऐसे समस्त कर्म सांसारिक भोगों के साधन होते हैं। इसलिए ऐसे कर्मों का फल आत्यन्तिक नहीं होता। निष्काम कर्मों में यद्यपि फल की कामना नहीं रहती, पर उनके सांसारिक भोग फल होने पर भी यह विशेषता है, कि वे अन्तःकरण की पवित्रता के प्रयोजक होते हैं। कामना, ईर्ष्या द्वेष आदि को अधिक मात्रा में बढ़ाकर अन्तःकरण को दूषित कर देती हैं। निष्काम कर्मानुष्ठान में यह स्थिति यद्यपि नहीं रहती, तथापि ऐसे कर्मों के फल भी आत्यन्तिक नहीं होते। कर्म और ज्ञान के फलों में यही अन्तर है, कि कर्मों के फल अल्पकाल रहते हैं, पर ज्ञान का फल आत्यन्तिक होता है। आत्यन्तिक का अभिप्राय अत्यधिक काल भी है। इसलिए कर्म ऐहिक भोगों की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं, और आत्मज्ञान अथवा विवेकज्ञान अपवर्ग के लिए। इसी कारण इनका समुच्चय संभव नहीं, जैसा कि प्रथम निश्चय किया गया है ॥२७॥

जहां तक कर्मों का प्रश्न है, निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा जिज्ञासु को अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं। पर जहां कोई पूर्ण योगी अपनी संकल्प शक्ति से किसी जिज्ञासु के अज्ञान को हटाकर ज्ञानस्थिति में ला देता है, वहां योगी के संकल्पको भी मोक्ष का साधन माना जाना चाहिए। सूत्रकार समाधान करता है—

संकल्पितेऽप्येवम् ॥२८॥

[संकल्पिते] संकल्प की स्थिति में [अपि] भी [एवम्] ऐसा (ही समझना चाहिए अर्थात् वह आत्यन्तिक नहीं)।

योगी के संकल्प द्वारा प्रस्तुत स्थल में भी पूर्वोक्त स्थिति ही समझनी चाहिए। योगी जहां अपने प्रबल संकल्प के द्वारा किसी जिज्ञासु पर शक्ति का संचार[1]

---

[1]इसप्रकार से शक्ति का संचार कोई अशक्य घटना नहीं है। इस वर्त्तमान काल में भी मैं ऐसे दो व्यक्तियों को जानता हूं, जिनको कुछ योगजशक्ति प्राप्त है। उनको मैं केवल साधारणरूप से जानता हूं, ऐसा नहीं है। प्रत्युत उन महानुभाव योगियों के साथ मेरा पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ये योगी शक्तिसंचार द्वारा किसी भी जिज्ञासु की कुण्डलिनी (सुषुम्ना चक्र) को जागृत कर देते हैं, जो अतिशय उल्लास का जनक है। पर यह स्थिति अस्थायी होती है। इसकी विधि का निरन्तर अभ्यास इसको स्थायी बना देता है। इससे सहज ही यह अनुमान किया जासकता है, कि पूर्णयोगी संकल्पशक्ति द्वारा किसी के लिए अस्थायी आत्मज्ञान की स्थिति ला सकता है। इन योगियों में एक ब्रह्मचारी योगानन्द जी (गुजराती) ऋषिकेश में रहते हैं। दूसरे मेरे बाल्यकाल के साहित्य-गुरु श्री पं० दिलीपदत्त जी उपाध्याय, जि० बुलन्दशहर में उत्तर रेलवे के दनकौर स्टेशन

करता है, और जिज्ञासु उस समय एक ज्ञानी जैसी अवस्था का अनुभव करता है, वह आत्यन्तिक नहीं, प्रत्युत सर्वथा अस्थायी है। संचारित शक्ति का प्रभाव रहने तक वह जिज्ञासु, ज्ञानी जैसी स्थिति का अनुभव कर सकता है। यह अवश्य है, कि उसकी यह स्थिति उसको अध्यात्ममार्ग पर अग्रसर कर देने के लिए अत्यधिक सहायक होती है। जैसे निष्काम कर्म अध्यात्ममार्ग के लिए उपयोगी हैं, वैसे ही कुछ अधिक-मात्रा में योगी का संकल्प जिज्ञासु को अध्यात्ममार्ग के लिए सहायक होता है। तदनन्तर निरन्तर अभ्यास दृढ़ वैराग्य आदि के द्वारा समाधिलाभ करके जिज्ञासु जब आत्मसाक्षात्कार करलेता है, तब आत्मज्ञान से मोक्षस्थिति को प्राप्त करता है। इसप्रकार योगी का संकल्प भी किसी के लिए अपवर्ग का साधन नहीं होता ॥२८॥

क्या कोई योगी विना किसी अन्य साधन के एक अज्ञानी को आत्मज्ञानी की अवस्था में अचानक लासके, ऐसा संभव है ? सूत्रकार बताता है—

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

[शुद्धस्य] शुद्धान्तःकरण योगी के [भावनोपचयात्] समाधिभावना की अत्युत्कृष्ट स्थिति से [सर्वं] सब (शक्य है) [प्रकृतिवत्] प्रकृति के समान।

शुद्धान्तःकरण पूर्णयोगी, भावना के उपचय से अर्थात् योगज शक्ति के अत्युन्नत होने के कारण वह सब कुछ कर सकता है, जो प्रकृतिनियमों के अनुकूल हो। अथवा प्रकृति जिसप्रकार अपने परिणामों-कार्यों के लिए अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं रखती। इसीप्रकार पूर्ण योगी स्वशक्य कार्यों के लिए अन्य किसी बाह्य साधन की अपेक्षा किए विना समर्थ होता है। इसप्रकार योगी किसी भी अज्ञानी जिज्ञासु को संकल्प शक्ति द्वारा आत्मज्ञानी की अवस्था का अनुभव करा सकता है। यह कोई अशक्य घटना नहीं है ॥२९॥

आत्मज्ञान अथवा विवेकज्ञान मोक्षसाधन है, यह निश्चय कर दिया गया। अब आत्मज्ञान के साधनों का निरूपण किया जाता है। सूत्रकार कहता है—

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

[रागोपहतिः] राग का उपघात=हनन [ध्यानम्] ध्यान है।

विषयों में बुद्धि की आसक्ति, राग कहा जाता है। यह आत्मज्ञान का महान प्रतिबन्धक है। इसका उपघात जिसके कारण होसके, वह ध्यान है। बुद्धि की एक

के समीप खेलड़ी ग्राम में रहते हैं। खेद के साथ लिखना पड़ता है—विक्रमी संवत् २०१० में इनका स्वर्गवास होगया। यह ग्रन्थ मुद्रित होने की अवस्था में आने से पूर्व संवत् २०१५ में ब्र० योगानन्द जी का भी स्वर्गवास होगया, पर शक्ति संचार के विशेषज्ञ अनेक व्यक्ति ब्रह्मचारी जी के शिष्यों में अब भी हैं।

ऐसी अवस्था का नाम ध्यान है, जहां बुद्धिवृत्ति विषयों की ओर प्रवृत्त न रहकर केवल आत्मा की ओर लगी हो। इसीलिए आगे [६।२५ में] निर्विषय मन को ध्यान की अवस्था बताया है। जहां कोई बाह्य विषय अन्तःकरण में भासित नहीं होता, केवल आत्मविषयक वृत्ति निरन्तर चालू रहती है, ऐसी अवस्था ध्यान बताई गई है। ऐसे ध्यान में जब वृत्ति अंश का भी लोप होजाता है, केवल ध्येय आत्मस्वरूप स्वतः भासित होता है, तब समाधि अवस्था प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार होता है ॥३०॥

ध्यान की स्थिति प्राप्त करने के लिए सूत्रकार ने उपाय बताया—

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

[तत्सिद्धिः] ध्यान की सिद्धि [वृत्तिनिरोधात्] वृत्तियों के निरोध से होती है।

ध्येय आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों में बुद्धिवृत्ति का निरोध कर देने से ध्यान अवस्था की सिद्धि होती है। सब विषयों से बुद्धिवृत्ति को हटाकर केवल आत्मा की ओर लगाने से ध्यान की स्थिति प्राप्त होने लगती है। वृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाना ही कठिन कार्य है। इसके लिए दृढ़ धैर्य और निरन्तर अभ्यास अपेक्षित है। तब कालान्तर में ध्यान अवस्था प्राप्त होपाती है ॥३१॥

वृत्तिनिरोध के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए? सूत्रकार स्वयं इसका निर्देश करता है—

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

[तत्सिद्धिः] वृत्तिनिरोध की सिद्धि [धारणासनस्वकर्मणा] धारणा आसन और स्वकर्म द्वारा होती है।

धारणा, आसन और स्वकर्मों के अनुष्ठान से वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है। विषयों की ओर से वृत्तियों का रोकना अति कठिन कार्य है। क्योंकि स्वभावतः करणों की प्रवृत्ति विषयों की ओर रहती है। सूत्रकार ने जिन उपायों का निर्देश किया है, उनके निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा होती है। प्रायः प्रारम्भ या मध्य में ही जिज्ञासुओं का धैर्य टूट जाता है, और इन्द्रियवृत्तियां उनको पुनः विषयों में लापटकती हैं। विरले ही ऐसे धीर होते हैं, जो इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर पाते हैं। सांख्य घृणा की भावना से विषयों को हेय नहीं कहता। प्रत्युत उचित विषयभोग को उसने जीवन का लक्ष्य माना है। पर परमलक्ष्य तक पहुंचने के लिए इसका साधकरूप में उपयोग होना चाहिए, बाधकरूप में नहीं, इतना ही उसका तात्पर्य है। इसलिये वृत्तिनिरोध की भावना अव्यावहारिक नहीं कही जासकती। इसके लिए जिन उपायों का सूत्र में निर्देश है, उनकी व्याख्या स्वयं सूत्रकार ने अगले सूत्रों में कर दी है ॥३२॥

सूत्रकार धारणा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र में प्राणायाम का संकलन करता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणगति सूक्ष्म होजाने पर धारणा अवस्था की संभावना होसकती है। सूत्रकार ने बताया—

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

[छर्दिविधारणाभ्यां] छर्दि और विधारण द्वारा (प्राणों का) [निरोधः] निरोध-सम होना (प्राणायाम है)।

इस सूत्र में 'प्राण' का अध्याहार करना चाहिए। छर्दि और विधारण के द्वारा प्राण का निरोध अर्थात् वश में किया जाना प्राणायाम कहाता है। स्वभावतः चलते हुए श्वास को और अधिक खींचकर भीतर यथाशक्य रोके रखना 'विधारण' कहाता है। इसी को योग की परिभाषा में 'कुम्भक' कहते हैं। जब प्राण का विधारण अशक्य होजाए, तब उसे धीरे-धीरे बाहर छोड़ना 'छर्दि' है, इसीको 'रेचक' कहा जाता है। जो श्वास विधारक से पहले भीतर को अधिक खींचा जाता है, वह 'पूरक' होता है। पूरक के विना विधारण संभव नही, अतः वह पूरक का भी उपलक्षण है। इसप्रकार प्राणायाम का अनेक वार अभ्यास करने पर प्राण की गति सूक्ष्म हो जाती है, प्राणायाम से आयासित होकर मन अनायास किसी एक देश में निरुद्ध किये जासकने की स्थिति में रहता है। इसप्रकार प्राणायाम के अनन्तर देशविशेष में मन को रोकने का अभ्यास ही 'धारणा' है। वृत्तियों का निरोध करने के लिए प्रथम धारणा का अभ्यास आवश्यक है ॥३३॥

क्रमप्राप्त आसन का स्वरूप सूत्रकार बताता है—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

[स्थिरसुखं] स्थिर होजाने पर सुखजनक [आसनं] आसन है।

जो स्थिर होजाने पर सुखजनक हो, वह 'आसन' कहाता है। योगाभ्यास के लिए बैठने की कोई भी मुद्रा आसन है। पर अभ्यासकाल के अन्तराल में विचलित होना न पड़े, तथा अपने बैठने की स्थिति को वार-वार अदला बदला न जाए, इस दृष्टि से दो-चार घन्टे तक बराबर एक आसन से बैठे रहने का अभ्यास पहले से अवश्य होना चाहिये, जिससे अभ्यासकाल के बीच कहीं कोई शारीरिक कष्ट का अनुभव न हो। यदि उस अवस्था में शरीर का कोई अंग दुःखने लगेगा, तो वह वृत्तिनिरोध में बाधक होजाएगा। तथा वार वार आसन अदलने-बदलने में भी वृत्तिनिरोध में बाधा पहुंचती हैं, इसलिए योगाभ्यास में बैठने से पूर्व कुछ दिनों तक किसी एक आसन से बैठने का अभ्यास कर लेना चाहिए। इसप्रकार जो मुद्रा स्थिर होजाने पर सुखजनक हो, वही ठीक आसन है। इसके स्वस्तिकासन, पद्मासन, वीरासन आदि अनेक भेद हैं। जो आसन अपने शरीर आदि की स्थिति के अनुकूल हो, उसी को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए ॥३४॥

बत्तीसवें सूत्र में पठित 'स्वकर्म' की व्याख्या सूत्रकार करता है—

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।।३५।।

[स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानं] अपने आश्रम के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान [स्वकर्म] स्वकर्म हैं।

अपने आश्रम के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान यहां 'स्वकर्म' पद से अपेक्षित है। इससे सूत्रकार का यह अभिप्राय ध्वनित होता है, कि किसी भी आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति योगाभ्यास कर सकता है। आश्रम चार होते हैं—ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। यह ठीक है, कि प्रत्येक आश्रम में रहते हुए योग का अभ्यास किया जासकता है। पर यदि कोई अभ्यासी अपनी स्थिति को उसके अनुकूल अनुभव नहीं करता, अथवा अभ्यास में उसे बाधक समझता है, तो नियमानुसार उस स्थिति में परिवर्त्तन कर सकता है। आश्रम के लिए विहित कर्मों में साधारण कर्मों का ही यहां ग्रहण करना चाहिए। तथा यह और अच्छा है, यदि योगाभ्यास के लिये अनुकूल कर्मों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। जैसे प्रत्येक अभ्यासी को यम नियमों का पालन करते रहना आवश्यक है। इनके पालन में प्राय: उन समस्त आश्रम विहित कर्मों का समावेश होजाता है, जो योगाभ्यास के लिए आवश्यक होते हैं, उस अवस्था में जीविका आदि के निर्वाह के लिए कोई भी अनुकूल कार्य करता हुआ व्यक्ति बराबर योगाभ्यास कर सकता है।

सूत्रकार ने इन सूत्रों में वृत्तिनिरोध के जो उपाय बताए हैं, उनमें यम नियम आसन प्राणायाम तथा धारणा का विशेष उल्लेख है। योग के आठ अंगों में पांच बाह्य तथा तीन आन्तर अंग समझे जाते हैं। प्राणायाम के आगे प्रत्याहार और जोड़कर पांच योग के बाह्य अंग हैं। तीन आन्तर अंगों में धारणा पहला है। बाह्य अंग योग के लिए केवल भूमि तयार करते हैं। धारणा में मन को किसी एक देश अथवा विषय में निग्रह करके वृत्तिनिरोध के लिए प्रथम प्रयास है। इससे अगली अवस्था ध्यान है, जहां समस्त बाह्य वृत्तियों का निरोध होकर एकमात्र ध्येय आत्मा भासता है। अनन्तर समाधि अवस्था में आन्तर वृत्तिअंश भी लुप्त होजाता है, और आत्मा स्वत: स्वरूप में भासित रहता है। यह अवस्था आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार की होती है।।३५।।

उत्तम अधिकारी के लिए यम नियम आदि पांच बाह्य अंगों की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे अधिकारियों के लिए प्रकारान्तर से आत्मज्ञान के उपायों का सूत्रकार निर्देश करता है—

वैराग्यादभ्यासाच्च ।।३६।।

[वैराग्यात्] वैराग्य से [च] और [अभ्यासात्] अभ्यास से (समाधिलाभ होता है)।

वैराग्य अर्थात् विषयों में वितृष्णा तथा ध्यान आदि अवस्थाओं का निरन्तर अभ्यास करने से समाधिलाभ होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यद्यपि वैराग्य और अभ्यास प्रत्येक अध्यात्ममार्गी के लिये साधारण हैं, तथापि जिन उत्तम अधिकारियों को यम नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, उनकी दृष्टि से इनका पृथक् उपायरूप में उल्लेख कर दिया गया है। तेईसवें सूत्र में ज्ञान से मुक्ति का होना बताया है, यहां तक आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया गया ॥३६॥

ज्ञान के विपर्यय अर्थात् अज्ञान या अविवेक से बन्ध का होना बताया है। बुद्धिवृत्तियां जिन भूमियों में विचरण करती हुई, अज्ञान को बनाए रखती हैं, अब उनका निरूपण किया जायगा। अध्यात्ममार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों के सम्मुख जो भावना बाधारूप में प्रस्तुत होती हैं, उनको पचास स्थानों में संगृहीत किया गया है, जो विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि, इन चार वर्गों में विभक्त है। ये पचास अवस्था केवल बुद्धिवृत्ति पर अवलम्बित होती हैं, इसलिए इनको बुद्धिसर्ग अथवा प्रत्ययसर्ग कहा जाता है। वर्ग के अनुसार सूत्रकार इनका क्रमशः निरूपण करता है—

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥३७॥

[पञ्च] पांच [विपर्ययभेदाः] विपर्यय के भेद हैं।

पांच भेद विपर्यय के हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनके दूसरे शास्त्रीय नाम क्रमशः ये हैं—तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र। अनित्य,अशुचि,दुःख तथा अनात्मरूप तत्त्वों में नित्य,शुचि,सुख तथा आत्मरूप की भावना होना अविद्या है। इसीको 'तम' कहते हैं। देह अथवा बुद्धि आदि जो आत्मा के भोगसाधन हैं, उनको आत्मा मानना 'अस्मिता' है। इसीका अपर नाम 'मोह' है। अनुकूल प्रतीत होने वाले तत्त्वों में रागभावना, तथा प्रतिकूल में द्वेषभावना हो-जाती है, इसप्रकार की वृत्ति सदा अध्यात्ममार्ग में बाधक रहती है, इन्हींका नाम 'महामोह' और 'तामिस्र' है। मैं कभी न मरू, सदा जीवित रहूं, यह भावना 'अभिनिवेश' कहाती है। इस भावना में यह ध्वनि रहती है, कि आत्मा मर जाता है, अथवा विनष्ट होने वाला तत्त्व है, तथा शरीर जो नश्वर है, उसको उसी अवस्था में बने रहने की प्रार्थना रहती है। प्रत्येक प्राणी को अपने सन्मुख मरता हुआ देखकर भी अपने सम्बन्ध में उसी रूप से अमरणधर्मा बने रहने का विचार घोर अन्धकार की अवस्था है। इसीको 'अन्धतामिस्र' कहा गया है। यद्यपि इसप्रकार की बुद्धिगत भावना पृथक्-पृथक् हुआ करती है, परन्तु इन सब का मुख्य आधार अविद्या ही रहती है ॥३७॥

विपर्यय के अनन्तर क्रमप्राप्त अशक्ति का सूत्रकार निर्देश करता है—

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥३८॥

[अशक्तिः] अशक्ति [तु] तो [अष्टाविंशतिधा] अट्ठाईस प्रकार की है।

सूत्र में 'तु' पद इनकी विशेष प्रसिद्धि को प्रकट करता है। ये अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति अति प्रसिद्ध हैं। आत्मा के भोग आदि के साधन ग्यारह इन्द्रियों का प्रथम उल्लेख किया गया है। यह देखा जाता है, कि कहीं किसी इन्द्रिय का और कहीं किसी का विघात होजाता है। यह इन्द्रियविघात ही अशक्ति है। क्योंकि वहां साधनरूप इन्द्रियशक्ति का अभाव होजाता है। ग्यारह इन्द्रियां हैं, इसप्रकार उनके आधार पर ये ग्यारह अशक्ति हुईं। आगे नौ तुष्टि और आठ सिद्धियों का वर्णन किया गया है। ये सत्रह प्रकार की भावना हैं, जो बुद्धिवृत्तिरूप हैं, इनका विघात हो जाना, बुद्धि का विघात है। ये सत्रह प्रकार के बुद्धिविघात के आधार पर सत्रह अशक्ति और हैं। इसप्रकार ग्यारह इद्रियों तथा तुष्टि सिद्धि के आधार पर सत्रह प्रकार की बुद्धिवृत्तियों का विघात अथवा वध होने से उत्पन्न अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति बताई गई हैं। अध्यात्ममार्ग के प्रत्येक यात्री के लिए साधनहीनतारूप से ये आत्मज्ञान में बाधक हैं। अध्यात्म का मार्ग अपाहिजों और अपंगों का नहीं है। इसके लिए पूर्ण स्वस्थ तथा शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही अधिकारी समझने चाहिएं। इतिहास में यदि कुछ ऐसे व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं, जो अंग्ग होते हुए भी आत्मज्ञानी थे, उनकी जन्मान्तर सम्पत्ति का ही यह परिणाम बताया गया है ॥३८॥

अब क्रमप्राप्त तुष्टि का निरूपण सूत्रकार करता है—

तुष्टिर्नवधा ॥३९॥

[तुष्टिः] तुष्टि [नवधा] नौ प्रकार की है।

तुष्टि का स्वरूप परितोष अथवा सन्तोष है। परितोष की ऐसी भावना का उद्रेक होना, कि अमुक अध्यात्मसम्बन्धी कार्य हो ही गया है, अथवा अमुक साधन या रीति से स्वतः हो जाएगा, मुझे उसमें क्या करना है? आत्मज्ञान का बाधक होता है। अर्द्धमार्ग में ही सन्तुष्ट होकर व्यक्ति आगे परिश्रम करने में उपेक्षा करता है, तथा आत्मज्ञान की पूर्ण स्थिति को नहीं पहुंच पाता। तुष्टि नौ प्रकार की है। तेतालीसवें सूत्र में सूत्रकार ने स्वयं इसका निरूपण किया है ॥३९॥

क्रमप्राप्त सिद्धि का निरूपण सूत्रकार करता है—

सिद्धिरष्टधा ॥४०॥

[सिद्धिः] सिद्धि [अष्टधा] आठ प्रकार की है।

आत्म-जिज्ञासु आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जब यत्नशील रहता है, तथा योग और उपासना आदि का निरन्तर अभ्यास करता है, तब कभी-कभी वह एक विचित्र स्थिति का अनुभव करता है। अचानक वह कभी उपासना में उद्दीप्त प्रकाश देखता है। कभी अपने आपको महान आत्माओं के सम्पर्क में पाता है, जो

उसका मार्ग प्रदर्शन करती दीखती हैं। कभी अचानक इतने हृदयोल्लास का अनुभव करता है, कि वह उसके वेग को रोक नहीं सकता। कभी गम्भीर समस्याओं का समाधान अनायास कर लेता है। कभी अनेक प्रकार की सुमधुर ध्वनियों को सुनता है। इन अवस्थाओं को सिद्धि समझकर इन्हीं में अटक रहता है। आत्मज्ञान का लक्ष्य दूर पड़ा रह जाता है। इसप्रकार ये सिद्धि आत्मज्ञान में बाधक कही गई हैं। पर अधिकतर इनसे प्रोत्साहित होकर जिज्ञासु तीव्र प्रयत्न करके अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार ये सिद्धियां योगमार्ग में साधक भी हैं। इनको आठ प्रकारों में बांटा गया है। चवालीसवें सूत्र में सूत्रकार ने इनका स्वयं निर्देश किया है ॥४०॥

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि—इनका साधारणरूप में निरूपण किया गया। इनके सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा होने पर सूत्रकार ने अग्रिम चार सूत्रों से क्रमशः उनका स्पष्टीकरण किया है। यद्यपि मुख्यरूप से विपर्यय पांच हैं, पर उनके अवान्तर भेद अनेक होसकते हैं। सूत्रकार ने इसका संकेत इस रूप में किया है—

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥४१॥

[अवान्तरभेदाः] अवान्तर भेद [पूर्ववत्] पहले के समान हैं।

विपर्यय के सामान्य अवान्तर भेद वे ही हैं, जो पहले कह दिए हैं। अर्थात् सैंतीसवें सूत्र में कहे गए पांच भेद। यदि उनके और विशेष भेद किए जाएं, तो बासठ भेद कहे जासकते हैं। पांच विपर्ययों में पहला अविद्या है। उसका स्वरूप है—अनात्मा में आत्मबुद्धि होना। अनात्मवर्ग में प्रकृतिरूप आठ तत्त्व हैं—एक अव्यक्त मूल प्रकृति, तथा बुद्धि, अहंकार और पांच तन्मात्र, ये सात प्रकृति-विकृति। इन आठ अनात्मतत्त्वों में आत्मबुद्धि होना, आठ प्रकार की अविद्या है। ये ही आठ जब अस्मिता के विषय होते हैं, तब आठ प्रकार की ही अस्मिता कही जाती है। प्रकृति आदि में 'मैं हूं' यह आत्मबुद्धि होना अस्मिता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पांच विषय हैं। दिव्य और अदिव्य भेद से ये ही दस होजाते हैं। जो शब्द आदि, देवों को गृहीत होते हैं वे दिव्य तथा जो मानव को गृहीत होते हैं वे अदिव्य हैं। अभिलाषापूर्वक इनको प्राप्त करने की अनुकूल भावना का होना राग है। उसके आधारभूत इन दस विषयों के कारण राग दस प्रकार का होगा। अविद्या और अस्मिता के आधार आठ हैं, तथा राग के दस। इन अठारह में अनुकूल भावना का जब किसी अन्य की ओर से विरोध होता है, तब उसके प्रति द्वेष-भावना उत्पन्न होजाती है। इस द्वेषवृत्ति की उद्भावना के आधार अठारह होने से द्वेष अठारह प्रकार का होगा। ये ही अठारह आधार अभिनिवेश के हैं। जब हमारी अनुकूल भावनाओं के साधन अन्य के विरोध से नष्ट होते हैं, तब उनके नाश में अपने नाश होजाने की भावना जागृत हो उठती है। 'मैं मरा जा

रहा हूं, न मरूं तो अच्छा है', यही वृत्ति अभिनिवेश है। इसके अठारह आधार होने से यह भी अठारह प्रकार की है। इसप्रकार सामान्य रूप से पांच विपर्ययों के और विशेष विभाग करके बासठ भेद होजाते हैं। फिर विकारों के अनन्तरूप होने से उनमें आत्म-भावना होने पर अविद्या आदि के अनन्त भेद कहे जा सकते हैं। पर इस प्रकार का विवेचन अशास्त्रीय एवं अनावश्यक भी है। इन सबका समावेश पांच में होजाता है, जैसा कि प्रथम वर्णन कर दिया गया है ॥४१॥

इसीप्रकार अशक्ति के भेद का भी विवेचन समझना चाहिए। सूत्रकार इसी अर्थ का अतिदेश द्वारा कथन करता है—

एवमितरस्याः ॥४२॥

[एवं] इसीप्रकार [इतरस्याः] क्रमप्राप्त अगली अशक्ति के (भेदों को पहले के समान समझ लेना चाहिए)।

इतर अर्थात् विपर्यय से अगली अशक्ति के भेदों का भी इसीप्रकार से विवेचन कर लेना चाहिए। जैसे विपर्यय में आधारों की विशेषता से भेदों का विवेचन किया है, ऐसे ही अशक्ति में किया जासकता है। ग्यारह इन्द्रियविघात तथा सत्रह बुद्धिविघात के आधार पर अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति का निरूपण अड़तीसवें सूत्र में कर दिया गया है ॥४२॥

अब क्रमप्राप्त तुष्टि के भेदों का निरूपण सूत्रकार स्वयं करता है—

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥४३॥

[तुष्टिः] तुष्टि [आध्यात्मिकादिभेदात्] आध्यात्मिक आदि भेद से [नवधा] नौ प्रकार की है

आध्यात्मिक भेद से तथा 'आदि' पद-संगृहीत बाह्यविषयक भेद से तुष्टि नौ प्रकार की बताई गई है। आध्यात्मिक के चार भेद हैं, और बाह्यविषयक के पांच, ये मिलाकर नौ होजाते हैं। आध्यात्मिक चार प्रकार की तुष्टि हैं—प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य। यह सब कुछ प्रकृति का परिणाम है, वही सब करती रहती है, मैं तो अपरिणामी कूटस्थ चेतन हूं, मुझे क्या करना ? इसप्रकार सन्तुष्ट होकर बैठ जाना 'प्रकृति' नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नाम 'अम्भ' कहा जाता है। दण्डकमण्डलु, अक्षमाला, कृष्णमृगचर्म आदि के धारण कर लेंने अथवा जटा-जूट होकर संन्यास का ग्रहण कर लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति होजाएगी, इस रूप में सन्तुष्ट हो जाना 'उपादान' नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नाम 'सलिल' है। संन्यास लेकर थोड़ा-बहुत जप-तप करने पर कष्ट से बचने के लिए यह भावना कर लेना, कि जब समय आएगा, आप ही सिद्धि हो जाएगी, प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही होता है, व्यर्थ आत्मज्ञान के लिए कष्ट क्यों उठाना 'काल' नामक तुष्टि कही जाती है। इसका दूसरा नाम 'ओघ' है। इसीप्रकार जब भाग्य में होगा, आप

ही धीरे-धीरे आत्मज्ञान होता रहेगा, उसके लिए यम नियम का पालन, धारणा ध्यान का अभ्यास अनावश्यक है। विना भाग्य के कुछ होता नहीं, इस रूप में परितुष्ट होकर बैठ रहना 'भाग्य' नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नाम 'वृष्टि' है। ये चार तुष्टि आध्यात्मिक इसीलिए कही जाती हैं, कि ये भावना स्वयं अन्तरात्मा में जागृत होती हैं, इन पर बाह्य उपनिपातों का कोई प्रभाव नहीं होता।

जो पांच बाह्यविषयक तुष्टि हैं, वहां बाह्य उपनिपात ही भावनाओं के विषय रहते हैं। शब्द आदि पांच विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसा इन दोषों के कारण जो उनमें उपरम की भावना जागृत होजाती है, उतने में ही सन्तुष्ट होकर जिज्ञासु बैठ रहता है, आगे आत्मज्ञान के लिए यत्नशील नहीं रहता। विषयों के अर्जन के लिए खेती, पशु-पालन, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि बहुत कष्टकर कार्य करने पड़ते हैं, यह विचार कर जो विषयों से उपरत होने में ही अपने आपको कृतकृत्य मान लेना है, यह पांचवीं तुष्टि है। विषयों का अर्जन करके, राजा, बन्धु-बान्धव तथा चोर आदि से उनकी रक्षा करने में अत्यन्त कष्ट हैं, इस भावना से विषयों के परित्यागमात्र में सन्तुष्ट होजाना छठी तुष्टि है। रक्षा करने पर भी उपभोग के कारण फिर ये क्षीण होजाते हैं, इनके अर्जन, रक्षण में कष्ट ही कष्ट हैं; इस भावना से विषयों में उपरति होना, और उतने ही में सन्तुष्ट रहजाना सातवीं तुष्टि है। अर्जन, रक्षण तथा क्षय आदि का प्रतीकार होने पर भी विषयों के भोग में इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती, तृष्णा बराबर बनी ही रहती है, और भोगों में क्लेश ही क्लेश हैं, इस भावना से विषयों की उपरति-मात्र में सन्तुष्ट होजाना आठवीं तुष्टि है। अर्जन, रक्षण, क्षय का प्रतीकार और भोग आदि के रहने पर जब यह भावना होती है, कि ये समस्त भोग अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाये विना नहीं हो सकते। इसलिए विषयों को भोगना दूसरे प्राणियों की हिंसा करना है। इस भावना से विषयों में उपराम होजाना और इतने ही से सन्तुष्ट हो रहना अन्तिम नवीं तुष्टि है। अन्तिम पांच बाह्यविषयक तुष्टियों के दूसरे नाम यथाक्रम पार, सुपार, पारावार, अनुत्तमाम्भ और उत्तमाम्भ हैं। केवल विषयों के अर्जन आदि की उपरति में सन्तुष्ट होकर बैठ जाने, उसी को उन्नत स्थिति समझ लेने और आगे आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न न करने के कारण ही इनको मोक्षमार्ग में बाधक बताया गया है ॥४३॥

अन्त में क्रमप्राप्त सिद्धि के भेदों का निरूपण सूत्रकार करता है—

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ॥४४॥

[सिद्धिः] सिद्धि [ऊहादिभिः] ऊह आदि भेदों के द्वारा [अष्टधा] आठ प्रकार की है।

ऊह आदि भेदों के द्वारा आठ प्रकार की सिद्धि बताई गई हैं। ऊह, शब्द,

अध्ययन, आत्मिकदुःखविघात, भौतिकदुःखविघात, दैविकदुःखविघात, सुहृत्प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धि हैं। इनमें तीनों प्रकार के दुःखों का विघात मुख्य सिद्धि हैं। क्योंकि इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए सब प्रयत्न किया जाता है। शास्त्रारम्भ का तथा मानव-जीवन का भी यही परम लक्ष्य है। शेष पांच प्रकार की सिद्धि, इन मुख्य सिद्धियों को प्राप्त करने के साधनमात्र हैं। जब साधनभूत सिद्धि जिज्ञासु को अपने में उलझा लेती है, और उतने में ही वह अपने आपको कृतकृत्य समझने लगता है, तब ये सिद्धि आत्मज्ञान में बाधक होजाती हैं। पर वस्तुतः यह स्थिति उस समय सिद्धि की न रहकर तुष्टि की सीमा में चली जाती है, जो स्वरूप से आत्मज्ञान में बाधक बताई गई हैं। इसलिए प्रायः प्रारम्भिक सिद्धि, जिज्ञासु को अध्यात्ममार्ग की ओर और अधिक प्रोत्साहित कर परम लक्ष्य तक पहुंचाने में साधक ही समझी गई हैं।

जब कोई व्यक्ति यह सोचने लगता है, कि आत्मा क्या है, मोक्ष क्या है, किस तरह उसकी प्राप्ति की जासकती है, इसप्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर प्रयत्न करता हुआ वह जिज्ञासु स्वयं या शास्त्र के स्वाध्याय तथा किसी गुरु की सहायता से आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, यह 'ऊह' नामक सिद्धि कही जाती है। ऐसे ही अध्ययन करते हुए किसी अन्य व्यक्ति के शब्द को सुनकर जब यह ज्ञान हो जाए, कि मैं आत्मा चेतनस्वरूप हूं, यह प्रकृति जड़ तथा मुझसे सर्वथा पृथक् है, इस यथार्थता को जानकर आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करता हुआ आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, यह दूसरी 'शब्द' नामक सिद्धि है। जब विधिपूर्वक गुरु के समीप रहकर उसकी सेवा शुश्रूषा करते हुए अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करके आत्मा की वास्तविकता को जान उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करता हुआ आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तब यह तीसरी 'अध्ययन' नामक सिद्धि कही जाती है। प्रारम्भ में कहे हुए त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जब कोई व्यक्ति ऊहसिद्धि आदि उपायों का आश्रय लेकर प्रयत्नशील होता है, और कालान्तर में सतत अभ्यास द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त करता है, तब आत्मज्ञानी होकर आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों से छूट जाता है, उनका विघात कर लेता है। यही तीन प्रकार की मुख्य सिद्धि हैं, जिनको आत्मिकदुःखविघात, भौतिकदुःखविघात तथा दैविकदुःखविघात के नाम से कहा गया है। जब किसी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखते हुए, केवल अपने मित्र को त्रिविध ताप से छुटकारा दिलाने की भावना से प्रेरित कोई ऐसा सुहृद् मिल जाए, जो अध्यात्ममार्ग में सहायता देता हुआ विवेकज्ञान तक पहुंचा दे, इसप्रकार से सम्पन्न सिद्धि का नाम 'सुहृत्प्राप्ति' कहा गया है। यह सातवीं सिद्धि है। आठवीं सिद्धि 'दान' है, जहां द्रव्य अथवा अन्य उपयोगी सामग्री देकर गुरु की आराधना करते हुए

आत्मज्ञान प्राप्त किया जाए।

विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि के रूप में पचास प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध, अध्यात्ममार्ग की अवस्थाओं का निरूपण किया गया। इनमें से प्रथम तीन आत्मज्ञान का अवरोध करने वाले बाधक तत्त्व हैं, और अन्तिम सिद्धि जिज्ञासु को प्रोत्साहित कर अध्यात्ममार्ग पर अग्रसर करने की अवस्था में आत्मज्ञान के सहायक व साधक बताए गए हैं। इन पचास प्रत्ययसर्गों को स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए निम्नलिखित तालिका में इसप्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

विपर्यय—	
१—तम	अविद्या
२—मोह	अस्मिता
३—महामोह	राग
४—तामिस्र	द्वेष
५—अन्धतामिस्र	अभिनिवेश
तुष्टि—	
१—प्रकृति	अम्भ
२—उपादान	सलिल
३—काल	ओघ
४—भाग्य	वृष्टि
५—अर्जनोपरम	पार
६—रक्षणोपरम	सुपार
७—क्षयोपरम	पारपार अथवा पारावार
८—अतृप्त्युपरम [भोगोपरम]	अनुत्तमाम्भ
९—हिंसोपरम	उत्तमाम्भ
सिद्धि—	
१—ऊह	तार
२—शब्द	सुतार
३—अध्ययन	तारतार
४—आत्मिकदुःखविघात	प्रमोद
५—भौतिकदुःखविघात	प्रमुदित अथवा मुदित
६—दैविकदुःखविघात	मोदमान
७—सुहृत्प्राप्ति	रम्यक
८—दान	सदाप्रमुदित अथवा सदामुदित

अशक्ति—

वर्ग	उपवर्ग	वध	फल
एकादश इन्द्रियवध	ज्ञानेन्द्रियवध	१—घ्राणवध	अजिघ्रता [घ्राणपाक]
		२—रसनवध	सुप्तिला [जडता]
		३—चक्षुर्वध	अन्धता
		४—त्वग्वध	कुष्ठता
		५—श्रोत्रवध	बधिरता
	कर्मेन्द्रियवध	६—वाग्वध	मूकता
		७—पाणिवध	कुणिता
		८—पादवध	पंगुता
		९—पायुवध	गुदावर्त्त [उदावर्त्त]
		१०—उपस्थवध	क्लीवता
	आन्तरिन्द्रियवध	११—मनोवध	उन्माद
सप्तदश बुद्धिवध	तुष्टिवध	१२—प्रकृतिवध	अनम्भ
		१३—उपादानवध	असलिल
		१४—कालवध	अनोघ
		१५—भाग्यवध	अवृष्टि
		१६—अर्जनोपरमवध	अपार
		१७—रक्षणोपरमवध	असुपार
		१८—क्षयोपरमवध	अपारपार अथवा अपारावार
		१९—अतृप्त्युपरमवध	अननुत्तमाम्भ
		२०—हिंसोपरमवध	अनुत्तमाम्भ
	सिद्धिवध	२१—ऊहवध	अतार
		२२—शब्दवध	असुतार
		२३—अध्ययनवध	अतारतार
		२४—आत्मिकदुःखविघातवध	अप्रमोद
		२५—भौतिकदुःखविघातवध	अप्रमुदित
		२६—दैविकदुःखविघातवध	अमोदमान
		२७—सुहृत्प्राप्तिवध	अरम्यक
		२८—दानवध	असदाप्रमुदित

ये पचास प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग ऐसी अवस्था हैं, जो अध्यात्ममार्ग में प्रतिकूल अथवा अनुकूल रूप से उपस्थित होती हैं। आधिभौतिक दृष्टि से प्रथम

कहे गए पच्चीस तत्त्वों का अध्यात्म की दृष्टि से दस अवस्थाओं में समावेश करके इस रूप में साठ तत्त्वों का विवेचन सांख्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उन दस अवस्थाओं को मौलिक अथवा मूलिक अर्थ कहा जाता है। आचार्यों ने उनका निरूपण निम्नरूप में किया है—

१—एकत्त्व २—अर्थवत्त्व ३—पारार्थ्य	केवल प्रधान की अपेक्षा से।
४—अन्यत्व ५—अकर्तृत्व ६—बहुत्त्व	केवल पुरुष की अपेक्षा से।
७—अस्तित्व ८—वियोग ९—योग	प्रकृति और पुरुष दोनों की अपेक्षा से।
१०—स्थिति	स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की अपेक्षा से, जिसमें बुद्धि से लगाकर स्थूलभूतपर्यन्त तेईस विकारभूत तत्त्वों का समावेश होजाता है।

इसप्रकार पचास बुद्धिसर्ग और दस मौलिक अर्थ मिलकर साठ पदार्थों का अध्यात्म दृष्टि से इस शास्त्र में विवेचन हुआ है, इसी आधार पर इसका नाम 'षष्टितन्त्र' है। दस मौलिक अर्थों का निरूपण तत्त्वसमास सूत्रों में किया गया है ॥४४॥

पचास बुद्धिसर्गों के सम्बन्ध में सूत्रकार अवशिष्ट निर्देश करता है—

नेतरादितरहानेन विना ॥४५॥

[इतरात्] इतर-अन्य (ऊह आदि) से [इतरहानेन] इतर-विपर्यय आदि का हान-विघात हुए [विना] बगैर, [न] नहीं (होती, इष्टसिद्धि)।

अभी जिन पचास बुद्धिसर्गों का निरूपण किया गया है, उनमें 'इतर' से अर्थात् ऊह आदि से, इतर हान के विना—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि इनकी हानि हुए विना—अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। मुख्य सिद्धि त्रिविध तापों का विघात है। ऊह आदि उसकी प्रयोजक सिद्धि हैं। तापत्रय का विनाशरूप सिद्धि, ऊह आदि के द्वारा सम्पन्न होती है। पर यह उस समय तक सम्पन्न नहीं होसकती, जब तक विपर्यय अशक्ति और तुष्टि का नाश न होजाए। इसके लिए यम नियम आदि का पालन शम दम तितिक्षा तप आदि का अभ्यास तथा दृढ़ धैर्य के साथ धारणा ध्यान आदि में अधिकाधिक संलग्नता आवश्यक हैं। इसप्रकार आत्मज्ञान में विपर्यय अशक्ति तुष्टि हेय, तथा सिद्धि उपादेय समझनी चाहिएं ॥४५॥

समष्टिसर्ग और प्रत्ययसर्ग का निरूपण कर दिया गया। कर्मभेद से व्यक्ति-भेद [३।१०] का उल्लेख संक्षेप से प्रथम किया है। अब उसीका विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया जाता है। सूत्रकार बताता है—

दैवादिप्रभेदा ॥४६॥

[दैवादिप्रभेदा] दैव आदि प्रभेदों वाली (है, सृष्टि)।

समस्त भोगापवर्ग तथा उसके लिए प्रयत्न सर्गकाल में संभव होसकते हैं, इसलिए मोक्षोपाय का प्रतिपादन करने के अनन्तर सर्ग का विस्तारपूर्वक कथन करना उपयुक्त है। दैव आदि रूप में सृष्टि अनेक प्रकार की होती है। यह केवल प्राणि-जगत् का वर्णन है। इसको संक्षेप से चौदह विभागों में संगृहीत किया है, जो अतिसंक्षेप से तीन वर्गों में समाविष्ट है। तीन वर्ग हैं—दैव, तिर्यक् और मानुष। सूत्र के 'आदि' पदसे अन्तिम दोनों का ग्रहण होजाता है। दैव आठ प्रकार का, तिर्यक् पांच प्रकार का तथा मानुष एक प्रकार का है, ये सब मिलाकर प्राणि-जगत् के चौदह विभाग हैं। कपिल ने तत्त्वसमास सूत्र [१८] में इसका निर्देश किया है। आठ प्रकार का दैव है—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच। पांच प्रकार का तिर्यक्सर्ग है—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर। ब्राह्मण से लगाकर चाण्डाल पर्यन्त, भूमण्डलमात्र का समस्त मानव एक ही प्रकार का सर्ग है। इनका विस्तृत विवेचन तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या में किया गया है॥४६॥

प्रकृति परिणामिनी है। इसमें निरन्तर प्रवृत्ति हुआ करती है। तब आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिए उत्पन्न सर्ग, कबतक चलता रहेगा? यदि सदा ऐसा ही रहे, तो अपवर्ग की कल्पना नहीं होसकती। सूत्रकार बताता है—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥

[तत्कृते] आत्मा के लिए [आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं] ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त [सृष्टिः] सर्ग प्रवृत्ति [आविवेकात्] विवेकज्ञान होने तक रहती है।

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त सृष्टि, आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिए उत्पन्न हुई, विवेकज्ञान होने तक बराबर प्रवृत्त रहती है। किसी एक पुरुष को विवेकज्ञान होने पर प्रकृति की प्रवृत्ति रुद्ध होजाती है, ऐसा कदापि न समझना चाहिए। वस्तुतः प्रकृति की प्रवृत्ति तो कभी रुद्ध नहीं होती, पर जिस आत्मा को विवेकज्ञान होगया है, उसके लिए प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं रहता, इसलिए उसकी दृष्टि से प्रकृति का प्रवृत्त रहना या न रहना कोई विशेषता नहीं रखता। जब प्रकृति से उसका कोई सम्पर्क न रहा, तब भले ही प्रकृति प्रवृत्त रहे, उसके लिए वह अप्रवृत्त ही है। इसी भावना से विवेकज्ञान होने से पहले तक प्रकृति की प्रवृत्ति बतलाई है। क्योंकि चेतन का प्रकृति के साथ सम्पर्क उसी समय तक रहता

है। उसके अनन्तर आत्मा वृत्तिरूपता का परित्याग कर स्वरूप में अवस्थित रहता है, यह अपवर्ग की स्थिति है ॥४७॥

जो आत्मा इस स्थिति को प्राप्त नहीं करपाते, उनके लिए प्रकृति प्रवृत्त रहती है, और वे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ऊंच नीच लोकों अथवा योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥४८॥

[सत्त्वविशाला] सत्त्वप्रधान सृष्टि [ऊर्ध्वं] उन्नत-ऊंची होती है।

समस्त शुभकर्म सत्त्व का परिणाम होते हैं। इसलिए सत्त्वबहुल सृष्टि उच्च लोकों अथवा योनियों में होती है। सूत्र में 'ऊर्ध्व' पद का यही अभिप्राय है, कि सात्त्विक भावनाओं से युक्त व्यक्तियों का जन्म ऐसे माता-पिता के घर होता है, जहां आध्यात्मिक उन्नति अथवा आत्मज्ञान के लिए अधिकाधिक सुविधा प्राप्त हों। इससे किसा लोकविशेष में जाने का तात्पर्य नहीं है। संसार तो सब ही त्रिगुणात्मक है। फिर पृथ्वी और उसके समान अन्य लोकों की रचना में तमस् का प्राधान्य रहता है। इसलिए लोकों की रचना की दृष्टि से किसी को सत्त्वबहुल नहीं कहा जासकता। फलतः सत्त्व आदि की न्यूनाधिकता भावनाओं के आधार पर समझनी चाहिए, जो किसी परिवार अथवा जनसमुदाय में संभव होसकती हैं। ऐसे जनसमुदाय को सूत्रके 'ऊर्ध्व' पद से कहा गया है। ऐसी सृष्टि सत्त्वबहुल समझनी चाहिए ॥४८॥

इसीप्रकार—

तमोविशाला मूलतः ॥४९॥

[तमोविशाला] तमः-प्रधान सृष्टि [मूलतः] निम्न होती है।

तमोबहुल सृष्टि निम्न योनियों अथवा श्रेणियों में होती है। जो अज्ञानान्धकार से आवृत हैं। जहां आत्मचर्चा का प्रश्न नहीं, पेट भरना और सन्तति बढ़ाना ही स्वभाव है। बहुत से मनुष्य और अन्य समस्त प्राणी-संसार इसीप्रकार की सृष्टि है। यह सब तमोगुणप्रधान सृष्टि कही जाती है ॥४९॥

रजोबहुल सृष्टि मध्यमश्रेणी की होती है। इसी अर्थ को सूत्रकारने कहा—

मध्ये रजोविशाला ॥५०॥

[रजोविशाला] रजः-प्रधान सृष्टि [मध्ये] मध्य में।

रजोगुणप्रधान अथवा रजोबहुल सृष्टि मध्यमश्रेणी की कही जाती है। समस्त मानव समुदाय प्रायः इसी सृष्टि का अंग है। पर इसी में कुछ सत्त्वबहुल और कुछ तमोबहुल सृष्टि भी है। यह सब अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार हुआ करता है। इसकी निश्चित रेखा कहीं नहीं खींची जासकती। शुभ के साथ कुछ अशुभ रहता है, और अशुभ में भी शुभ की संभावना रहती है। उपर्युक्त विभाग स्थूल दृष्टि से न्यूनाधिकता के आधार पर कल्पना किया गया है, जो सृष्टि की त्रि-

गुणात्मकता का द्योतक है। उसीके अनुसार कर्म करता हुआ आत्मा विभिन्न प्रकार के सर्ग का निमित्त बना करता है ।।५०।।

प्रकृति की विविध प्रवृत्ति में कर्मवैचित्र्य निमित्त हैं, इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्रकार स्वयं करता है—

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ।।५१।।

[कर्मवैचित्र्यात्] कर्मों की विचित्रता से [प्रधानचेष्टा] प्रकृति की विविध प्रवृत्ति (हुआ करती हैं) [गर्भदासवत्] गर्भदास के समान।

प्रधान की समस्त विविध प्रवृत्ति यद्यपि उसके मूलरूप की विचित्रता के कारण होती हैं। सत्त्व रजस् तमस् की विभिन्नता और उनके समन्वय की न्यूनाधिकता, कार्य की विचित्रता का कारण है। पर मूलतत्त्वों के इसप्रकार वैलक्षण्य की ओर उन्मुख होने में कर्मों की विविधता भी निमित्त है। कारण यह है, कि यह समस्त सर्ग, आत्मा के लिए रचा जाता है। यदि उस रचना में आत्मा का किसी तरह का कोई सम्पर्क न माना जाए, तो आत्मा के भोग के लिए रचना की अनुकूलता का नियमन नहीं किया जासकता। जैसा भी जगत् बनता है, या बनाया जाता है, उसमें आत्मा के भोगों के लिए अनुकूलता का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है। इस अनुकूलता की व्यवस्था के लिए आत्मा और रचना के अन्तराल में कोई संयोजक स्वीकार करना ही होगा, जो इनके सामञ्जस्य को बनाकर रखता है। वह आत्माओं के कृतकर्म ही कहे जासकते हैं। स्वरूपतः आत्माओं की स्थिति समान है, मूलकारण की स्थिति भी समान है। अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रकार के कर्म, प्रधान द्वारा रचना की विलक्षणता में निमित्त बनते हैं। तब उनके कारण केवल तीन प्रकार के सत्त्व रजस् तमस् का अनन्त प्रस्तार होजाता है। सूत्रमें गर्भदास का दृष्टान्त कार्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकेत करने के लिए दिया गया है। दास के घर में उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वभावतः सेवाकार्य में अधिक चतुर हो सकता है। वह साधारण संकेत पर स्वामी के लिए निरन्तर विविध कार्यों में सम्पृक्त रहता है। प्रकृति भी इसीप्रकार आत्माओं के भोग आदि के लिए उनके कर्मानुसार प्रवृत्त हुआ करती है ।।५१।।

शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ऊंच-नीच लोकों की प्राप्ति का वर्णन किया गया। अतिशुभ कर्मों से उच्चलोक की प्राप्ति को परम कृतार्थता समझना ठीक होगा। उससे अतिरिक्त मोक्ष अवस्था स्वीकार क्यों की जाए? सूत्रकार कहता है—

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ।।५२।।

(ऊर्ध्वलोकप्राप्ति मोक्ष है, ऐसा विचार) [हेयः] परित्याज्य है, [तत्रापि] वहां पर भी [उत्तरोत्तरयोनियोगात्] आगे-आगे योनि-जन्म-सम्बन्ध से [आवृत्तिः] सतत आवागमन (बना रहता है)।

यह विचार हेय है, परित्याज्य है, कि शुभ कर्मों से किसी उत्तम लोक में पहुंच जाना अर्थात् श्रेष्ठ योनि में जन्म लेना ही मोक्ष का स्वरूप है। क्योंकि ऐसी स्थिति में पुन:-पुन: योनि के साथ सम्पर्क से त्वरित आवृत्ति बनी रहती है। अभिप्राय यह है, कि श्रेष्ठ योनि में जन्म लेकर भी जन्म का त्वरित क्रम समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत वहां भी बराबर जल्दी-जल्दी जन्म लेना पड़ता है, जो मोक्ष की अवस्था के सर्वथा विपरीत है। ऐसी कोई योनि अथवा लोक नहीं है, जहां जन्म लेने के अनन्तर विवेकज्ञान हुए विना इसप्रकार जन्म-क्रम समाप्त होजाए। पर मोक्ष अवस्था प्राप्त होने पर सतत जन्म-क्रम नहीं रहता। इसलिए किसी उत्तम लोक अथवा श्रेष्ठ योनि को प्राप्त होना मोक्ष का स्वरूप है, यह विचार सर्वथा हेय है ॥५२॥

इसी अर्थ को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार कहता है—

समानं जरामरणादिजं दु:खम् ॥५३॥

[जरामरणादिजं] बुढ़ापे और मृत्यु आदि से उत्पन्न [दु:खं] दु:ख [समानं] समान है (सब योनियों व लोकों में)।

बुढ़ापा और मृत्यु आदि से जनित दु:ख भी समान होता है। साधारण अथवा नीच योनियों में जो दु:ख होते हैं, चाहे वह बुढ़ापे से हो अथवा मृत्यु से या अन्य किन्हीं कारणों से, वैसे ही सब प्रकार के दु:ख श्रेष्ठ योनि अथवा उत्तम लोकों में भी बराबर होते हैं। ऐसी अवस्था को मोक्ष कहना सम्भव नहीं। अभिप्राय यह है, कि जन्म जरा मृत्यु आदि का भय सब लोकों और सब योनियों में समान है। इस दृष्टि से ये सब भोग की अवस्था हैं, अपवर्ग की नहीं। अतएव इन अवस्थाओं की प्राप्ति कृतकृत्यता नहीं कही जासकती ॥५३॥

मूल कारण में लवलीन होजाना भी कृतकृत्यता नहीं है, इस अर्थका प्रतिपादन सूत्रकार करता है—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्॥५४॥

[कारणलयात्] कारण में लय से [कृतकृत्यता] पूर्णकृतार्थता [न] नहीं, [उत्थानात्] उठ जाने से [मग्नवत्] डूबे के समान।

सूत्र में 'कारण' पद का अर्थ मूल प्रकृति है। यहां कारण में लय, परस्पर कार्यकारणभाव के आधार पर प्रतिपादन नहीं किया गया। क्योंकि आत्मा का कारण प्रकृति नहीं है, वस्तुत: आत्मा का कोई कारण नहीं होता, आत्मा नित्य है। फिर कार्य-कारणभाव के आधार पर कारण-प्रकृति में आत्मा के लय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए 'कारणलय' का अभिप्राय है-मूल कारण प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए उसमें लवलीन होजाना। ऐसे लय का अर्थ है—प्रकृति का साक्षात्कार कर लेना। जो व्यक्ति सर्वात्मना लगकर प्रकृति तत्त्वों का अनुसन्धान करते, और उनकी वास्तविकता को जान लेते हैं, यही उनका प्रकृति में लय होना

है। वस्तुतः संसार में किसी भी व्यक्ति की यह बहुत ऊंची स्थिति है, और इसमें वह अतिशय सुख का अनुभव करता है। परन्तु यह पूर्ण कृतकृत्यता नहीं है। यह एक ऐसी स्थिति है, जैसे एक व्यक्ति गर्मी से कष्ट पाकर शीतल जल में गोता लगाता है, जब तक वह जल में निमग्न रहता है, कष्टप्रद उष्णता का अनुभव न कर शान्त शीतलता का उपभोग करता है, पर जैसे ही शीतल जल से निकल कर बाहर आता है, बाहर की उष्णता फिर उसे सताने लगती है। ऐसे ही जो व्यक्ति प्रकृति तत्त्वों के अनुसन्धान में लवलीन रहते हैं, और उनके विवेचन व साक्षात्कार में एक प्रकार के अनुपम सुख का रसास्वादन करते हैं, वे उससे विरत होने पर साधारण जनों के समान तापत्रय से फिर घेर लिए जाते हैं, और वे उसी तरह के कष्टों का अनुभव करते हैं, जैसे साधारण जन। इसलिए कारणलय से वास्तविक कृतकृत्यता का प्राप्त होना सम्भव नहीं।

वर्त्तमान काल में ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने 'कारणलय' अवस्था को प्राप्त कर लिया है। परमाणु-आयुध की रचना, उन्हीं व्यक्तियों की प्रकृति-उपासना का चमत्कार है। कपिल के काल में ऐसे विशेषज्ञ व्यक्ति थे या नहीं? यह तो निश्चितरूप से नहीं कहा जासकता। पर यह निश्चित है, कि कपिल इस बात को जानता था, कि यह अवस्था प्राप्त की जासकती है। अन्यथा वह इस सूत्र को कदापि न लिखता। प्रकृति की उपासना अथवा प्रकृति में लय होने का सामञ्जस्यपूर्ण अर्थ, उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त और कुछ किया जाना कठिन है। यदि सांसारिक विषयों में डूबे रहना, और उसी अवस्था को बनाए रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना ही—कारण में लय अथवा प्रकृति की उपासना का-अर्थ है, तो यह एक अति साधारण अवस्था है, इससे किसी विशेषता का प्रतिपादन नहीं होता। इसलिए 'कारणलय' का उपर्युक्त अर्थ ध्यान देने योग्य है ॥५४॥

कारणलय अर्थात् प्रकृतिलय से कृतकृत्यता का अभाव जानकर शिष्य आशंका करता है, कि जगत् का मूलकारण प्रकृति को न मानकर चेतन ईश्वर को मान लेना चाहिए। शास्त्र में इस अर्थ की पुष्टि के लिए संकेत भी मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह होगा, कि कारणलय से कृतकृत्यता कहना—ईश्वर में लय से कृतकृत्यता का होना कहा जाएगा। आत्मा का ईश्वर में लीन होना अथवा उस आनन्द में डूब जाना ही तो मोक्ष है, और जगत् से ईश्वर का सम्बन्ध सांख्य भी मानता ही है। इस आशंका का सूत्रकार समाधान करता है—

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥५५

[अकार्यत्वे] (ईश्वर का) कार्य-परिणाम न होने पर [अपि] भी [तद्योगः] जगत् का सम्बन्ध है (ईश्वर से), [पारवश्यात्] परवश होने के कारण (जगत् के)।

जगत् चेतन ईश्वर का कार्य नहीं है। चेतन ईश्वर का कार्य न होने पर भी जगत् का ईश्वर के साथ सम्बन्ध अवश्य है। क्योंकि जगत् परवश है। जगत् के परवश होने से उसका ईश्वर के साथ सम्बन्ध है। वह समस्त जगत् का नियन्त्रण करता है। 'योऽन्तरो यमयति' [बृह० ३।७।३-२३]। ईश्वर नियन्ता है, और जगत् नियम्य है, यही इन दोनों का सम्बन्ध है। जब जगत् का मूलकारण ईश्वर नहीं है, तो 'कारणलय' पद का—ईश्वर में लय होना-अर्थ नहीं किया जा सकता ।।५५।।

ईश्वर नियन्ता और जगत् नियम्य है, इसका क्या नियामक है? सूत्रकार बताता है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।।५६।।

[हि] क्योंकि [सः] वह (ईश्वर) [सर्ववित्] सर्वान्तर्यामी है और [सर्वकर्त्ता] सब जगत् का रचयिता है।

क्योंकि वह चेतन ईश्वर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी और सबका रचयिता है, जो सर्वत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों तक में व्याप्त होकर समस्त जगत् की रचना करता है, इसीलिए वह विश्व का नियन्ता है। इसप्रकार घट-घट में व्याप्त हुआ सब की रचना करने वाला ईश्वर ही नियन्ता हो सकता है। सूत्र में 'सर्ववित्' पद सर्वव्यापक अथवा सर्वान्तर्यामी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह पद सत्तार्थक 'विद्' धातु से बना है। जिसकी सर्वत्र सत्ता है, वह 'सर्ववित्' है। उपनिषदों में यह प्रयोग प्रायः हुआ है। देखिए—मुण्डकोपनिषद् [१।१।६, तथा २।२।७], आथर्वणीया संन्यासोपनिषद् [१], तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् [६।१६]। इन स्थलों में सर्वज्ञ और विश्वविद् पदों के साथ 'सर्ववित्' पद का प्रयोग हुआ है। यदि वहां पर यह ज्ञानार्थक 'विद्' धातु का प्रयोग हो, तो इससे पूर्व 'सर्वज्ञ' अथवा 'विश्वविद्' पदों का प्रयोग निरर्थक होगा। फलतः उन स्थलों में और प्रस्तुत सूत्र में यह पद सर्वव्यापक अथवा सर्वान्तर्यामी अर्थ का निर्देश करता है। ।।५६।।

इसप्रकार समस्त जगत् नियम्य और चेतन ईश्वर उसका नियन्ता व अधिष्ठाता है। इस अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहता है—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।।५७।।

[ईदृशेश्वरसिद्धिः] इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि (इस शास्त्र में) [सिद्धा] दृढ़ता से की गई है।

जगत् के मूलकारणरूप अथवा उपादानभूत ईश्वर को न मानकर सांख्य जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व को निश्चित रूप में स्वीकार करता है। प्रथमाध्याय [१।५७] में भी उपादानभूत ईश्वर का सांख्यदृष्टि से प्रतिषेध किया गया है। फलतः 'कारणलय' पद का अर्थ—ब्रह्म अथवा ईश्वर में लय होना—नहीं किया जासकता। प्रत्युत प्रकृति में लय होना ही किया जाना

चाहिये, जैसा कि प्रथम चौवनवें सूत्र में किया गया है। वह स्थिति वास्तविक कृत-कृत्यता की प्रयोजक नहीं है, अतः मोक्ष के प्रयोजक आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहना आवश्यक है ॥५७॥

तृतीयाध्याय में अब तक स्थूलभूत तथा देह की उत्पत्ति, आत्मज्ञान के उपाय, बुद्धिसर्ग एवं व्यष्टिसर्ग आदि का विवेचन और अन्य प्रासंगिक विवेचन किया गया। द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में संक्षेप से सर्ग का प्रयोजन बताया था। अब उसी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है। इस प्रसंग में सूत्रकार कहता है—

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात्, उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥५८॥

[प्रधानसृष्टि:] प्रकृति से परिणत जगत् [परार्थं] अन्य (आत्मा) के लिये [अपि] ही है, [स्वत:] अपने आप (प्रकृति के) [अभोक्तृत्वात्] भोक्ता न होने से, [उष्ट्रकुंकुमवहनवत्] ऊंट के द्वारा केसर ढोये जाने के समान।

सूत्र का 'अपि' पद समुच्चय में नहीं, प्रत्युत अवधारण अर्थात् 'एव' के अर्थ में है, और अर्थ के अनुसार उसका सम्बन्ध 'परार्थ' पद के साथ है। प्रधानसृष्टि—प्रकृति से जगत् की रचना, परार्थ ही होती है। क्योंकि प्रकृति स्वत:—स्वरूप से अभोक्ता है। भोक्ता तत्त्व चेतन होसकता है, अचेतन नहीं। प्रकृति अचेतन है, इसलिए उसका भोक्ता होना सम्भव नहीं। चेतन आत्मा के लिए उससे जगत् की रचना होती है। जैसे ऊंट केसर का वहन करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोकर लेजाता है, पर उसका यह प्रवृत्ति अपने लिए नहीं होती, अपने स्वामी अथवा दूसरे व्यक्तियो के लिए होती है, जो केसर का उपयोग करते हैं। ऊंट की प्रवृत्ति केवल वहन के लिए है, स्वामी प्रेरयितामात्र है। केसर के उपभोक्ता अन्य व्यक्ति हैं। इसीप्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति में अपना कोई प्रयोजन नहीं होता, उसका प्रवर्त्तक चेतन ईश्वर है, और उपभोक्ता हैं दूसरे चेतन आत्मा। इसप्रकार अचेतन प्रकृति चेतन आत्मा के लिए जगत्रूप में परिणत होती है। ऊंट का दृष्टान्त केवल परार्थ प्रवृत्ति की समता के आधार पर दिया गया है। इस में यह भी रहस्य ध्वनित होता है, कि जैसे कुङ्कुमवहन चेतन प्रेरित ऊंट के देहद्वारा सम्भव है, ऐसे प्रकृति चेतनप्रेरित ही प्रवृत्त होती है ॥५८॥

अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति किस प्रकार होती है? सूत्रकार बताता है—

अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥

[अचेतनत्वे] अचेतन होने पर [अपि] भी [क्षीरवत्] चेतनाधिष्ठित क्षीर के समान [प्रधानस्य] प्रधान-प्रकृति की (चेतनाधिष्ठित) [चेष्टितं] प्रवृत्ति होती है।

प्रधान के अचेतन होने पर भी, क्षीर की प्रवृत्ति के समान उसकी प्रवृत्ति होती है। जैसे माता के स्तनों में बच्चे के लिए दूध प्रसृत होने लगता है, ऐसे ही आ-

त्मा के लिए प्रकृति प्रवृत्त होने लगती है। इस क्षीर के उदाहरण में दो विशेषता हैं। पहली विशेषता यह है, कि दूध का प्रस्रवण सजीव माता के स्तनों में सम्भव है, निर्जीव के नहीं। दूसरी विशेषता यह है, कि विशेष अपवादों को छोड़कर माता के स्तनों में दूध अपने बच्चे के लिए प्रस्रुत होता है, अन्य के लिए नहीं। पहली विशेषता इसी सूत्र के द्वारा ध्वनित की गई है। क्षीर के दृष्टान्त में यह रहस्य है, कि चेतना से प्रेरित अथवा सजीव देह में दूध का प्रस्रुत होना इस बात को स्पष्ट करता है, कि प्रकृति में चेतन की अपेक्षा अथवा प्रेरणा के विना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्षीर और प्रकृति की प्रवृत्ति में यही समानता है। प्रश्न था कि अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति कैसे होती है? उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट किया, कि चेतन की प्रेरणा से होती है। इसीप्रकार के भाव को [२।३७] सूत्र में भी प्रकट किया है। कतिपय व्याख्याकारों ने प्रस्तुत दृष्टान्त से यह आशय निकालने का यत्न किया है, कि अचेतन क्षीर के समान अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः उन व्याख्याकारों ने दृष्टान्त के रहस्य की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि दूध में चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति हो, तो बच्चे के न होने पर, अन्य बच्चे के आने पर, बच्चे के होने पर प्रतिक्षण तथा माता की निर्जीव अवस्था में भी दूध की प्रवृत्ति रहनी चाहिए। पर यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध है। क्षीर के दृष्टान्त में जो रहस्य है, उसको स्पष्ट कर दिया गया है।

अपने ही बच्चे के लिए माता के स्तन में दूध का प्रस्रवण होता है, वत्समात्र के लिए नहीं, और कभी मां अपने बच्चे को भी लात मार देती है। इससे ध्वनित होता है,कि माता की अपनी अनुकूल स्थिति, और बच्चे के लिए स्नेहभावना, जो अपने ही के लिए अधिक संभव होसकती है, दूध की प्रवृत्ति में निमित्त होती है। इसलिए दूध की प्रवृत्ति को चेतननिरपेक्ष अथवा स्वतः नहीं कहा जासकता। यह क्षीर दृष्टान्त की दूसरी विशेषता है। कुछ व्याख्याकारों ने क्षीर दृष्टान्त का यह अभिप्राय प्रकट किया है, कि जैसे दूध स्वतः विना किसी चेतन की प्रेरणा के दधिभाव में परिणत होता है, ऐसे ही प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। पर वस्तुतः देखा जाए, तो दूध का दधिरूप में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को जैसे ही निकाला जाता है, स्वतः परिणत होने के लिए छोड़ दिया जाए, तो उसका दधिरूप परिणाम नहीं होसकता। कालान्तर में विकृत होकर कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य होजाएगा। दूध का दधिपरिणाम होने के लिए उसे ठीक तरह उबालना, फिर उसके उचित तापमान के अनुसार उसमें जामन देना, अनन्तर अनुकूल बाह्य तापमान में उसे सुरक्षित रखना, यह सब प्रक्रिया आवश्यक है, जो चेतन के सहयोग के विना संभव नहीं। जैसे दूध के दधिपरिणाम में बाह्य निमित्तों की अपेक्षा है, जिन में चेतना भी आवश्यक है, ऐसे ही दूध का स्वतः कहे जाने वाला विकार भी

बाह्यनिमित्तनिरपेक्ष नहीं कहा जासकता। प्रकृति के स्वतः कहे जाने वाले समस्त विकार चेतनसापेक्ष ही होते हैं। उनको स्वतः केवल इसलिए कहा जाता है, कि किसी भी विकार अथवा कार्यरूप में परिणत होने, या विकार का उपादान होने के लिए प्रकृति से अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की अपेक्षा नहीं होती ॥५६॥

उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से दृढ़ करने के लिए सूत्रकार ने कहा—

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥

[वा] अथवा [कालादेः] काल आदि के अनुसार [कर्मवत्] कर्मों= क्रियाओं की तरह (प्रकृति की प्रवृत्ति होती है) [दृष्टेः] ऐसा देखे जाने से।

अथवा यह देखे जाने से, कि भिन्न-भिन्न ऋतु आदि के अनुसार किसान आदि का किया हुआ कर्म अपने समय पर फलित होता है, इसीप्रकार प्रकृति के परिणाम भी स्थिति के अनुसार हुआ करते हैं। किसान खेत में उचित ऋतु में बीजारोपण करता है, यह उसका कर्म है। आरोपित बीज ऋतु के अनुसार परिणत व अङ्कुरित होता है, और समय पाकर महान वृक्ष होजाता है। यदि कोई फ़सल हो, तो पककर तयार होजाती है। इस समग्र कर्म में बीजारोपण तक किसान का सहयोग रहता है। आगे अङ्कुर आदि उत्पत्ति में बीज, मट्टी, पानी, ऊष्मा, बाह्य तापमान आदि कुछ उपादान तथा कुछ अन्य निमित्त हैं। अङ्कुरादि कार्य, विशेष ऋतु और विशेष उपादानों की व्यवस्था में संभव होसकते हैं, इसलिए वे अपने किसी नियन्ता का अनुमान कराते हैं। इस दृष्ट स्थिति के अनुसार समस्त प्रकृति की प्रवृत्ति में किसी सहयोगी चेतन नियन्ता का निश्चय होता है। सूत्र में 'आदि' पद से अन्य अपेक्षित निमित्तों का संग्रह समझ लेना चाहिए ॥६०॥

पिछले क्षीर दृष्टान्त में माता की अनुकूल स्थिति और बच्चे के प्रति स्नेहातिशय की भावना से दूध की प्रवृत्ति का होना ठीक है। पर यह अवस्था प्रकृति की प्रवृत्ति में कैसे संभव होसकती है ? सूत्रकार समाधान करता है—

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥६१॥

[अनभिसन्धानात्] अभिप्राय—रहस्य अथवा स्वार्थ से रहित [स्वभावात्] स्वरूप से (प्रकृति की) [चेष्टितम्] प्रवृत्ति होती रहती है, [भृत्यवत्] भृत्य के समान।

प्रकृति का स्वभाव—अपना अस्तित्व ही ऐसा है, कि वह विना किसी अपने अभिप्राय अथवा स्वार्थ के प्रवृत्त हुआ करती है। प्रकृति परिणामिनी है, इसलिए उसके अपने अस्तित्व का पर्यवसान इसीमें है, कि वह कार्यरूप में परिणत हो। उसके ऐसे परिणाम में अपना कोई अभिप्राय नहीं। वह सर्वतोभावेन पुरुष के लिए प्रवृत्त होती है। जैसे दूध की प्रवृत्ति के लिए माता का स्नेहातिशय निमित्त कहा गया, इसीप्रकार प्रकृति की अपनी स्थिति ही ऐसी है, कि वह चेतन की प्रेरणा से प्रवृत्त होती रहे। अन्यथा उसका अस्तित्व निष्प्रयोजन होजाता है। जैसे कोई भृत्य एक-

वार प्रेरणा पाकर अपने स्वामी के लिए बराबर प्रवृत्त रहा करता है। इसलिए अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति चेतनसान्निध्य के कारण हुआ करती है, यह निश्चय होता है ॥६१॥

प्रकृति की प्रवृत्ति में एक अन्य निमित्त का सूत्रकार वर्णन करता है—

कर्माकृष्टेर्वानादितः ॥६२॥

[अनादितः] अनादि काल से [कर्माकृष्टेः] कर्मों के आकर्षण-प्रभाव से [वा] भी (प्रकृति में प्रवृत्ति हुआ करती है)।

सूत्र में 'वा' पद समुच्चय अर्थ में है। कर्मों का क्रम अनादि है। आत्मा कर्म करता है और उनके अनुसार फलों को भोगा करता है। कर्मों के करने और भोगने के लिए जगत् की स्थिति आवश्यक है। इसप्रकार अनादि कर्मों का आकर्षण (प्रभाव) भी प्रकृति की प्रवृत्ति में निमित्त रहता है ॥६२॥

प्रधान की प्रवृत्ति और उसके निमित्तों का वर्णन किया गया। इस प्रसंग में प्रधान की निवृत्ति के कारण का सूत्रकार निरूपण करता है—

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥६३॥

[विविक्तबोधात्] आत्मा का ज्ञान होजाने से [प्रधानस्य] प्रकृति की [सृष्टिनिवृत्तिः] सर्ग रचना की निवृत्ति होजाती है, [पाके] पकाने का कार्य हो जाने पर [सूदवत्] पाचक की प्रवृत्ति के समान।

विवेकज्ञान होजाने से उस आत्मा के लिए प्रधान की सृष्टि समाप्त समझनी चाहिए, जिसको विवेकज्ञान हो गया है। जैसे अपने स्वामी के लिए पाक-कार्य सम्पन्न होजाने पर पाचक कार्यविरत होजाता है। ऐसे ही विवेकज्ञान हो-जाने पर उस व्यक्ति के लिए प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं रहता। यद्यपि प्रकृति अपने कार्य से सर्वथा विरत कभी नहीं होती। क्योंकि ऐसा अवसर कभी नहीं आ-सकता, जब भोक्ता आत्माओं का अभाव हो जाए। जब तक भोक्ता विद्यमान हैं, प्रकृति की प्रवृत्ति में कोई रोकथाम न होगी। विवेकज्ञान होजाने पर जो आत्मा मुक्त होजाता है, उसके लिए प्रकृतिकार्य की निवृत्ति का तात्पर्य यही है, कि जिस परमलक्ष्य को आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में रहकर पूरा करना चाहता है, वह सम्पन्न हो गया। तब उसके लिए प्रकृति की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन होजाती है। इसी स्थिति को प्रकृति का कार्यविरत होना कहा जाता है ॥६३॥

इससे यह स्पष्ट है, कि जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान हुआ है, वही मुक्त होगा, शेष आत्माओं की स्थिति पूर्ववत् बनी रहेगी, और उनके लिए प्रकृति की प्रवृत्ति बराबर वैसी ही चालू रहेगी। इसी अर्थ को सूत्रकार कहता है—

इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥६४॥

[इतरः] बद्ध आत्मा [इतरवत्] दूसरे बद्ध आत्मा के समान (प्रकृति के

सम्पर्क में बना रहता है) [तद्दोषात्] उसके अविवेक से।

मुक्त आत्मा से जो इतर-बद्ध आत्मा है, वह अपने दूसरे साथी बद्ध आत्मा के समान संसार में उस समय तक बना रहेगा, जब तक उसे आत्मज्ञान न होजाए। प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा के रहने का यह परमलक्ष्य है, कि उसे विवेकज्ञान होजाए। इसका पूरा न होना एक दोष है, न्यूनता है, और वह अविवेकरूप है। जब तक यह लक्ष्य पूर्ण न होगा, भोक्ता का प्रकृति के साथ सम्पर्क बना रहेगा। इसलिए किसी एक आत्मा के मुक्त होजाने पर शेष आत्माओं के लिए उस रूप में कोई प्रभाव नहीं होता, और संसार बराबर उसी तरह चला करता है॥६४॥

विवेकज्ञान होजाने पर अपवर्ग के स्वरूप का सूत्रकार निर्देश करता है—

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥६५॥

[द्वयोः] दोनों का एक दूसरे से [वा] अथवा [एकतरस्य] दोनों में से एक (आत्मा) का [औदासीन्यं] विरत होजाना [अपवर्गः] अपवर्ग है।

प्रकृति और पुरुष दोनों का एक दूसरे से उदासीन अर्थात् विरत होजाना अपवर्ग है। अथवा इन दोनों में से एकतर-चेतन आत्मा का, विवेकज्ञान होजाने के कारण प्रकृति के सम्पर्क में न रहना 'अपवर्ग' कहा जाता है। वस्तुतः प्रकृति तो एक आत्मा के मुक्त होजाने पर विना किसी थोड़ी भी रद्दोबदल के ठीक उसी रूप में बराबर चालू रहती है, इसलिए उसके औदासीन्य का वर्णन औपचारिकमात्र है। आत्मा ही अपनी पहली वृत्तिसरूपता को छोड़कर स्वरूप में अवस्थित होता है, इसलिए उसका औदासीन्य अथवा अपवर्ग कहना वास्तविक है॥६५॥

प्रकृति का पूर्वोक्त औदासीन्य वास्तविक नहीं, प्रत्युत औपचारिक है। इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्रकार स्वयं करता है—

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः ॥६६॥

[अन्यसृष्ट्युपरागे] अन्य (बद्ध आत्मा) के लिए सर्गरचना करने में [अपि] तो (प्रकृति) [न] नहीं [विरज्यते] विरत (उदासीन) होती [इव] जैसे [प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य] रज्जु को वास्तविक रूप में जान लेनेवाले पुरुष का [उरगः] सर्पभ्रम अथवा सर्पभय आदि (नहीं रहता, अन्यों के लिए भ्रम या भय बराबर बना ही रहता है)। सूत्र में 'अपि' पद 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त है।

जो आत्मा मुक्त होगए हैं, उनसे अन्य पुरुषों के लिए तो सृष्टि की रचना में प्रकृति विरक्त—उदासीन नहीं होती। वह बराबर कार्यरूप में परिणत होती रहती है। विवेकज्ञान से जिन आत्माओं को मोक्ष प्राप्त होचुका है, उनके लिए प्रकृति की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं रहता, इसलिए उनकी दृष्टि से यह कह दिया जाता है, कि प्रकृति अपनी प्रवृत्ति से विरत होगई। पर वस्तुतः जिनको विवेकज्ञान नहीं हुआ है, उनके लिए संसार वैसा ही चलता रहता है। जैसे कतिपय

व्यक्ति साथ चले जारहे हों। सन्ध्या के झुटपुटे में उन्होंने मार्ग में पड़ी रस्सी को सांप समझ लिया। वे सब भय से घबड़ाकर एक ओर को बचकर निकल गए। उनमें से एक व्यक्ति अगले दिन प्रातःकाल उसी मार्ग से निकला। उसने सूर्यप्रकाश में देखा, कि रात अन्धेरे में जिसको मैंने सांप समझा था, वह वास्तव में रस्सी है। उसका भ्रम एवं भय निवृत्त होजाता है, पर अन्य व्यक्तियों को—जिन्हें उस स्थल में रस्सी और सांप के विवेक का ज्ञान नहीं हुआ—भय आदि बराबर बना रहता है। ऐसे ही विवेकज्ञानी के लिए संसार का उस समय उपयोग न होने से उसके समाप्त होजाने का व्यवहार किया जाता है, पर अविवेकी के लिए संसार उसी तरह बना रहता है।।६६।।

और अधिक दृढ़ता के लिए सूत्रकार अगले दो सूत्रों से इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है—

कर्मनिमित्तयोगाच्च ।।६७।।

[च] और [कर्मनिमित्तयोगात्] कर्मरूप निमित्तों के सम्बन्ध से (प्रकृति प्रवृत्त रहती है)।

जो आत्मा मुक्त होगए, उनके सञ्चित प्रारब्ध आदि समस्त कर्मों का नाश होचुका। पर जो अविवेकी हैं, उनके सब प्रकार के अभुक्त कर्म अभी वैसे ही पड़े हैं। जब तक वे कर्मरूप निमित्त बने रहेंगे, प्रकृति की प्रवृत्ति में कोई रुकावट नहीं आसकती ।।६७।।

इसी प्रकार—

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।।६८।।

[नैरपेक्ष्ये] निरपेक्ष होने पर [अपि] भी [प्रकृत्युपकारे] प्रकृति द्वारा (आत्मा के भोगापवर्गरूप) उपकार में [अविवेकः] अविवेक [निमित्तम्] निमित्त है।

अचेतन होने से प्रकृति निरपेक्ष है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं। उसका कोई स्वार्थ नहीं, प्रयोजन नहीं। उसके लिए मुक्त और बद्ध सब आत्मा समान हैं। वह परिणामिनी है, इसलिए परिणाम या प्रवृत्ति उसका स्वभाव है। वह जगद्रूप में परिणत होकर सब आत्माओं के लिए विविध भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है। मानो उसने यह हाट खोली है, जो आवे अपने अनुकूल सौदा-सामग्री ले लेवे। जो विवेकज्ञानी होगए हैं, वे इस गली में झांकते नहीं, क्योंकि उनके लिए यहां कुछ आकर्षक नहीं रहा। इसलिए प्रकृति के द्वारा आत्मा के उपकार में अविवेक को निमित्त माना गया है। जब तक अविवेकी हैं, यह हाट खुली रहेगी। वे ही इसके ग्राहक हैं। इसप्रकार कतिपय आत्माओं के मुक्त हो जाने पर भी अविवेक बराबर बना रहता है, जो प्रकृति की प्रवृत्ति को चालू रखने में निमित्त है। फलतः प्रधान-

प्रवृत्ति का कभी अवरोध नहीं होता ।।६८।।

यदि प्रकृति परिणामिनी होने से प्रवृत्तिशील है, तो इसकी प्रवृत्ति का मुक्त आत्माओं पर प्रभाव क्यों नहीं होता ? सूत्रकार बताता है—

नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ।।६९।।

[प्रवृत्तस्य] प्रवृत्तिशील की [अपि] भी [चारितार्थ्यात्] चरितार्थ—सफल होजाने से [निवृत्तिः] निवृत्ति हो जाती है [नर्त्तकीवत्] नर्त्तकी के समान।

प्रकृति निस्सन्देह प्रवृत्तिशील है, और वह पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए जगद्रूप में निरन्तर परिणत हुआ करती है। पर जिस आत्मा के भोगापवर्ग को सिद्ध कर चुकी है, उसके लिए वह चरितार्थ होजाती है, उसके प्रयोजन को पूर्ण कर चुकी होती है। इसलिए प्रवृत्तिशील भी प्रकृति, मुक्त आत्मा के लिए प्रयोजन पूरा होजाने के कारण निवृत्त समझी जाती है। जैसे एक नर्त्तकी सभा-मंच पर नृत्य-प्रदर्शन के लिए प्रवृत्त होती है। जिन सभासदों की उत्सुकता नृत्यदर्शन के लिए बनी रहती है, वे उस ओर सतत आसक्त रहते हैं। पर जिनकी तृप्ति होजाती है, वे सभास्थान को छोड़कर चले जाते हैं, और उस प्रदर्शन के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखते। यद्यपि नर्त्तकी नृत्य-प्रदर्शन में संलग्न रहती है, उसका निरन्तर कार्य ही यह है, पर जो उसकी कला की विशेषता को समझ चुके हैं, वे इसमें कोई रुचि नहीं रखते। उनके लिए यह प्रदर्शन नहीं के बराबर है। यही कारण है, कि मुक्त आत्माओं पर प्रकृति की प्रवृत्ति का कोई प्रभाव नहीं होता ।।६९।।

उसी अर्थ को सूत्रकार प्रकारान्तर से उपस्थित करता है—

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ।।७०।।

[दोषबोधे] दोष जान लेने पर [अपि] तो [प्रधानस्य] प्रधान—प्रकृति का [उपसर्पणं] प्रवर्त्तन—प्रवृत्ति होना [न] नहीं (रहता) [कुलवधूवत्] कुलवधू के समान। सूत्र का 'अपि' पद 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त है।

जैसे एक कुलवधू अपने कोई दोष प्रकट होजाने पर लज्जाशील बनी अपने स्वामी के सन्मुख जाने का साहस नहीं करती। ऐसे ही प्रकृति अपने परिणामिता दुःखात्मकता आदि दोषों के जान लिए जाने पर लज्जाशील सी बनी हुई मानो उस ज्ञानी आत्मा के सन्मुख जाने को प्रोत्साहित नहीं होती। इसप्रकार विवेकज्ञान होजाने पर मुक्त आत्मा के लिए प्रकृति के निवृत्त होने का वर्णन किया जाता है। यद्यपि प्रकृति की प्रवृत्ति सदा बनी रहती है, जो मुक्त आत्मा को प्रभावित नहीं करती ।।७०।।

आत्मा स्वभावतः न बद्ध है न मुक्त है। इसी अर्थ का निर्देश सूत्रकार

करता है—

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

[अविवेकात्] अविवेक से [ऋते] विना [पुरुषस्य] पुरुष (चेतन आत्मा) के [बन्धमोक्षौ] बन्ध और मोक्ष [एकान्ततः] अव्यभिचरितरूप से [न] नहीं होते ।

पुरुष के बन्ध और मोक्ष एकान्ततः नही होते । आत्मा केवल बद्ध हो, अथवा केवल मुक्त हो, ऐसा नहीं है । वह अविवेक के विना बद्ध नहीं हो सकता और विवेक के विना मुक्त । सूत्र में 'अविवेक' पद अपने विरोधी विवेक का भी उपलक्षण है । ये दोनों यथाक्रम बन्ध और मोक्ष के प्रयोजक होते हैं । फलतः आत्मा को सदा बद्ध अथवा सदा मुक्त नहीं कहा जासकता । आत्मा का वास्तविक स्वरूप चेतन है, जो सदा एकरूप रहता है, यह कहा जासकता है, कि आत्मा सदा चेतन है । बन्ध और मोक्ष उसकी दो अवस्थामात्र हैं, जिन में से एक के अभाव में दूसरी का अस्तित्व रहता है ॥७१॥

बन्ध और मोक्ष पदों का प्रयोग प्रकृति के लिए भी प्रकारान्तर से किया जाता है, इस अर्थ का निर्देश सूत्रकार करता है—

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ॥७२॥

[आञ्जस्यात्] आपाततः [प्रकृतेः] प्रकृति के (बन्ध और मोक्ष होते हैं) [ससङ्गत्वात्] ससंग होने से [पशुवत्] पशु के समान । पूर्वसूत्र से 'बन्धमोक्षौ' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में है ।

आपाततः यह कहा जासकता है, कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होते हैं। क्योंकि प्रकृति सङ्गसहित है । सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का परस्पर अनिवार्य सहयोग ही संग है। इसी को संघात कहते हैं, प्रकृति का यही स्वरूप है, इसलिए वह ससंग है । सत्त्व आदि गुण एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। जो जुड़ा है, वह बंधा है, इसप्रकार उसका बद्ध होना अनायास सिद्ध होता है । जब कोई आत्मा मुक्त होगया, तो स्पष्ट है, उसके लिए प्रकृति को कुछ करना नहीं पड़ता। इसप्रकार उसका मुक्त होना भी कहा जासकता है । जैसे एक पशु, जब रस्सी से बंधा होता है, और अपने स्वामी के लिए कार्य करता है, तब वह बद्ध कहा जाता है । पर जब रस्सी से छूट जाता है, और अपने स्वामी के लिए कुछ करना शेष नहीं रहता, तब वह मुक्त है । यही स्थिति प्रकृति में है । इसप्रकार मोटे तौर पर यह कहा जासकता है, कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति को होते हैं। वस्तुतः विषयवर्णन का यह एक प्रकारमात्र है । बन्धमोक्ष अवस्था चेतन आत्मा की ही हैं ।

कतिपय व्याख्याकारों ने इस सूत्र के आधार पर बन्ध और मोक्ष वास्तविकरूप में प्रकृति के माने हैं । कदाचित् उनकी यह धारणा है, कि यदि वस्तुतः आत्मा

का बन्ध या मोक्ष माना जाए, तो आत्मा ससंग अथवा परिणामी या विकारी होजाएगा। पर यह स्मरण रखना चाहिए, कि परिणाम या संग (त्रिगुणात्मकता) के साथ बन्ध या मोक्ष की व्याप्ति नहीं है। चेतन और त्रिगुण परस्पर सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। न कभी चेतन त्रिगुण होसकता और न त्रिगुण चेतन। बन्ध और मोक्ष अवस्था, क्योंकि भोग के साथ सम्बन्ध रखती हैं, इसलिए वे आत्मा की अवस्था संभव होसकती हैं। इन अवस्थाओं में विभिन्न स्थिति होते हुए भी आत्मा के चेतनस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। यदि आत्मा के बन्ध से उसकी चेतनता में अन्तर आजाए, तो उसे भोक्ता माना जाना ही असंभव है। वह भोक्ता तभी होसकता है, जबकि वह चेतन है, और इस भय से यदि भोक्ता भी अचेतन बुद्धि आदि को मान लिया जाता है, तो प्रकृति का परार्थतास्वरूप सर्वथा नष्ट होजाता है, और उस स्थिति में आत्मा को स्वीकार करना भी व्यर्थ है। यह सांख्य का सिद्धान्त कदापि नहीं। इसलिए बन्ध और मोक्ष आत्मा की अवस्था हैं, यही माना जाना चाहिए। अगले सूत्र में स्पष्ट ही सूत्रकार ने आत्मा के बन्ध और मोक्ष का उल्लेख किया है ।।७२।।

प्रकृति केवल बन्ध और मोक्ष का साधन है। पर ये अवस्था आत्मा की हैं। किस रूप से प्रकृति आत्मा के बन्ध का कारण होता है, और किस रूप से मोक्ष का ? सूत्रकार बताता है—

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्
विमोचयत्येकेन रूपेण ।।७३।।

[प्रधानं] प्रधान (प्रकृति) [सप्तभिः] सात [रूपैः] रूपों से [आत्मानं] आत्मा को [बध्नाति] बांधता है [एकेन] एक [रूपेण] रूप से [विमोचयति] छुड़ाता=मुक्त करता है [कोशकारवत्] कोशकार (रेशम-कीट) के समान।

धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य—ये आठ भाव प्रकृतिजनित बताए गए हैं। इनमें से एक ज्ञान को छोड़कर शेष सात रूपों के द्वारा प्रकृति आत्मा के बन्ध का कारण बनती है, और एक ज्ञान रूप के द्वारा आत्मा को बन्ध से मुक्त कराती है। जैसे कोशकार—रेशम का कीड़ा रेशम के खोल से सब ओर से आवेष्टित रहता है, केवल एक द्वार से बाहर निकल जाता है। कोशकार का दृष्टान्त यहां इसी अंश में दिया गया है। सांख्य में आत्मा के बन्ध की स्थिति इसीसे मिलती-जुलती वर्णन की गई है। सूक्ष्मशरीर—जो अठारह तत्त्वों से घटित होता है—आत्मा का आवेष्टन बताया गया है। आत्मा की समस्त गति-आगति इसी आवेष्टन के सहित मानी गई है। आत्मा इसमें घिरा हुआ रहता है, और यह स्थिति विवेकज्ञान होने तक बराबर बनी रहती है। यह आत्मा के बन्ध की स्थिति है। केवल विवेकज्ञान इसको समाप्त करता है। इसलिए केवल यही एक द्वार है,

जिससे आत्मा अपनी बन्ध अवस्था से विनिर्मुक्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस दृष्टान्त का यह अर्थ करना उपयुक्त न होगा, कि कोश-कार-रेशम का कीड़ा जैसे कोश अर्थात् खोल बनाकर स्वयं उसमें समाविष्ट होजाता है, ऐसे ही प्रकृति अथवा आत्मा स्वयं बन्ध या मोक्ष को प्राप्त करते हैं। कारण यह है, कि सांख्यविचारधारा के अनुसार इसप्रकार की स्थिति न तो प्रकृति की संभव है, और न आत्मा की। प्रकृति जगत् की रचना करके स्वयं उसमें बद्ध अथवा मुक्त होती है, यदि यह माना जाए, तो आत्मा के अतिरिक्त अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक होगा। दूसरी आपत्ति इसमें यह है, कि प्रकृति को परार्थ माना गया है, यदि मोक्ष और भोग प्रकृति के लिए हैं, तो उसकी परार्थता नष्ट होजाती है। यदि आत्मा की ऐसी स्थिति मानी जाए, कि आत्मा स्वयं जगत् की रचना करके इसमें समाविष्ट हो बद्ध और मुक्त होता रहता है, तो वह भी ठीक न होगा। क्योंकि चेतन आत्मा स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि सूत्र के 'कोशकार' दृष्टान्त का ऐसा अर्थ करना सांख्यसिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है। फलतः यह कहना भी युक्तियुक्त न होगा, कि वास्तविक बन्ध-मोक्ष प्रकृति के हैं, और आत्मा में उनका उपचार होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रकृति की परार्थता तथा आत्मा का अस्तित्व सन्देह में पड़ जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत दृष्टान्त का प्रकृत में पूर्वोक्त अर्थ करना ही सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल है ॥७३॥

धर्म अधर्म आदि सात भाव बन्ध के निमित्त बताए और विवेकज्ञान मोक्ष का निमित्त। विवेकज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने पर बन्ध के निमित्तों का त्याग करना होगा, तब धर्म वैराग्य आदि का भी त्याग आवश्यक है। ऐसी अवस्था में दृष्टहानि दोष होगा, क्योंकि आत्मज्ञान के लिए धर्म वैराग्य आदि का अनुष्ठान लोक में स्पष्ट देखा जाता है। सूत्रकार समाधान करता है—

निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥७४॥

[अविवेकस्य] अविवेक का [निमित्तत्वं] निमित्त होना (मुख्य) है, [इति] इस कारण [दृष्टहानिः] देखे हुए का विरोध [न] नहीं।

बन्ध का मूल निमित्त अविवेक है। धर्म वैराग्य आदि के अनुष्ठान काल में भी अविवेक की अवस्था बनी रहती है। विवेकज्ञान होजाने पर इसकी निवृत्ति होती है। धर्म आदि का अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि में उपयोगी होता है। अनन्तर अभ्यास द्वारा समाधिलाभ होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। यह विवेकज्ञान की अवस्था है। फलतः बन्ध का मूल निमित्त अविवेक है, उसी की निवृत्ति के लिए समस्त प्रयत्न होता है, और ये सब प्रयत्न अविवेक की अवस्था है। यह कहना चाहिए कि अविवेक के उच्छेद का समस्त प्रयत्न अविवेक के साम्राज्य में ही होता है। इसलिए विवेकज्ञान की प्राप्ति में धर्मादि अनुष्ठान का कोई विरोध न होने से

दृष्टहानि की संभावना नहीं। धर्म आदि को बन्ध का निमित्त केवल इस दृष्टि से कहा गया है, कि उनका अस्तित्व बन्ध अर्थात् अविवेक की अवस्था में ही सम्भव है ॥७४॥

अविवेक का उच्छेद करने वाले विवेक की सिद्धि किस प्रकार होती है ? सूत्रकार बताता है—

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः ॥७५॥

[तत्त्वाभ्यासात्] आत्मतत्त्व के अभ्यास से [न इति] न तो विकार आत्मा है [न इति] और न मूलप्रकृति आत्मा है इसप्रकार [त्यागात्] त्याग से [विवेकसिद्धिः] विवेक की सिद्धि होती है।

आत्मा के अस्तित्व का साक्षात्कार करने के अभ्यास से, तथा 'ये समस्त विकार आत्मा नहीं हैं' और इनका मूलकारण 'प्रकृति भी आत्मा नहीं है' इस भावना के साथ इनके त्याग से विवेक की सिद्धि होती है। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का साक्षात्कार होजाना विवेक है, उसकी प्राप्ति के लिए अभ्यास करना, योग आदि का साधन करना उसकी सिद्धि का प्रयोजक है। पर यदि यह साधना देह, इन्द्रिय और बुद्धि आदि विकारों को आत्मा समझकर की जाए, तो वह सर्वथा निष्फल होगी, क्योंकि आत्मा का वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसीप्रकार इनका कारण मूलप्रकृति भी आत्मा का रूप नहीं है, इसलिए उसको आत्मा समझकर साधना करना भी निष्फल होगा। इसी कारण सूत्र में 'नेति नेति' पदों द्वारा विकार और मूलकारण की आत्मरूपता का निषेध करके उनके त्याग को विवेक का प्रयोजक बताया है। तात्पर्य यह है कि विवेक के लिए आत्मा के रूप में अचेतन-भावना का परित्याग और चेतन-भावना का अभ्यास आवश्यक है। इसीसे विवेकज्ञान प्रस्फुटित होता है ॥७५॥

यदि तत्त्वाभ्यास से और आत्मरूप में अचेतन-भावना के परित्याग से विवेकसिद्धि होकर मोक्षप्राप्ति होजाती है; तो उपदेश के अनन्तर प्रत्येक शिष्य को इसप्रकार के ज्ञान और अभ्यासद्वारा एक ही जन्म में समान रूप से मोक्ष प्राप्त होजाना चाहिए। सूत्रकार इस विषय में व्यवस्था करता है—

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥७६॥

[अधिकारिप्रभेदात्] अधिकारियों के प्रकृष्ट भेद से [नियमः] नियम [न] नहीं।

विवेकज्ञान के लिए प्रवृत्त अधिकारियों में परस्पर भेद होने के कारण यह नियम नहीं किया जासकता, कि सबको समानरूप से एक साथ मोक्ष होजाना चाहिए। साधारणरूप से तीन प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख [१।३५॥६।२२] किया गया है—उत्तम, मध्यम और अधम। इनमें कोई तीव्र प्रयास करने

वाले होते हैं, कोई मध्यम तथा कोई मन्द प्रयास करते हैं, फिर सब की विविध प्रकार की सुविधा और असुविधा रहती हैं। इसलिए सब जिज्ञासुओं के लिए मोक्ष-प्राप्ति के किसी एक समय का नियत किया जाना अशक्य है ॥७६॥

विवेकज्ञान होजाने पर तत्काल शरीरपात नहीं होजाता । प्रत्युत प्रारब्ध कर्म जब तक रहते हैं, भोगस्थिति बनी रहती है । अध्याय की समाप्ति तक इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है । सूत्रकार कहता है—

बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥

[मध्यविवेकतः] विवेक अवस्था में [अपि] भी [बाधितानुवृत्या] कर्मों की अनुवृत्ति से [उपभोगः] उपभोग (बना रहता है) ।

विवेक होजाने की अवस्था में भी बाधित की अनुवृत्ति चलते रहने से उप-भोग बना रहता है । विवेक से जिस स्थिति की बाधा-निवृत्ति की जाती है, वह बाधित कहाती है । विवेकज्ञान समस्त सञ्चित कर्मों को भस्म कर देता है । पर प्रारब्ध कर्म—अर्थात् जो कर्म फलोन्मुख हो चुके हैं, जिन के फलों को भोगने के लिए वर्तमान शरीर प्रारम्भ हुआ है—विवेकज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते । उनकी समाप्ति फल भोगकर होती है । इसलिए प्रारब्ध कर्मों से जनित दुःख तथा क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आसन, वसन आदि का क्रम चलते रहने से विवेक अवस्था में भी कुछ भोग की अवस्था चलती रहती है । वस्तुतः यह भोग और मोक्ष का सन्धिकाल समझना चाहिए । प्रारब्ध कर्मों के चलते रहने से उनका भोग भी होता है, और विवेकज्ञान होजाने से मुक्त अवस्था भी आजाती है । यहां प्रारब्धकर्मजनित दुःखों को भी 'बाधित' इसलिए कहा गया, कि उनका अस्तित्व केवल वर्तमान देह की स्थिति तक है आगे निश्चित ही उनकी बाधा होचुकी है ॥७७॥

भोग और मोक्ष की इस सन्धिकाल की अवस्था में उस आत्मज्ञानी को जीवन्मुक्त कहा जाता है । सूत्रकार ने यही बताया—

जीवन्मुक्तश्च ॥७८॥

[च] अतएव [जीवन्मुक्तः] जीवन्मुक्त है (वह) ।

सूत्र में 'च' पद हेतु के अर्थ में है । क्योंकि ऐसा व्यक्ति जीवित रहता हुआ मुक्त होता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त है । देह बने रहने से अभी जीवित है, और विवेकज्ञान होजाने के कारण मुक्त है ॥७८॥

यह स्थिति समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है । ऐसे व्यक्ति आत्मज्ञान का उपदेश करते और शास्त्रों की रचना करते हैं । सूत्रकार ने कहा—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥

[उपदेश्योपदेष्टृत्वात्] उपदेश्य का उपदेष्टा होने से [तत्सिद्धिः] जीवन्-मुक्त का होना सिद्ध होता है ।

उपदेश्य—अर्थात् समस्त अधिकारी जनता के लिए उपदेष्टा होने के कारण जीवन्मुक्त व्यक्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। 'उपदेश्य' पद का 'उपदेश करने योग्य आत्मज्ञान आदि--अर्थ भी समझ लेना चाहिए। आत्मज्ञान अथवा अन्य परोक्ष अर्थों का प्रतिपादन आत्मज्ञान के अनुभवी ठीक कर सकते हैं। ये जीवन्मुक्त ही अध्यात्मसम्बन्धी शास्त्रों की रचना करते हैं। परमर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र का इसी रूप में उपदेश किया है ॥७९॥

वैदिक साहित्य भी जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है। सूत्रकार ने कहा—

श्रुतिश्च ॥८०॥

[श्रुतिः] वैदिक साहित्य [च] भी (जीवन्मुक्त के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

समस्त वैदिक साहित्य के रचयिता जीवन्मुक्त आत्मा ही रहे हैं। वैदिक साहित्य अपने अस्तित्व से जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में समस्त शाखासंहिता उपवेद व ब्राह्मण ग्रंथों का समावेश समझना चाहिए ॥८०॥

यदि ऐसा न हो, तो समाज अव्यवस्थित हो जाए। सूत्रकार ने कहा—

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥८१॥

[इतरथा] अन्यथा (यदि ऐसा न माना जाए, तो) [अन्धपरम्परा] अन्धपरम्परा (लोक में चल जावे)।

यदि आत्मज्ञानी उपदेष्टा न हों, विवेकज्ञान होते ही उनका शरीरपात हो-जाता हो, और न ऐसे विवेकी जीवन्मुक्त शास्त्रनिर्माता हों, तो समाजव्यवस्था सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट होजाए। साक्षात्कृतधर्मा आत्मज्ञानी ऋषियों के उपदेश और उनके शास्त्र ही समाज को व्यवस्थित रखते हैं। क्योंकि उनके बताए मार्ग पर चलता हुआ जनसमाज सुखी सम्पन्न तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अग्रसर रहता है। अन्यथा अदूरदर्शितापूर्ण आपसी संघर्षों में पड़कर समाज विपन्न एवं नष्ट होजाता है। समाज के सुमार्ग पर चलने और सुरक्षित रहने के लिए ऋषियों की जीवन्मुक्त अवस्था का होना अत्यन्त उपयुक्त है ॥८१॥

शिष्य आशंका करता है, कि विवेकज्ञान होजाने पर समस्त कर्मों का क्षय होजाता है। जब कर्म न रहा, तो जीवन कैसे रहेगा ? क्योंकि वह कर्मों का ही फल है। तब जीवन्मुक्त का अस्तित्व निराधार होगा। सूत्रकार समाधान करता है—

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥८२॥

[चक्रभ्रमणवत्] चाक के घूमने के समान [धृतशरीरः] शरीर को धारण

किए रहता है (जीवन्मुक्त)।

जैसे कुम्हार चाक में डण्डा डालकर उसे वेग से घुमाकर छोड़ देता है, फिर भी चाक कुछ समय तक घूमता रहता है। ऐसे ही प्रारब्ध कर्मों से चालित यह शरीर, विवेकज्ञान से सञ्चितकर्मनाश होजाने पर भी प्रारब्ध द्वारा उपयुक्त काल तक चलता रहता है। इसलिए जीवन्मुक्त का ग्रस्तित्व निराधार नहीं ॥८२॥

वेग नामक संस्कार के कारण चाक घूमता रह सकता है, पर विवेकज्ञान से तो समस्त कर्मों का उच्छेद होजाता है। फिर देहधारण कैसे संभव होगा? सूत्रकार समाधान करता है—

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥

[संस्कारलेशतः] संस्कारलेश से [तत्सिद्धिः] देहधारण की सिद्धि है।

विवेकज्ञान हो जाने पर समस्त सञ्चित कर्मो का उच्छेद होजाता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं। इसलिए प्रारब्ध संस्कारों का जो लेश शेष रह जाता है, उसीके कारण देहधारण की सिद्धि होती है। प्रारब्ध कर्म क्या हैं? जिन कर्मों के फलों को भोगने के लिए वर्तमान देह ग्रारम्भ हुग्रा है, उनमें से कुछ भोगे जाचुके हैं ग्रौर कुछ शेष हैं। ये सब कर्म फलोन्मुख हैं, ग्रर्थात् फल को उत्पन्न करने के लिए सर्वथा तैयार हैं। इन कर्मों का ज्ञान से उच्छेद नहीं होता, इनका उच्छेद फल भोगने से ही होगा। वे फल भोगे ग्रवश्य जाते हैं, पर उनसे जीवन्मुक्त को कोई ग्रनुकूल या प्रतिकूल भाव उत्पन्न नहीं होते। कर्मों की यह स्थिति ऐसी है, जैसे एक सिंह ग्रपने स्थान से छलांग लगाता है। जैसे ही उसने छलांग लगाई, शिकारी ने उसको गोली मारी। गोली ठीक लग जाने पर भी सिंह तत्काल नहीं गिरता, उस छलांग को पूरा करके ही गिरता है। इसीप्रकार वर्तमान देहधारण ग्रात्मा की एक छलांग है, जो नियमित कर्मरूप शक्ति से लगाई गई है। ग्रात्मज्ञानी उसमें विवेकरूपी गोली मारता है, निशान ठीक बैठता है, पहली सञ्चित शक्ति समाप्त होजाती है, ग्रागे छलांग नहीं लग सकती। वर्तमान देहपात के ग्रनन्तर विवेकज्ञान रहते फिर जन्म न होगा, पर जो छलांग लगाई जाचुकी है, वह ग्रवश्य पूरी होगी। वर्तमान देह ग्रपने कर्मानुसार पूरा होगा। उस ग्रवस्था में प्रारब्धकर्म भी ग्रागे किसी ऐसे कर्म का प्रजनन नहीं कर सकते, जो इस कर्मपरम्परा को चालू बनाए रख सकें। उस समय कर्म वस्तुतः नपुंसक होजाते हैं, ग्रौर उतना हाथपैर मारकर स्वतः शान्त होजाते हैं। फलतः विवेकज्ञान होजाने पर कर्मों का वास्तविक ग्रस्तित्व नहीं माना जाना चाहिए। जीवन्मुक्त की स्थिति ऐसी ही होती है ॥८३॥

प्रस्तुत विषय का सूत्रकार उपसंहार करता है—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥८४॥

[विवेकात्] विवेक से [निःशेषदुःखनिवृत्तौ] समस्त दुःखों की निवृत्ति

होजाने पर [कृतकृत्यता] पूर्ण सफलता—मुक्ति होती है, [इतरात्] अन्य (किसी उपाय) से [न] नहीं।

विवेकज्ञान से अशेष दुःखों की निवृत्ति होजाने पर कृतकृत्यता अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त होजाती है। विवेकज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से इस अवस्था का प्राप्त करना संभव नहीं। 'नेतरात्' पदों का दो वार पाठ अध्याय की समाप्ति का द्योतक है। वेद आत्मज्ञान को मोक्ष का उपाय बताता है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] उस चेतन आत्म-पुरुष को जानकर ही मृत्यु के पार होता है, मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।।८४।।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना—**उदयवीर-शास्त्रिणा** समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां 'विद्योदय' भाष्ये
वैराग्याध्याय स्तृतीयः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तीन अध्यायों में शास्त्रीय अर्थों का निरूपण किया गया। अब चतुर्थ अध्याय में उसीके अनुसार शास्त्र तथा लोकप्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा विवेक-ज्ञान-साधनों को प्रस्तुत किया जाता है। उसका प्रथम सूत्र है—

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ।।१।।

[तत्त्वोपदेशात्]तत्त्व के उपदेश से (विवेक ज्ञान होता है) [राजपुत्रवत्] राजपुत्र के समान।

पूर्व अध्याय के अन्तिम सूत्र से यहां 'विवेक' पदकी अनुवृत्ति समझनी चाहिए। तत्त्व के उपदेश से विवेक होजाता है, राजपुत्र के समान। जब किसी अज्ञानी को यथार्थतत्त्व का उपदेश किया जाता है, तो वह उसकी वास्तविकता को जान लेता है, और उसके अज्ञान की निवृत्ति होजाती है, इसीप्रकार आत्म-विषयक अज्ञान के निवृत्त होनेपर विवेक अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार होजाता है, और वह चेतन, प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।

तत्त्व के उपदेश से अज्ञान की निवृत्ति में प्राचीन काल के एक राजपुत्र का कथानक इस रूप में कहा जाता है—एक वार कोई राजपुत्र अपने परिवार से स्तनन्धय आयु में ही बिछुड़ गया, जंगल में किसी शबरजातीय व्यक्ति को वह मिल गया, बालक सुन्दर व स्वस्थ था, शबर ने उसे पाल-पोस लिया। अब अज्ञान से वह यही समझता है, कि मैं शबर का पुत्र हूं। राजा के मन्त्री को किसी प्रकार ज्ञात हुआ, कि राजपुत्र जीवित है, और अमुक जंगलनिवासी किसी व्यक्ति के पास सुर-क्षित है। मन्त्री वहां जाता है, और उसे समझाता है, कि तुम शबर या शबर के पुत्र नहीं हो, तुम तो अमुक राजा के पुत्र हो, एक वार आकस्मिक दुर्घटना में किसी तरह तुम परिवार से अत्यल्प आयु में बिछुड़ गए थे। वह बालक मन्त्री के इस कथन के अनन्तर अपने आपको शबर समझने की मिथ्या भावना से मुक्त होजाता है, और यथार्थरूप से राजा समझने लगता है। इसीप्रकार आत्मज्ञानी तत्त्वोपदेष्टा के आत्मविषयक उपदेश के अनन्तर अधिकारी जिज्ञासु प्रकृति एवं प्राकृत जड़ धर्मों से अतिरिक्त अपने आपको शुद्ध चेतनस्वरूप समझ लेता है, और वह मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।।१।।

कभी एक को उपदेश देने पर प्रसंगवश दूसरा भी लाभ उठा लेता है, इस

आशय से सूत्रकार ने कहा—

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥२॥

[पिशाचवत्] पिशाच के समान [अन्यार्थोपदेशे] अन्य के लिए अर्थ का (वस्तुतत्त्व का) उपदेश होनेपर [अपि] भी (दूसरे को विवेकज्ञान का लाभ होजाता है)।

किसी अन्य को उपदेश देने के प्रसंग में यदि कोई दूसरा व्यक्ति भी उसे सुन ले, तो वह भी उस उपदेश का लाभ उठाकर वास्तविक तत्त्व को जान लेता है, पिशाच के समान। इस विषय में एक आख्यायिका इसप्रकार कही जाती है—

एक आत्मज्ञानी गुरु अपने शिष्य को उपदेश देने के लिए सुविधा की दृष्टि से एकान्त जंगल में ले गया, और वहीं निवासकर उसे आत्मज्ञान का उपदेश देता रहा। उस उपदेश को एक पिशाच छिपकर बराबर सुनता रहता था। उसके अनुसार आचरण करता हुआ वह भी कालान्तर में आत्मज्ञानी होगया। सन्मार्ग का उपदेश कहीं से किसी तरह प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार आचरण करने से तत्त्वज्ञान अवश्य होजाता है ॥२॥

यदि एक बार उपदेश से ज्ञान न हो, तो निरन्तर उसकी आवृत्ति करते रहना चाहिए। इसी आशय से सूत्रकार ने कहा—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

[उपदेशात्] उपदेश से [असकृत्] बार-बार [आवृत्तिः] दुहराना (ज्ञान का साधन है)।

उपदेश के अनन्तर उसकी बार-बार आवृत्ति करना तत्त्वज्ञान का साधन है। इससे ओङ्कार एवं गायत्री आदि के निरन्तर जप करने की भावना स्पष्ट होती है। किसी वस्तु के निरन्तर स्मरण करते रहने का अवश्य एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है, यदि कोई व्यक्ति शाब्दिक रूप में प्रथम आत्म-स्वरूप को समझकर निरन्तर उसका चिन्तन करता है, तो कालान्तर में एक ऐसी स्थिति की निश्चित संभावना की जासकती है, जब उस व्यक्ति को आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो-जाए। योग में अभ्यास से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का यही स्वरूप है।

अथवा सूत्र में 'उपदेशात्' पञ्चम्यन्त पद षष्ठी के अर्थ में समझना चाहिए। उपदेश की निरन्तर आवृत्ति तत्त्वज्ञान की उद्भावक होती है। जो व्यक्ति तीव्र वैराग्य, शम दम आदि साधनसंपत्ति और विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं, उनको एक बार उपदेश से ही तत्त्वज्ञान होजाने की संभावना रहती है, पर जो मन्दमति हैं, वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न नहीं हैं, उनके लिए उपदेश की निरन्तर आवृत्ति तत्त्वज्ञान को प्रकट कर देती है। छान्दोग्य [अ० ६] आदि उपनिषदों में आरुणि-श्वेतकेतु के संवाद से यह अर्थ स्पष्ट होता है। लोक में प्रत्येक

गुरु इस बात को जानता है, कि जब बालक अक्षराभ्यास आरम्भ करता है, तो उसको वही बात बार-बार बताई व सिखाई जाती है, और इसप्रकार निरन्तर उपदेश से कालान्तर में वह यथार्थ तत्त्व को जान लेता है। यही बात अध्यात्मदिशा में चलने वाले जिज्ञासु के लिए लागू होती है ॥३॥

तत्त्वज्ञान के उपदेश के लिए उपदेष्टा गुरु का होना ही आवश्यक नहीं, वह सुहृद् आदि के द्वारा भी प्राप्त किया जासकता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहता है—

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

[उभयोः] दोनों के [दृष्टत्वात्] देखे जाने से [पितापुत्रवत्] पिता और पुत्र के समान।

उपदेष्टा और उपदेश्य दोनों के विषय में कभी यह देखा जाता है, कि उनमें व्यवस्थित व नियमित गुरु शिष्यभाव नहीं होता, पर उनमें यथार्थ तत्त्व का आदान-प्रदान होता है, और उससे आवश्यक फल की प्राप्ति होती है, पिता-पुत्र के समान। इस विषय में यह आख्यायिका निम्नलिखित रूप में वर्णन की जाती है—

किसी समय एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपनी पत्नी को गर्भिणी जानकर धनसंग्रह के लिए परदेश को चला गया। बहुत काल के अनन्तर जब वापस हुआ, तो अपने ग्राम में पहुंचने से पहले ही रात्रि आजाने के कारण किसी नगर की धर्मशाला में उसे रात्रि व्यतीत करने के लिए ठहरना पड़ा। उसके ग्राम से वह नगर इतनी दूरी पर था, कि अगले दिन सुविधा के साथ वह अपने घर पहुंच सकता था। धर्मशाला में उसके साथ के कमरे में ही अपनी माता के साथ एक रोगी किशोर बालक ठहरा हुआ था, जो रोग के कारण रातभर रोता-चिल्लाता रहा। उसके क्रन्दन से पथिक ब्राह्मण को बार-बार क्रोध आता रहा, और वह उसे बुरा-भला कहता रहा, कि यहां यह कहां से दुष्ट आ मरा, यात्रा से श्रान्त मुझको शान्ति से सोने भी नहीं देता, दो-चार बार उसने अपने स्थान से ही धमकाया, सुनाया भी। बालक ने भी यह सुनकर अपनी माता से कहा, कि यह बेकार क्यों किड़किड़ कर रहा है, हमें तो कष्ट है, यह क्यों नहीं और जगह चला जाता। जैसे-तैसे रात बीती और प्रभात हुआ। प्रातःकाल प्रकाश में बालककी माता ने अपने भर्त्ता पथिक ब्राह्मण को पहचाना, और उसे बुलाकर कहा, कि यह जो रातभर रोता-चिल्लाता रहा है, आपका पुत्र है, और पुत्र से कहा, कि रात जिनके लिए तुम यहां से चले जाने की भावना कर रहे थे, यह तुम्हारे पिता हैं। उसके उपदेश से पिता-पुत्र दोनों ने वास्तविक स्थिति को समझा। उनके एक-दूसरे के प्रति पहले अन्यथाभाव नष्ट होगए, और वास्तविक अनुकूल भावना जागृत होगईं।

अध्यात्म विषय में भी इसीप्रकार कभी गुरु के विना अन्य सुहृद् आदि

के कथनमात्र से तत्त्वज्ञान होजाता है। लोक में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जासकते हैं। प्रत्येक काल में इसप्रकार की घटना सामने आती रहती हैं। सूत्रकार के सामने इसप्रकार के कौनसे उदाहरण होंगे, यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई स्पष्ट संकेत नहीं हैं। पर अनन्तर काल की अनेक ऐसी घटनाओं को हम जानते हैं। पाणिनि, कालिदास और तुलसीदास के दृष्टान्त हमारे सामने हैं। कहा जाता है, पाणिनि पहले बहुत जड़मति थे। एक वार दयार्द्रचित्त होकर माता ने उन्हें समझाया, तब घोर तपस्या में लीन होकर उन्होंने शब्दतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। कालिदास अपनी पत्नी से निरादृत होकर निकले, और उस भावना से प्रेरित होकर अद्वितीय कवि बनकर घर आए। तुलसीदास अपनी पत्नी के गम्भीर यथार्थ वाक्यों को सुनकर तीव्र वैराग्य से ओत-प्रोत हो भगवान् की भक्ति में लीन होगए।

इस सूत्र का व्याख्यान निम्नलिखित रूप में भी किया जाता है—पिता पुत्र को अपने सामने उत्पन्न होते हुए देखता है, और पुत्र पिता को अपने सामने मरता हुए देखता है, पिता और पुत्र के समान मरण और जन्म दोनों के देखे जाने से द्रष्टा को संसार के प्रति वैराग्य की भावना जागृत होती है। वैराग्य से विवेक होजाता है। इसप्रकार पिता-पुत्र के मृत्यु-जन्म, वैराग्य आदि को जागृत करके तत्त्वज्ञान के प्रादुर्भाव में सहायक होते हैं। [पिता-पुत्रकथा के लिये देखें— म० भा०, शान्ति० अ० १६४] ।।४।।

ज्ञान की निष्पत्ति में त्याग की भावना अत्यन्त आवश्यक है। वैराग्य होजाने पर भी त्यागभावना को दृढ़ बनाना चाहिए। इसी आशय को लेकर सूत्रकार अगले तीन सूत्रों से ज्ञान-संपादन में त्याग की आवश्यकता को स्पष्ट करता है—

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।।५।।

[त्यागवियोगाभ्यां] त्याग और वियोग से [सुखदुःखी] सुखी और दुःखी होता है, [श्येनवत्] श्येन के समान।

अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह सदा दुःखद होता है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु को परिग्रह से सदा बचना चाहिए। वस्तु को स्वयं त्याग कर देना सुख की स्थिति को उत्पन्न करता है, यदि किसीका बलात् वस्तु से वियोग करा दिया जाए, तो उसके लिए वह दुःखदाई होजाता है। अपनी स्थिति को अनुकूल बनाए रखने के लिए अध्यात्ममार्गी को यह आवश्यक है, कि वह अपनी त्यागभावना को सदा जागृत रक्खे। त्याग और वियोग में यथाक्रम सुख और दुःख की स्थिति को समझाने के लिए 'श्येन' का दृष्टान्त दिया जाता है। श्येन एक पक्षी है, जिसे लोकभाषा में आज 'बाज़' कहते हैं। इस विषय की आख्यायिका निम्नलिखित रूप में कहीं

जाती है—

एक व्यक्ति कभी मृगया (शिकार) के लिए जंगल में गया, वहां उसे एक श्येनशावक (बाज़ का बच्चा) असहाय अवस्था में पड़ा दीखा, दयार्द्रचित्त होकर उसने वह उठा लिया और घर ले आया। दाना-पानी देकर उसे पाला-पोसा, जब वह समर्थ होगया, तो उस व्यक्ति ने यह सोचकर—कि मैं इसे अब बन्धन में क्यों रक्खूं—जंगल में लेजाकर छोड़ दिया। वह श्येन अब बन्धन से छुट जाने के कारण सुखी है, पर अपने पालक-पोषक व्यक्ति के साथ वियोग होजाने के कारण दुःखी है। संसार में सुख सदा दुःख से मिश्रित रहता है, इसलिए दुःखके समान सुख को भी हेयपक्ष में डालना चाहिए। अभीतक संसार में किसी ऐसे साधन का निर्माण नहीं हो पाया, और अतीत को देखते न भविष्यत् में ऐसे निर्माण की संभावना है, जिससे केवल सुख का आदान कर लिया जाए और दुःख को छांट-कर अलग फेंक दिया जाए, सिवाए इसके कि दोनों का ही त्याग कर दिया जाए। ऐसे त्याग में वास्तविक शान्ति का लाभ निहित है, जो आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त होजाती है।

'श्येनवत्' दृष्टान्त की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी कीजाती है, श्येन के पास चोंच में दबा हुआ जब कोई खाद्य पदार्थ रहता है, तो दूसरे बलवान् पक्षी—जिनके पास वह खाद्य नहीं है—उसपर टूट पड़ते हैं, और बलपूर्वक उससे छीन लेते हैं। इसप्रकार खाद्य छिन जानेसे श्येन दुःखी होता है, और संघर्ष में जो चोट खाता है, वह और भी दुःख का कारण है। यदि वह अपनी इच्छा से ही खाद्य पदार्थ का त्याग कर देता है, तो इन सब दुःख कारणों से बच जाता है। खाद्य पदार्थ का श्येन की चोंच में पकड़ा जाना यह प्रकट करता है, कि उसे अब खाद्य के उपभोग की आवश्यकता नहीं है, वह रजा हुआ है। यह स्थिति वस्तु के परिग्रह की ओर संकेत करती है। इससे प्रकट किया गया है, कि लोक में परिग्रह दुःख और अशान्ति का मूल है, इसके विपरीत त्याग सुख और शान्ति का। [श्येन आख्या-यिका के लिए देखें—म० भा०, शान्ति०, अध्याय १७६, श्लो. ६१, ६३] ॥५॥

त्यागके लिए सूत्रकार ने अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया—

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥६॥

[अहिनिर्ल्वयिनीवत्] सांप की कैंचुली के समान।

जिसप्रकार सांप अपने ऊपर आवृत पुरानी त्वचा [कैंचुली] को हेय समझ-कर अनायास छोड़ देता है, और उसमें फिर आदानबुद्धि नहीं करता। इसीप्रकार मोक्ष की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति चिरकाल से भोगा हुई प्रकृति को हेय समझ-कर त्याग देने की दृढ़ भावना बनावे, और ज्ञानमार्ग को प्रशस्त करे।

इस दृष्टान्त को कतिपय व्याख्याकारों ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है।

उनका कहना है कि सांप अपनी कैंचुली को बिल के द्वार पर या आसपास छोड़ देता है, पर उसका मोह उसमें बना रहता है, और वह उसको मट्टी धूल में पड़े हुए देखकर अनुतप्त रहता है। उसके सामीप्य को छोड़ना नहीं चाहता। कैंचुली को देखकर कोई सपेरा सांप की ताक में रहता है, और अवसर पाकर उसे पकड़ लेता है। सांप बन्धन में पड़ जाता है। इसीप्रकार जो व्यक्ति ममतावश विषयों में स्नेह करता है, वह बन्धनों में पड़ अनर्थों का पात्र होजाता है। अतएव विषयों में वैराग्य और त्याग की भावना को दृढ़ बनाना चाहिए ॥६॥

अध्यात्मदिशा में चलने वाले व्यक्ति को कभी कोई अकार्य न करना चाहिए। यदि प्रमाद से कुछ अकार्य होजाए, तो उसका तत्काल प्रतीकार या प्रायश्चित्त करना चाहिए। सूत्रकार ने इसके लिए दृष्टान्त दिया—

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥

[वा] अथवा [छिन्नहस्तवत्] कटे हाथवाले के समान।

महाभारत [शान्ति०, २३।१८-५३] में पुरातन काल की एक कथा इसप्रकार वर्णन की गई है। पुराकाल में शंख और लिखित नाम के दो भाई अपने-अपने आश्रमों में निवास करते थे। एक बार छोटा भाई लिखित अपने बड़े भाई शंख के आश्रम में गया। पर आश्रम सूना था, कार्यवश शंख कहीं बाहर गए हुए थे। लिखित ने वृक्षों पर पके फल लगे हुए देखे, गर्धावश उन्हें तोड़कर खा लिया। शंख ने वापस आकर भाई से फलों के विषय में पूछा, तो उसने बताया, कि मैंने खा लिए हैं। बड़े भाई ने कहा, यह तुम्हारा कार्य चोरी के अन्तर्गत आता है, तुम्हें इसका तत्काल प्रतीकार करना चाहिए, अन्यथा तुम्हारे तपस्या कर्म में हीनता आजाएगी, और आगे तुम्हारा अधिक पतन होने की संभावना होसकती है। लिखित ने राजाके पास जाकर अपना अपराध कहा, और दण्ड के लिए निवेदन किया। उसे हस्तच्छेद का दण्ड दिया गया। अभिप्राय यह है, कि कोई भी अकार्य करने से व्यक्ति सन्मार्ग से भ्रष्ट होजाता है, उन्मार्गगामी व्यक्ति कभी आत्मज्ञानी नहीं होसकता, इसलिए अध्यात्ममार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को अकार्य के परित्याग में सदा सचेत रहना चाहिए।

पञ्चम सूत्र की अवतरणिका में इस प्रकरण के द्वारा त्याग के महत्त्व का निर्देश किया गया है। उस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र का यह अर्थ भी किया जाता है, कि कटे हुए हाथ को जैसे कोई व्यक्ति फिर नहीं लेना चाहता, इसीप्रकार परित्यक्त विषयोंकी ओर मुमुक्षु को कभी नहीं मुड़ना चाहिए। विषयों के परित्याग में 'छिन्न-हस्त' दृष्टान्त बड़ा भावपूर्ण है। महाभारत के शंख-लिखित प्रसंग में आता है, कि लिखित का हाथ काटकर पुनः जोड़ दिया गया। किए गए अकार्य के परिणामरूप हस्तच्छेदका कष्ट अनुभव कराकर अन्य सुकार्यों में बाधा न हो, इसलिए हाथ को पुनः

जोड़ दिया गया। इससे विषयों में आसक्ति को छोड़कर आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति ध्वनित होती है। आत्मज्ञानी को भी लोकोपकारी कार्यों से विरत नहीं होना चाहिए। आसक्ति का परित्याग ही मुख्यतः अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त छिन्नहस्त का पुनः जोड़ा जाना उस समय की अत्युन्नत शल्यक्रिया का स्पष्ट प्रमाण है ॥७॥

आत्मज्ञान के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को ज्ञान के अन्तरंग साधनों के अतिरिक्त अन्य विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा चिन्तन योगी की प्रवृत्ति को संसार की ओर बढ़ानेवाला होजाता है, सूत्रकार ने इस अर्थको दृष्टान्तसहित इसप्रकार स्पष्ट किया—

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

[असाधनानुचिन्तनं] असाधन का बार-बार चिन्तन [बन्धाय]बन्धन के लिए होता है, [भरतवत्] भरत के समान।

आत्मज्ञान के जो साधन नहीं हैं, उनका पुनः पुनः चिन्तन करना विषयों की ओर प्रवृत्ति का कारण बन जाता है, उससे आत्मज्ञान में बाधा उपस्थित हो-जाती है, यद्यपि वह कार्य, अकार्य अथवा अकर्त्तव्य नहीं होता। भरत के समान— जैसे कि योगी भरत को दीन अनाथ हरिण शावक का पोषण-पालन एवं प्रतिक्षण तद्विषयक ही चिन्तन पुनः बन्धन में पड़ जाने का कारण बनगया।

पुराणों में कथा आती है, कि सतयुगमें एक भरत नाम का राजर्षि आत्म-ज्ञानी होगया था, वह जीवन्मुक्त था। एक वार जंगल में उसने देखा, कि एक हरिणी बच्चा जनने के अनन्तर मरणासन्न है, इसके साथ यह अनाथ बच्चा भी समाप्त हो-जाएगा। उसके मस्तिष्क में तीव्र करुणा का भाव उत्पन्न होगया, और वह उस बच्चे का पालन-पोषण करने लगा। धीरे-धीरे वह उसमें इतना आसक्त होगया, कि वह उसीके पीछे-पीछे फिरता रहता, खिलाता, पिलाता और उसकी इच्छाओं एवं क्रियाओं के अनुसार अपना व्यवहार रखता। मृत्यु समय में वह उसीका ध्यान करता हुआ प्राण छोड़ गया। मुक्त न होकर तीव्र वासनाओं से अभिभूत हो उसने हरिण देह में जन्म लिया। इसप्रकार उसे फिर बन्धन में आना पड़ा। अच्छे भी कार्य यदि वे योगसमाधि या आत्मज्ञान के साधनभूत नहीं हैं, योगमार्गी को उनका चिन्तन नहीं करना चाहिए। [भरत कथा के लिए देखें—विष्णुपुराण, अंश २, अध्याय १३-१४] ॥८॥

योगी को एकान्त में रहना चाहिए, अधिक समुदाय में रहने से योगविरोधी भावना उत्पन्न होती रहती हैं, जो योगमार्ग में बाधक होजाती हैं। सूत्रकार ने कहा—

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ॥९॥

[बहुभिः] बहुतों के साथ [योगे] संपर्क में [रागादिभिः] राग द्वेष आदि के द्वारा [विरोधः] संघर्ष होजाता है [कुमारीशङ्खवत्] कुमारीशंख के समान।

बहुत व्यक्तियों के साथ संगत में रहने से राग द्वेष, संघर्ष, कलह आदि के कारण योगविरोधी स्थिति अथवा पारस्परिक विरोध की भावना उत्पन्न होजाती है। योगमार्ग पर चलने के लिए रागद्वेषादिरहित परमवैराग्यपूर्ण जिस स्थिति की आवश्यकता है, वह संगत में नहीं रहपाती; अनेक विचार और प्रवृत्तियों के बीच राग द्वेषादि की भावना जागृत होजाती है, फिर साधारण संसारी और उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं रहता। एकान्तनिवास की अवस्था में इसप्रकार की स्थिति उत्पन्न होने के अत्यल्प अवसर आते हैं। सूत्रकार ने इसके लिए 'कुमारी-शंख' का दृष्टान्त दिया है। शंख का तात्पर्य शंख से बनी चूड़ियों का है। जिस-प्रकार एक कुमारी-बाला के हाथ में पहनी हुई बहुत-सी शंख की चूड़ियां आपस में खड़खड़ाती या झनझनाती रहती हैं, इसीप्रकार इकट्ठे संगत में रहते व्यक्तियों का परस्पर संघर्ष रहना स्वाभाविक है, और यह अवस्था आत्मज्ञान के लिए बाधक होती है, इसलिए आत्म-जिज्ञासु को संगत से सदा बचना चाहिए। [इस दृष्टान्त के लिए देखिए—महाभारत, शान्ति०, अध्याय १७६, श्लोक ६१, ६८] ॥९॥

अनेकों की संगत जैसे योगमार्ग में बाधक है, इसीप्रकार दो का एकत्र रहना भी बाधक होता है। सूत्रकार ने बताया—

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

[द्वाभ्यां] दो के साथ (संपर्क में) [अपि] भी [तथैव] उसी प्रकार (विरोध की संभावना रहती है)।

अनेकों के समान दो के इकट्ठा रहने पर भी योगविरोधी भावना उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है। दो के एक साथ रहने में यदि उतनी अधिक राग-द्वेष आदि उत्पन्न होने की संभावना न भी रहे, तो भी आपसी बातचीत आदि में समय व्यर्थ नष्ट होने का भय तो रहता ही है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु के लिए एकान्तसेवन आवश्यक है। सूत्र के 'तथैव' पद का सम्बन्ध पूर्वसूत्रोक्त दृष्टान्त के साथ भी है। जैसे कुमारी के हाथ में अनेक अथवा दो कंकण परस्पर टकराने से झनझनाते रहते हैं, इसीप्रकार यदि एक हाथ में एक ही कंकण पहना हो, तो वह सदा ध्वनिरहित एवं शान्त रहता है। योगी को भी एकान्त में शान्तचित्त रहने का यत्न करना चाहिए ॥१०॥

योगी आशाओं के जाल से सदा बचा रहे, इसके ताने-बाने में फंसकर चित्त का शान्त रहना संभव नहीं, इसीलिए सूत्रकार ने कहा—

निराशः सुखी पिङ्गलावत् ॥११॥

[निराशः] आशा रहित [सुखी] सुख पाता है [पिङ्गलावत्] पिङ्गला

के समान।

मिथ्या आशाओं को छोड़कर सन्तोष और धैर्य के साथ रहने वाला व्यक्ति सुखी रहता है। योगी को आशाओं का सदा परित्याग करना चाहिए। आशा-जाल योगमार्ग का परम शत्रु है। योगमार्ग पर चलने के लिए तीव्र वैराग्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। वैराग्य और कोई बला नहीं, केवल इतना है कि सांसारिक झंझटों का सर्वथा परित्याग। संसार और योग या आत्मज्ञान, ये दोनों विरोधी मार्ग हैं। इनमें से किसी एक को चुनना है। यदि आपने संसार को चुना है, तो वहां तो आशाओं का जाल बिछा पड़ा है। उसमें फंसिए, और लगाइए चक्कर जन्म-मरण के घेरे में। यदि आप आत्मज्ञान की ओर पग बढ़ा रहे हैं, तो छोड़िए आशाओं का सहारा। आशाओं का सर्वथा परित्याग ही तो उत्कट वैराग्य है। यदि आप इस अवस्था में आगए हैं, तो समझ लीजिए, आपका योगमार्ग निष्कण्टक है। चलते जाइए, अनन्त सुख आपके सम्मुख है।

साधारण संसारी पुरुष भी जब आशा के कटु घूंट को छोड़ देता है, तो वह भी सन्तोष व शान्ति के माधुर्य का अनुभव करता है। फिर आशापिशाची का समूल उच्छेद कर देने वाले योगी का तो कहना ही क्या ? सूत्रकार ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पिङ्गला का दृष्टान्त दिया है। किसी अति प्राचीनकाल में 'पिङ्गला' नाम की एक वेश्या थी। वह अपने प्रणयी की प्रतीक्षामें कभी रात-रातभर बैठी रहती। वह इस आशा में रहती, कि वह अब आया और अब आया, इसी आशा में उसकी रात आंखों में कट जाती। तब वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करती। जब कई वार उसके साथ ऐसा हुआ, तो उसके हृदय में एक खेद की भावना अंकुरित हुई। वह सोचने लगी, मैं जो कुछ करती हूँ वह ठीक नहीं है। मुझे इस कार्य से विरत होना चाहिए। यह भावना उसकी दृढ़ होती गई, और उस आशा की जड़ उखड़ गई, जिसके कारण उसकी सारी रात पलकों में जाती और वह भारी दुःख उठाती। अब वह शान्तचित्त होकर रातभर आराम से सोती है। योगी को आशाओं का परित्याग कर दृढ़ वैराग्य के साथ योगमार्ग पर अभियान करना चाहिए। क्योंकि आशाओं से भरे हुए सन्तोषहीन विकृत चित्त में ज्ञान का उदय ऐसे ही नहीं होपाता जैसे मलिन आदर्श में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं उभरता। [पिङ्गला के कथा-संकेत के लिए देखें—महाभारत, शान्ति०, अध्याय १७६, श्लोक ६१,६२] ॥११॥

योगी को विविध प्रवृत्तियों से भी सदा बचना चाहिए, क्योंकि भोगों के लिए होने वाली प्रवृत्तियां योगमार्ग में बाधक बन जाती हैं। सूत्रकार ने दृष्टान्त देकर बताया—

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

[अनारम्भे] आरम्भ—निर्माण न करने पर [अपि] भी [परगृहे] अन्य

के घर में [सुखी] सुख पाता है, [सर्पवत्] सांप के समान।

आरम्भ या प्रवृत्ति से अभिप्राय है, संन्यासी या आत्म-जिज्ञासु होकर मकान अथवा मठों के खड़ा करने में लग जाना। इसप्रकार की प्रवृत्ति संन्यासी को संसारी के स्थान पर ला पटकती है। उस संन्यासी में संसारी से कोई अन्तर नहीं रहता, जो मकान और मठों के रूप में केवल ईंट पत्थरों का ढेर करने में लगा रहता है। निवास के लिए स्थान बनाने का बहाना बहुत लचर है। आत्म-जिज्ञासु के लिए कोई भी एक स्थान निवास का निश्चित करना उसमें मोह का उत्पादक बन जाता है। जब निवासस्थान में मेरा तेरा होने लगा, तब यह 'मेरा तेरा' आत्म-ज्ञान के मार्ग पर नहीं चलने देगा। यह रास्ता तो साधारण संसारी का है, संन्यासी या आत्म-जिज्ञासु का नहीं। आरम्भ या इसप्रकार की प्रवृत्तियों से सदा पृथक् रहकर उसे तो जहां स्थान मिले वहीं निवास कर देना चाहिए। उसमें यही समझ-कर सुखपूर्वक निवास करे, कि यह मेरा घर नहीं है। इसप्रकार एक ही स्थानमें ममता बुद्धि को पैदा न होने दे। जैसे सांप अपने लिए निवास का कोई स्थान नहीं बनाता, घूमता फिरता रहता है, जहां अवसर पाता है, परनिर्मित स्थान में अपना नियत समय निकाल लेता है। इस अर्थ में सर्प के दृष्टान्त का संकेत महाभारत, शान्ति-पर्व, अध्याय १७६ के श्लोक ६१ व ६४ में भी दिया गया है ॥१२॥

शास्त्रों और गुरुओं से सारभूत अर्थ का ग्रहण करे, जो अनुपयोगी हो, उसके आदान में व्यर्थ समय नष्ट न करे, इस आशय से सूत्रकार ने कहा—

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

[बहुशास्त्रगुरूपासने] बहुत शास्त्र और गुरुओं की उपासना में [अपि] भी [सारादानं] सार का ग्रहण (ठीक है), [षट्पदवत्] भौंरे के समान।

अधिक शास्त्र-अध्ययन और गुरुओं की सेवा में रहकर भी सारभूत अर्थ का आदान कर लेना चाहिए। गुरुओं के समीप जो शम दम आदि समाधि के लिए साधनसंपत्ति है, उसका ग्रहण कर लेना चाहिए, और जो कभी उनमें राग द्वेष आदि विकार देखने में आते हैं, आत्मजिज्ञासु सदा उनकी उपेक्षा करे। गुरु का आचरण समझकर उनका कभी अपने जीवन में अनुकरण न करे। अभ्यासी आचार्यों ने बताया है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

जब समाधि-अभ्यास से समय बचे, तब अध्यात्मविषयक शास्त्रों का मनन करता रहे, और जब शास्त्रविवेचन से श्रान्त हो जावे, तब फिर समाधि-अभ्यास में लग जावे। इसप्रकार स्वाध्याय और योग के निरन्तर अभ्यास से आत्मज्ञान हो-जाता है। अभिप्राय यह है, कि अभ्यासी को अध्यात्मशास्त्रों का उतना उपयोग

करना चाहिए, जो समाधिलाभ में सहायक हो, संवाद आदि में दूसरे पर विजय-लाभ करने के लिए शास्त्र का मनन न केवल आत्मज्ञानी के लिए सर्वथा व्यर्थ है, अपितु योगमार्ग में बाधक भी है। फलतः शास्त्र और गुरुओं से सारभूत उपयोगी अर्थ को ग्रहण करने में प्रयत्नशील रहे। जिसप्रकार षट्पद अर्थात् भ्रमर फूलों से सारभूत रस लेलेता है, और अनुपयोगी भाग को छोड़ देता है। जो व्यक्ति प्रत्येक अनुपयोगी अर्थ को भी जानने के पीछे पड़ा रहता है, और हड़बड़ाया-सा हरएक वस्तु को ग्रहण करने का यत्न करता है, वह अनन्तकाल तक भी आत्मज्ञान का लाभ नहीं कर सकता, क्योंकि चित्त की ऐसी स्थिति समाधि में सदा बाधक होती है। इस अर्थ के स्पष्ट करने में भ्रमर-दृष्टान्त का संकेत महाभारत शान्तिपर्व के अध्याय १७६ के ६६वें श्लोक में किया गया है ॥१३॥

समाधिलाभ के लिए चित्त को विचलित न होने देना अत्यन्त आवश्यक है, इस अर्थ को सूत्रकार ने दृष्टान्त के साथ बताया—

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानि. ॥१४॥

[इषुकारवत्] बाण के निर्माता अथवा सन्धाता के समान [एकचित्तस्य] एकाग्रचित्त पुरुष की [समाधिहानिः] समाधि की हानि [न] नहीं।

एकाग्रचित्त व्यक्ति की समाधि में कोई हानि या बाधा नहीं होती, इषुकार के समान। इषु बाण या शर को कहते हैं। वस्तुतः सूत्र में यह पद दत्तचित्त होकर बनाये जाने वाले किसी भी अस्त्र-शस्त्र या निर्माण का बोधक है। कोई शिल्पी अथवा कार्यकर्त्ता जब ध्यानपूर्वक अपने निर्माण अथवा अपेक्षित कार्य में संलग्न रहता है, तो उसे समीप में होने वाली अन्य प्रवृत्तियों अथवा क्रियाओं का पता नहीं लगता। कहा जाता है, कि एक वार एक शिल्पी अपने निर्माण में इतना एकाग्रचित्त होकर लगा हुआ था, कि उसके सामने होकर मार्ग से राजा की सवारी निकल गई, पर उसे कुछ पता न लगा। थोड़ी देर के अनन्तर किसी व्यक्ति ने आकर उससे पूछा, अभी कुछ समय पहले इधर से राजा की सवारी निकली है, क्या आप को मालूम है, वह किधर गई है? उसने कहा, मैं अपने कार्य में इतना अधिक ध्यानमग्न था, मुझे कुछ ज्ञात नहीं, इधर से कोई गया है, या नहीं। इसीप्रकार जो आत्म-जिज्ञासु एकाग्रचित्त होकर अभ्यास में लगा रहता है, उसके सामने कोई बाधा नहीं आती।

'इषुकार' का अर्थ इषुसन्धाता भी किया जाता है। सन्धान, लक्ष्य पर निशान लगाने को कहते हैं। जिसप्रकार अस्त्र या शस्त्र से लक्ष्य को बेधने वाला व्यक्ति लक्ष्य के अतिरिक्त और किसी वस्तु को नहीं देखता, तभी वह लक्ष्य को बेध पाता है, इसी प्रकार जो आत्म-जिज्ञासु आत्मारूप लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की ओर ध्यान नहीं देता, वह अपने लक्ष्य को पालेता है। उपनिषद्

में कहा है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। [मुण्डक० २।२।४]

यहां प्रणव (ओ३म्) को धनुष और आत्मा को शर अर्थात् इषु बताया है, और ब्रह्म लक्ष्य है। इसका तात्पर्य है, आत्मा को प्रणव जप द्वारा ब्रह्म तक पहुँचाया जा सकता है। सांख्ययोग में इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है; कि 'प्रणव' ईश्वर का वाचक पद है, उसका जप और उसके अर्थ की भावना से समाधि का लाभ होता है। 'इषुकार' दृष्टान्त का संकेत महाभारत शान्तिपर्व के १७६ अध्याय के ६१ और ६७वें श्लोक में किया गया है ।।१४।।

आत्म-जिज्ञासु को अपने स्वीकृत व्रत नियम आदि का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए, सूत्रकार लोक-दृष्टान्त द्वारा समझाता है—

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ।।१५।।

[कृतनियमलङ्घनात्] निश्चित अथवा अङ्गीकृत नियमों के उल्लंघन से [आनर्थक्यं] असफलता (मिलती है), [लोकवत्] लोक में जैसे।

अपने अङ्गीकृत अथवा प्रतिज्ञात व्रत नियम आदि का उल्लंघन कर देने से आत्म-जिज्ञासु के ज्ञानसंपादन के लिए किए गए सब प्रयत्न निष्फल होजाते हैं। निरन्तर और दृढ़ अभ्यास ही ज्ञानसंपादन में सहायक होता है। कभी थोड़ा अभ्यास कर लिया, कभी छोड़ दिया; ऐसा करने से किया हुआ भी निष्फल हो-जाता है। लोक में जिसप्रकार औषध आदि लेते समय पथ्य आदि का अथवा औषध सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन कर दिया जाता है, तो औषध आदि का सेवन ही निष्फल होजाता है। निर्बाध समाधिलाभ के लिए उसमें अपेक्षित समस्त नियमों का पूर्णरूप से पालन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। लोक में स्वास्थ्य सम्बन्धी अथवा राजकीय या शासनसम्बन्धी नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति के समान हम इस अर्थ को स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं ।।१५।।

तत्त्वज्ञानसम्बन्धी नियमों के विस्मृत होजाने पर भी लक्ष्य प्राप्ति के सब प्रयत्न निष्फल होजाते हैं, सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा बताता है—

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।।१६।।

[तद्विस्मरणे] नियम के भूल जाने पर [अपि] भी (असफलता है) [भेकीवत्] भेकी के समान।

तत्त्वज्ञान के लिए अपेक्षित व्रत नियम आदि का विस्मरण होजाने पर और इसी कारण उनका यथायथ अनुष्ठान न होने पर आत्मज्ञान के लिए किए जाने वाले प्रयत्न विफल होजाते हैं। भेकी के सम्बन्ध की घटना के समान। यह आख्यायिका इसप्रकार वर्णन की गई है—एक वार एक राजा मृगया के लिए जंगल

में गया। वहां उसने एक सुन्दरी कन्या को देखा। पूछने पर उसने बताया, कि मैं राजपुत्री हूँ। राजा ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। उसने एक शपथ (शर्त्त) के साथ राजा से विवाह करना स्वीकार किया, कि तुम मुझे जल मत दिखाना, जब जल दिखा दोगे, मैं चली जाऊँगी। दोनों का परिणय होगया। कालान्तर में क्रीड़ा से परिश्रान्त रानी राजा को पूछ बैठी—जल कहां है ? राजा ने पूर्वकृत शपथ को भूलकर जल दिखा दिया। जल देखते ही वह कामरूपिणी भेकराजपुत्री भेकी बनकर जल में प्रविष्ट होगई। राजा ने जाल आदि डलवाकर उसका बहुत अन्वेषण कराया, पर सब व्यर्थ गया। इस घटना से राजा अत्यन्त दुःखी रहने लगा।

अध्यात्ममार्ग के पाथक भी आत्मज्ञान के उपायभूत अवश्यकर्त्तव्य नियमों का यदि विस्मरण के कारण अनुष्ठान नहीं करते, तो उनका उतना किया प्रयत्न भी निष्फल होजाता है, और वे दुःख के भाजन होते हैं। इस आख्यायिका में राज-पुत्री का भेकी (मेंडकी) होजाना प्रकट करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इस दृष्टि के विद्वानों को इस विषय में अधिक विचार करना चाहिए। आख्यायिका चाहे कल्पित हो, सूत्रकार ने केवल विस्मरण का फल दिखलाने के लिए इसका उपयोग किया है। संभव है, यह राजकन्या कोई विदेशी या विजातीय हो, और इस (शर्त्त) के साथ कि जबतक तुम मुझे मेरी संस्कृति के अनुसार रहने की अनुमति न दोगे, मैं तुम्हारे साथ रह सकूंगी, जिसदिन तुम मुझे मेरी संस्कृति या मेरे जातीय आचार-विचार के अनुकूल रहने की मुझे अनुमति दे दोगे, मैं चली जाऊंगी। तात्पर्य यह है, कि तुम्हारे साथ तुम्हारी संस्कृति तुम्हारे आचार-विचार के अनुकूल ही मैं रहूंगी, समाज में नक्कू बनकर नहीं। पर प्रमादवश कालान्तर में राजा ने उसको वैसी अनुमति दी, और वह शपथ के अनुसार उसे छोड़कर चली गई। उसे फिर ठहराने में राजा के सब प्रयत्न विफल हुए ॥१६॥

आत्मसाक्षात्कार के उपाय श्रवण मनन निदिध्यासन बताए गए हैं। केवल उपदेश सुनने से पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती, सूत्रकार ने यह अर्थ दृष्टान्तपूर्वक बताया—

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

[उपदेशश्रवणे] उपदेश सुनने पर [अपि] भी [परामर्शादृते] मनन किए विना [कृतकृत्यता] सफलता [न] नहीं, [विरोचनवत्] विरोचन के समान।

उपदेश के सुनने पर भी उसका मनन और निदिध्यासन किए विना कृत-कृत्यता-पूर्णसफलता प्राप्त नहीं होती, विरोचन के समान। उपनिषद् [छा०, अध्याय ८, खण्ड ७-८] में विरोचन और इन्द्र की एक कथा आती है—बहुत प्राचीन काल की बात है, विचारों और उपासना आदि के आन्तर बाह्य अंगों में विभेद

आजाने पर भी देव और असुर अभी इकट्ठे रहते थे (वैसे तो देव और असुर सदा इकट्ठे रहते हैं, पर यह कथानक—अथवा ऐतिहासिक विशेषता—के आधार पर लिखा है)। प्रजापति ने कहा, कि अपहतपाप्मा विजर विमृत्यु सत्यसंकल्प आत्मा को जानना चाहिए। जो उसे जान लेता है, वह सब लोक और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। देव और असुर दोनों ने प्रजापति के इस कथन को सुना समझा, और उसे जानने के लिए सलाह की। देवों ने अपना प्रतिनिधि इन्द्र को बनाया और असुरों ने विरोचन को। दोनों को कहा, कि प्रजापति के पास जाओ, तथा आत्म-विषयक ज्ञान प्राप्त करके आओ। विरोचन और इन्द्र प्रजापति के पास जा पहुँचे। नियमानुसार शिष्य बनकर उन्होंने प्रजापति के सन्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

प्रजापति ने कहा—चक्षु में, जलों में और आदर्श में जो दीखता है, वही आत्मा है। तुम एक काम करो, पानी भरकर कटोरे लाओ, अपने सामने रखकर देखो, फिर आत्मा के विषय में जो नहीं समझते हो, मुझसे कहो। दोनों ने ऐसा ही किया। जब उन्होंने पानी भरे कटोरों में अपने आपको देखा, प्रजापति ने पूछा—क्या देखते हो ? उन्होंने कहा—लोम और नख पर्यन्त समस्त अपने आपको देख रहे हैं। प्रजापति ने फिर उन दोनों को कहा—अच्छी तरह सजधजकर अच्छे सुन्दर वस्त्र पहनकर परिष्कृत होकर कटोरों में पुन: अपने आपको देखो। उन्होंने वैसा ही किया। प्रजापति ने कहा—अब क्या देखते हो ? उन्होंने कहा—भगवन्! हम दोनों उसी तरह समस्त अपने आपको सजाधजा सुन्दर वस्त्र पहने परिष्कृत देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा—बस यही आत्मा है। यही अमृत अभय है, यह महान है। वे दोनों शान्तहृदय होकर वापस चले गए।

विरोचन ने प्रजापति से जो कुछ सुना, उसपर मनन व निदिध्यासन न करके असुरों के मध्य में जा उसी उपनिषद् का वर्णन किया। उसने कहा—इसी आत्मा की पूजा करनी चाहिए, इसीकी परिचर्या करनी चाहिए। इसीसे इहलोक परलोक दोनों की प्राप्ति होजाती है। असुरों ने आधिभौतिक देह को आत्मा समझा, और उसी आधार पर भौतिक पूजा का प्रचलन हुआ। उपनिषद् के इस प्रसंग में लिखा है, कि इसी कारण असुर मृत देह को सुन्दर भोजन वस्त्र और अलंकार आदि से परिष्कृत या संस्कृत करके सुरक्षित रखते हैं, और इससे वे समझते हैं, कि परलोक को हम विजय कर लेंगे। ऐसा करने से मृत्यु के अनन्तर भी उसको समस्त ऐहिक भोगों की प्राप्ति होती रहेगी।

उस आधार पर ऐसी आसुर उपासना और प्रवृत्तियों के प्रतीक मिस्र के पिरामिड उपलब्ध होते हैं। देव-समाज से अलग होकर देवों के बड़े भाई असुर देव-लोक से (जो कैलाश मानस के प्रदेश से इधर-उधर बहुत दूर तक फैला हुआ माना

जाता था) पच्छिम की ओर चल पड़े। जिन्होंने कालान्तर में मिस्रप्रदेश में पहुँच कर अपने उपनिवेश बसाए, जहां उनकी संस्कृति के प्रधान चिन्ह पिरामिड आज भी वर्त्तमान हैं। उनमें राजाओं के मृत देह ममीज् के रूप में आज भी सुरक्षित रक्खे हैं, और उनके साथ समस्त भोग संभार भोजन वस्त्र अलंकार आदि जीवन-काल के समान सुरक्षित कर दिए गए हैं। पिरामिडों की सुरक्षित सामग्री और उपनिषद् का आसुरीसंस्कृतिविषयक वर्णन आश्चर्यजनक समानता रखते हैं।

विरोचन की कथा आसुरी संस्कृति का सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित प्रतीक है। प्रकृत सूत्र में इसी बात का निर्देश किया गया है, कि विरोचन ने प्रजापति के प्रारम्भिक स्तर के उपदेश को सुनकर उसपर मनन आदि कुछ नहीं किया, और आधिभौतिक देह को अजर अमर अभय आत्मा समझ लिया। इसी कारण वह समाज अध्यात्मदिशा में अनुन्नत रहा। सब काल और सब देशों में आधिभौतिक उपासना करने वाला समाज 'असुर' तथा अध्यात्म उपासना करने वाला 'देव' विद्यमान रहता है। ये अपनी ऐहलौकिक स्थिति के अनुसार सबल-दुर्बल होते रहते हैं, पर इनका अस्तित्व और संघर्ष कभी समाप्त होने वाला नहीं।।१७।।

इन्द्र ने प्रजापति के उपदेश को सुनकर उस पर मनन किया, और उसने सोचा, कि यह देह अजर अमर कैसे संभव है? इसके जरा एवं मरण को हम सदा देखते हैं। वह वापस प्रजापति के पास आया, और अपनी आशंका को प्रस्तुत किया, सूत्रकार ने इस अर्थ को इस रूप में बांधा—

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ।।१८।।

[तयोः] उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) में [इन्द्रस्य] इन्द्र का [दृष्टः] देखा गया है (आत्मज्ञान होजाना)।

उन दोनों—विरोचन और इन्द्र—में इन्द्र का कृतकृत्यभाव अथवा आत्म-साक्षात्कार या आत्मबोध देखा गया। इन्द्र अपनी आशंका लेकर जब प्रजापति के पास वापस आया, तो प्रजापति ने उसको उचित अधिकारी समझकर वास्तविक अध्यात्म का उपदेश किया। इन्द्र को प्रजापति के पास वापस आने की प्रेरणा और आत्मविषयक आशंकाओं का उद्भावन, मनन आदि के द्वारा हुआ। फलतः अध्यात्मविषयक उपदेश श्रवण के अनन्तर आत्म-जिज्ञासु को तद्विषयक मनन व निदिध्यासन आदि के लिए पूर्ण अवसर देना चाहिए। इससे अर्थ की सत्यता और दृढ़ता सन्मुख आती हैं।।१८।।

श्रवण मनन आदि का अनुष्ठान करने पर आत्मज्ञान तत्काल होजाता है, ऐसा नहीं है, प्रत्युत इसके लिए पर्याप्त समय लगाना पड़ता है। सूत्रकार ने इसके लिए बताया—

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ।।१९।।

[प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि] प्रणाम, ब्रह्मचर्य और गुरु के समीप निवास [कृत्वा] करके [बहुकालात्] बहुत समय से [सिद्धिः] सफलता होती है, [तद्वत्] इन्द्र के समान।

प्रणति—प्रणाम गुरुसेवा आदि, ब्रह्मचर्य—इन्द्रियसंयमपूर्वक अध्यात्म-शास्त्रों का अध्ययन आदि, उपसर्पण—गुरु के समीप अवस्थित रहना इत्यादि सब आवश्यक कार्यों को संपादन करके सिद्धि—आत्मज्ञान की प्राप्ति बहुत काल के अनन्तर होपाती है। 'तद्वत्'—में तत्' पद पूर्वसूत्र से इन्द्र का परामर्श करता है—इन्द्र के समान। अभी वर्णित इन्द्र-विरोचन की कथा में गुरु के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा आदि करते हुए अत्यधिक समय तक इन्द्र के निवास का उल्लेख मिलता है। इसप्रकार जो कोई गुरु के समीप रहकर आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसे कालान्तर में अवश्य सफलता होती है।

९ और १० सूत्र में अनात्मज्ञानियों के साथ निवास का निषेध किया गया है, आत्मज्ञानी गुरु के साथ अथवा अन्य सतीर्थ्यों के साथ नहीं। जबतक ज्ञान-संपादन के लिए गुरु की अपेक्षा है, तबतक उसके चरणों में निवास करना आवश्यक है। उसके अनन्तर अभ्यासी एकान्तवास कर सकता है। अभ्यास के नैरन्तर्य और दृढ़ता आदि के लिए एकान्त निवास तथा अधिकाधिक काल सदा अपेक्षित रहते हैं ॥१९॥

आत्मज्ञान के लिए काल का कोई नियम नहीं है, यह हम उस समय कहते हैं, जब एक जन्म के काल की गणना करते हैं। वैसे जन्म-जन्मान्तरों का प्रयत्न आत्मज्ञान की सिद्धि में सहायक रहता है। सूत्रकार ने इसीलिए बताया—

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

[कालनियमः] काल का नियम (नियत सीमा) [न] नहीं (आत्मज्ञान में), [वामदेववत्] वामदेव के समान।

इस जन्म के अनुष्ठित साधनों से ही आत्मज्ञान होता है, ऐसा नियम नहीं है। इस जन्म अथवा जन्मान्तरों में भी ज्ञान का उदय होसकता है, वामदेव के समान। ऐसा वर्णन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है, कि जन्मजन्मान्तरों के साधनों से वामदेव ऋषि को गर्भ में ही आत्मज्ञान का उदय होगया था। इसीप्रकार अन्य जो कोई साधन-संपत्ति से जिस समय युक्त होजाता है, तभी उसे आत्मा का साक्षात्कार होजाता है। इसके लिए काल का नियम संभव नहीं ॥२०॥

आत्मज्ञान के लिए ध्यान का अनुष्ठान बताया जाता है, परन्तु विना आत्मज्ञान के उसका ध्यान कैसे किया जाए? यदि आत्मज्ञान है, तो ध्यान की आवश्यकता नहीं। सूत्रकार ने समाधान किया—

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥२१॥

[अध्यस्तरूपोपासनात्] उपदिष्ट रूप की उपासना से [पारम्पर्येण] क्रमशः, धीरे-धीरे (आत्मज्ञान होता है), [यज्ञोपासकानामिव] यज्ञ के उपासकों की तरह।

सूत्र में 'अध्यस्त' पद का अर्थ उपदिष्ट' है। आत्मा का ज्ञान हमको अनेक प्रमाणों के द्वारा होता है। शास्त्र अथवा गुरु के उपदेश के द्वारा जो आत्मा का ज्ञान होता है, वह शब्दप्रमाण के द्वारा होने के कारण शाब्दज्ञान कहलाता है। अनुमानप्रमाण से भी हम आत्मा का ज्ञान करते हैं, वह आत्मा का आनुमानिक ज्ञान कहा जाता है। अनन्तर ध्यान और समाधि के द्वारा हम आत्मा का साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान कर सकते हैं। जब यह कहा जाता है, कि आत्मज्ञान के लिए ध्यान का अनुष्ठान करना चाहिए, उस समय 'आत्मज्ञान' का अर्थ आत्म-साक्षात्कार होता है। अर्थात् आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ध्यान का अनुष्ठान करना आवश्यक है. परन्तु यहां शंका होती है, कि आत्मा के ज्ञान के विना उसका ध्यान किया ही कैसे जासकता है? सूत्रकार ने इसका समाधान किया, कि ध्यान के लिए आत्मा के प्रत्यक्षज्ञान की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए आत्मा का शाब्दज्ञान अपेक्षित है। इसीलिए अध्यस्तरूप के उपासन से अर्थात् आत्मा के उपदिष्टरूप के उपासन से—ध्यान करने से—क्रमशः आत्मा का साक्षात्कार हो-जाता है।

सबसे प्रथम किसी भी जिज्ञासु को आत्मा का शाब्दज्ञान होता है। वह चाहे गुरु के उपदेश से हो, अथवा शास्त्र द्वारा। उसके अनन्तर आत्मा के आनुमानिक ज्ञान का अवसर आता है, जब शास्त्राध्येता को शास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो-जाता है, तब वह अनेक युक्तियों व तर्कपूर्ण हेतुओं के आधार पर आत्मा को जान लेने में समर्थ होता है। अथवा आत्मा के शाब्दज्ञान के अनन्तर जब कोई साधक आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होता है, तब उस साधनाकाल में उसके सन्मुख ऐसी भूमिका आती हैं, जिनके आधार पर वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुमान कर लेता है। क्योंकि ध्यान के लिए आत्मा का केवल शाब्दज्ञान अपेक्षित है, और वह गुरु अथवा शास्त्र द्वारा होजाता है। इसलिए आत्मसाक्षात्कार के लिए ध्यान का अनुष्ठान बताने में कोई आपत्ति नहीं।

सूत्र में 'पारम्पर्य' पद से आत्मज्ञान की जिस परम्परा अथवा क्रम का संकेत किया गया है, वह यही है, कि पहले आत्मा का शाब्दज्ञान होता है, उसके अनन्तर आनुमानिक ज्ञान और अन्त में साक्षात्कार। इसके लिए ध्यान में आत्मा के जिस रूप की उपासना की जाती है, वह आत्मा का अध्यस्त अर्थात् उपदिष्ट रूप होता है, वह उपदेश चाहे गुरु द्वारा हो अथवा शास्त्र द्वारा।

सूत्र में दृष्टान्त दिया है—'यज्ञोपासकानामिव'। यह दृष्टान्त आत्मज्ञान

की परम्परा अर्थात् उसके क्रम को स्पष्ट करने के लिए दिया गया है। यज्ञ के उपासकों की आत्मज्ञान के लिए एक परम्परा देखी जाती है। इस शास्त्र में अपेक्षित परम्परा का ऊपर निर्देश कर दिया गया है। जो साधक यज्ञोपासना द्वारा अभ्युदय की प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं, वे आत्मज्ञान तक इस क्रम से पहुँचते हैं—सर्वप्रथम यज्ञानुष्ठान से सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि होती है। यज्ञानुष्ठानों के फलस्वरूप ऐश्वर्यों के भोगने में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। शुद्ध अन्तःकरण होने से ये अनुभूतियां साधक में भोगों के प्रति वैराग्य की भावना जागृत करने में सहायक होती हैं। दृढ़ वैराग्य होने पर वह साधक आत्मज्ञान के पूर्वोक्त मार्ग को पकड़ लेता है। आत्मज्ञान के मार्ग तक पहुँचने के लिए यज्ञोपासक का क्रम ज़रा लम्बा होता है, अर्थात् अधिकाधिककालसाध्य रहता है। केवल क्रम का स्पष्टीकरण या साम्य दिखाने के लिए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है।

सगुण उपासना द्वारा ज्ञानप्राप्ति होजाने पर इस दुरूह समाधि अनुष्ठान का फिर क्या प्रयोजन है? इस आशंका के समाधान के रूप में भी इस सूत्र का अवतरण किया जाता है। सगुण उपासना भी परम्परा द्वारा साधक को आत्मज्ञान तक पहुँचाती है। यह परम्परा और भी अधिककालसाध्य है। सगुण उपासना वस्तुतः एक प्राकृत उपासना है। इसके फलस्वरूप प्रकृति के अद्भुत-अद्भुत चमत्कार सामने आते है। यह प्रक्रिया बुद्धि, प्रतिभा आदि के तीव्र उभार में सहायक होती है, पर वह बुद्धि आदि का उभार किस दिशा में लग जाए, यह कहा नहीं जासकता। आज का आधिभौतिक विज्ञान सगुण उपासना का ही स्वरूप है। इस प्रक्रिया से आत्मा को जानने में युगयुगान्तर लग जाते हैं। साधक सर्वथा पथभ्रष्ट भी होसकता है। पर इस परम्परा से भी आत्मज्ञान के लिए अन्त में उसी मार्ग का आश्रय लेना होगा, जिसका प्रथम निर्देश किया गया है ॥२१॥

अन्य अनुष्ठानों द्वारा ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति होजाने पर आत्मा कृतकृत्य होजाता है, फिर तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष के लिए यत्न व्यर्थ है। सूत्रकार इनकी विशेषता बतलाता है—

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥२२॥

[पञ्चाग्नियोगतः] पञ्चाग्नि आदि विद्याओं के संबन्ध से [इतरलाभे] उन्नत लोकों व अवस्थाओं की प्राप्ति होने पर [अपि] भी [आवृत्तिः] वापसी होती है, (इसी मानव आवर्त्त में। मोक्ष से मानवान्तर में) [जन्मश्रुतेः] जन्म सुने जाने से।

पञ्चाग्निविद्या एक उपासना है, जिसका छान्दोग्य [अ० ५, ख० ३—६] बृहदारण्यक [अ० ६, ब्रा० २] आदि उपनिषदों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

पञ्चाग्नि का यह अर्थ—कि चारों ओर लकड़ी जला ली जावें और ऊपर से सूर्य तपता रहे—सर्वथा मूर्खतापूर्ण और मिथ्या है। इस प्रसंग में विद्या और उपासना दोनों पदों का पर्यायरूप में प्रयोग होता है। चाहे हम पञ्चाग्निविद्या कहें अथवा पञ्चाग्नि-उपासना, दोनों का एक ही अर्थ है। सूत्र में 'पञ्चाग्नि' पद उद्गीथ आदि अन्य औपनिषदिक उपासनाओं का उपलक्षण है। पञ्चाग्नि आदि उपासनाओं के द्वारा मोक्ष से इतर अभ्युदय आदि की प्राप्ति होजाने पर भी उस अवस्था से आत्मा की इसी मानव आवर्त्त में पुनः आवृत्ति होजाती है। परन्तु मोक्ष अवस्था से इस मानव आवर्त्त में आत्मा की पुनः आवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत उसका जन्म शब्दप्रमाण के आधार पर कल्पान्तर में सुना जाता है। मोक्ष और मोक्ष से अतिरिक्त अभ्युदय प्राप्ति के स्थान–अन्य लोकों-में इतना अन्तर है। ये लोक, साधक आत्मा की उन्नति के सूचक कोई स्तर हों अथवा स्थानविशेष हों, इसका विवेचन करना यहां अपेक्षित नहीं, मोक्ष और मोक्ष से अतिरिक्त अवस्था में विशेषता बतलाना यहां अभीष्ट है।

मोक्ष से अनावृत्ति बतलाने वाले जितने प्रमाणभूत शब्द हैं, उनमें छान्दोग्य [४।१५।६] का यह वाक्य मुख्य समझा जाता है—'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते'। ऐसे वाक्यों के आधार पर 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यादि वेदान्तसूत्र की रचना कीगई है। छान्दोग्य के इस वाक्य के आधार पर जो विद्वान् यह समझते हैं, कि मोक्ष से आत्मा की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् एक वार आत्मा वहां पहुँचकर फिर उस अवस्था से कभी नहीं लौटता; उन विद्वानों को इस वाक्य के पदों पर गंभीरता से ध्यान देना चाहिए। इसमें पद हैं—इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते। इसे ठीक समझने के लिए हमें सर्गकाल पर ध्यान देना होगा। कोई भी वर्त्तमान सर्गकाल चौदह मन्वन्तरों में विभक्त किया जाता है। चौदह मन्वन्तरों का एक सर्गकाल एक 'मानव आवर्त्त' है। उपनिषद् के इन पदों के साथ 'इमं' विशेषण लगा हुआ है, जो वर्त्तमान मानव आवर्त्त की ओर संकेत करता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है, कि जो आत्मा जिस मानव आवर्त्त में मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी मानव आवर्त्त में वे मोक्ष से लौटकर नहीं आते, अन्य मानव आवर्त्त में तो वे आयेंगे ही। यदि वाक्य का ऐसा अर्थ न किया जाए, तो 'इमं' विशेषण सर्वथा निरर्थक होगा। इसप्रकार 'इमं' विशेषण से इस मानव आवर्त्त में आवृत्ति का निषेध होकर अन्य कल्प में आवृत्ति सिद्ध होजाती है।

आवृत्ति कब होती है, इसका भी विवेचन ऋषियों ने किया है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि ये—चार युग हैं, इनका काल ४३ लाख २० हज़ार वर्ष बताया जाता है, ऐसे ७१ चतुर्युगी एक मनु का काल है, ऐसे जब चौदह मनु होजाते है, तब ब्रह्मा का एकदिन कहाता है। इसमें लगभग एक सहस्र चतुर्युगी होजाती हैं। इतना ही

काल जगत् का प्रलय रहता है, यह ब्रह्मा की रात्रि है। इसप्रकार दो सहस्र चतुर्युगी का काल ब्रह्मा का एक दिन-रात है। ऐसे तीस दिन-रात का एक मास, ऐसे ही ही बारह मास का एक वर्ष, और ऐसे सौ वर्ष ब्रह्मा की आयु है। मोक्ष प्राप्त कर आत्मा इतने काल तक मोक्ष में रहता है। यही काल 'महाकल्प' कहलाता है। इसी स्थिति को आत्मा का 'ब्रह्मलोक' में निवास कहा जाता है। मोक्ष से 'अनावृत्ति' का तात्पर्य यही है, कि इतने काल तक आत्मा घटीयन्त्र [रहट] के समान लगातार जन्म-मरण के चक्कर में नहीं फंसता। आचार्य शंकर ने उपनिषद् के उक्त वाक्य की व्याख्या में ऐसा भाव प्रकट किया है।

इसके अतिरिक्त छान्दोग्य [८।१५।१] में एक और वाक्य है—'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते'। इसकी व्याख्या करते हुए भी आचार्य शंकर ने यह आशय प्रकट किया है, कि जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति है, तब तक मुक्त आत्मा वहां रहता है, उससे पहले नहीं लौटता। वस्तुतः किसी भी मुक्त आत्मा के लिए ब्रह्मलोक की स्थिति उतने काल के लिए है, जो काल मोक्ष का नियत है, 'ब्रह्मलोक' तो सदा रहता है, पर उस आत्मा के लिए वह समाप्त होगया है, जिसका मोक्षकाल पूरा होचुका है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [६।२।१५] में वाक्य है—'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।' इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—ते··· तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः, तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारे न पुनरागमनं 'इह' इति शाखान्तरपाठात्।······तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते।'

ब्रह्मलोक को प्राप्त आत्मा अनेक संवत्सर अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्प पर्यन्त वहां निवास करते हैं, वे इस चालू संसार में वापस नहीं आते। उस कल्प के अनन्तर तो आवृत्ति होती है, यह जाना जाता है। यहां मनु का अन्तर या ब्रह्मा का दिन मास और वर्ष, यह काल की गणना करने का एक प्रकार है। इससे कोई अन्यथा भावना करना अशास्त्रीय एवं अवाञ्छनीय होगा। इसप्रकार अनावृत्ति बतलाने वाले शब्दों का उक्त अर्थ में ही तात्पर्य है। मोक्ष को अमृत भी इसी दृष्टि से कहा जाता है ॥२२॥

तत्त्वज्ञान अथवा विवेकज्ञान विरक्त पुरुष को संभव है, सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट करता है—

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥२३॥

[हेयहानं] त्याज्य का त्याग और [उपादेयोपादानं] ग्राह्य का ग्रहण [विरक्तस्य] वैराग्ययुक्त को होता है, [हंसक्षीरवत्] हंस के द्वारा ग्राह्य दूध के

समान।

संसार में छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य सभीप्रकार के पदार्थ सामने उपस्थित रहते हैं। अध्यात्ममार्ग पर चलने वाला व्यक्ति—जब उस में उत्कट वैराग्य की भावना उपस्थित रहती है तभी वह—इतना शक्तिसम्पन्न होता है, कि जो उसके लिए त्यागने योग्य वस्तु है, उसे त्याग देता है और जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लेता है। जैसे हंस जलमिश्रित दूध में से केवल दूध को ग्रहण कर लेता है और जल का परित्याग कर देता है। जो व्यक्ति दृढ़ वैराग्य से युक्त नहीं होता, वह अपने लिए विषयों में अनुकूलता और प्रतिकूलता को न समझ सकने के कारण उन्हीं में डूब जाता है, तथा अध्यात्ममार्ग से भ्रष्ट होजाता है। अतः तत्त्वज्ञान के लिए तीव्र वैराग्य का होना आवश्यक है। हेय संसार है और उपादेय मोक्ष है। इस विवेकज्ञान के लिए वैराग्य एक सच्चा साधन है ॥२३॥

विरक्त ही ऐसा क्यों कर सकता है? सूत्रकार ने समाधान किया—

लब्धातिशययोगात् तद्वत् ॥२४॥

[लब्धातिशययोगात्] प्राप्त किए गए समाधिजन्य शक्त्यतिशय के सम्बन्ध से (विवेकज्ञान होता है), [तद्वत्] हंसक्षीर के समान।

जिसप्रकार हंस को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह जलमिश्रित दुग्ध में से केवल दुग्ध को पी जाता है, और पानी को छोड़ देता है, अन्य किसी पक्षी या प्राणी में यह सामर्थ्य नहीं रहता। इसीप्रकार दृढ़ वैराग्यवान् व्यक्ति को योग-समाधिजन्य अतिशय—सामर्थ्यविशेष प्राप्त होजाता है,उसके सहयोग से परित्याज्य संसार का परित्याग करने में और उपादेय मोक्ष को प्राप्त करने में वह समर्थ होता है। वह हेय वस्तु को उपादेय और उपादेय को हेय नहीं समझता। उसमें विवेचन की शक्ति पराकाष्ठारूप में प्रादुर्भूत होजाती है। इस स्थिति में पहुँचकर समाधिनिष्ठ अथवा आत्मज्ञानी व्यक्ति प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार कर सकता है। प्रथमाध्याय के ५६वें (हमारे ग्रन्थ के सूत्रपाठ के अनुसार। प्रचलित पुस्तकों में उस सूत्र की संख्या ९१ है) सूत्र में प्रत्यक्ष लक्षण पर विचार करते हुए योगी की इस अवस्था का उल्लेख किया गया है।

मूलसूत्र का 'लब्धातिशययोगाद्वा' इसप्रकार 'वा' घटित पाठ भी उपलब्ध होता है। उस पाठ में 'वा' का विकल्प अर्थ न होकर अवधारण अर्थ करना चाहिए। क्योंकि विकल्प अर्थ करने में 'तद्वत्' सूत्रपदों से अतिदिष्ट 'हंसक्षीर' दृष्टान्त का सामञ्जस्य नहीं बैठता। कारण यह है, कि उस अवस्था में सूत्र का अर्थ होगा—'अथवा लब्धातिशय [जिन्होंने योगसामर्थ्य से अतिशय को प्राप्त कर लिया है, ऐसे] आत्मज्ञानियों के योग—संपर्क से अन्य व्यक्तियों को भी हेय का हान और उपादेय का उपादान होजाता है। जैसे दत्तात्रेय के संपर्क से अलर्क को ज्ञान होगया

था।' इस अर्थ के साथ 'हंसक्षीर' का दृष्टान्त नहीं घटता, क्योंकि लब्धातिशय हंस के संपर्क से अन्य किसी भी प्राणी में 'नीरक्षीरविवेक' की स्थिति प्राप्त नहीं होती ।।२४।।

आत्म-जिज्ञासु को रागी पुरुषों का संग न करना चाहिए, सूत्रकार ने बताया—

न कामचारित्वं रागोपहते ।।२५।।

[रागोपहते] रागादि से दबे हुओं में [कामचारित्वं] चाहे जब जाना आना [न] नहीं चाहिए (आत्म-जिज्ञासु को) ।

राग—संसार में आसक्ति से दबे हुए व्यक्तियों के समाज में आत्म-जिज्ञासु को यथेच्छ यातायात नहीं करना चाहिए। पहले [सूत्र ६, १०] इस बात को बताया गया है, कि आत्म-जिज्ञासु के लिए एकान्त निवास अत्यन्त आवश्यक है। एकान्त निवास करके भी यदि कोई जिज्ञासु साधारण संसारी समाज में चाहे जब चला रहता है, तो एकप्रकार से उसका वह एकान्त निवास व्यर्थ होजाता है । इस सूत्र से अध्यात्म-मार्गी का साधारण समाज में निरन्तर आना-जाना निषिद्ध किया गया है । कभी अत्यन्त आवश्यकता होने पर जाना आना पड़ जाय, तो उसमें विक्षेप की अधिक संभावना नहीं रहती । जहांतक होसके आत्म-जिज्ञासु को संसारी समाज के संपर्क से अधिकाधिक बचना चाहिए।

उपलब्ध सूत्रपाठों में इस सूत्र के साथ 'शुकवत्' पद मिलता है, जो यथार्थ प्रतीत नहीं होता। इसके असामंजस्य का हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २५१ से २५४ तक में विस्तृत विवेचन किया है । मूलसूत्र का पाठ न समझकर हमने उसे सूत्र में नहीं पढ़ा ।।२५।।

रागी जनों के साथ अधिक संपर्क क्यों नहीं रखना चाहिए, सूत्रकार ने दृष्टान्तपूर्वक बताया—

गुणयोगाद् बन्धः शुकवत् ।।२६।।

[गुणयोगात्] गुणों के योग से [बन्धः] बन्ध जाता है, [शुकवत्] तोते के समान ।

जिसप्रकार तोता अपने रूप एवं वाणी आदि गुणों के संबन्ध से बांधा जाता है, अथवा बहेलिए के जाल या फांसों में बांधा जाता है, इसीप्रकार आत्म-जिज्ञासु व्यक्ति संसारी पुरुषों के साथ अधिक संपर्क रखने से उनके गुण अर्थात् रागद्वेष आदि में पड़कर बन्धन की ओर अग्रसर होजाता है। संसारी पुरुष प्रकृति के सत्त्व रजस् तमस् गुणों से अभिभूत रहते हैं, उनके संपर्क में जिज्ञासु भी ज्ञानमार्ग से हट-कर अज्ञान की ओर प्रवृत्त होसकता है । सूत्र में 'गुण' पद श्लिष्ट है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के अनुकूल इसके रूप, वाणी आदि गुण तथा सत्त्व, रजस्, तमस् गुण, ये

विभिन्न अर्थ होजाते हैं। सूत्र में 'वन्धः' पद के स्थान पर कहीं 'बद्धः' पाठ उपलब्ध होता है। दोनों के अर्थ में किसीप्रकार का अन्तर नहीं है ॥२६॥

अगले दो सूत्रों से सूत्रकार वैराग्य के उपाय का निर्धारण करता है—

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

[भोगात्] भोगने से [रागशान्तिः] इच्छाओं का शमन [न] नहीं होता, [मुनिवत्] मुनि के समान।

भोगों के भोगने से कभी राग की शान्ति नहीं होती। यह कल्पना, कि विषयों में आसक्ति विषयों के भोगने से समाप्त होजाएगी, सर्वथा असंगत है। विषयों का भोग विषयों में और अधिक आसक्ति को बढ़ाता है। मनु ने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ [२।९४, वि०पु० ४।१०।२३]

जिसप्रकार हवि के प्रक्षेप से अग्नि और बढ़ती है, इसीप्रकार 'काम' उपभोग से शान्त न होकर और अधिक वृद्धिगत होते हैं। विषयों का उपभोग विषयों को बढ़ाने के लिए अग्नि में हविःप्रदान के समान है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेक मुनियों के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। सौभरि, ययाति और कण्व मुनि के कथानक महाभारत और अन्य प्राचीन संस्कृत साहित्य में देखे जासकते हैं।

सौभरि नामक एक मुनि एक बड़ी नदी के तट पर आश्रम बनाकर निवास करते थे और तपस्या में संलग्न रहते थे, यद्यपि वे योगी और सिद्धिप्राप्त महात्मा थे, पर राग एवं विषयों की वासना अन्तःकरण के एक कोने में बराबर झांक रही थी। एक वार नदी के किनारे स्नान करते समय मुनि ने एक मत्स्य को अपने सहवासी व सन्ततिसमूह के साथ जल में किलोल करते देखा। उसे देख मुनि की रागवासना उद्दीप्त होगई, और उसने वैसे जीवन में सुख की कल्पना कर एकान्त आश्रमवास को धता बता दण्ड कमण्डल एक ओर फेंक नगर की ओर प्रस्थान किया। राजा के द्वार पर जाकर अलख जगाया, और भिक्षा की जगह उसकी कन्याओं को मांग लिया। अतुल शक्तिसम्पन्न सौभरि ने वर्षों तक विषयों का निर्बाध उपभोग किया, पर उनके वेग में शान्ति का कोसों तक पता न था। अन्त में मुनि के मुख से ये शब्द निकल पड़े—

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि ॥
[विष्णुपु० ४।२।११९]

समस्त जीवन बिता दीजिए, मृत्यु सन्मुख आखड़ी होती है, तब भी मनोरथों का, वासनाओं का अन्त नहीं होता; यह रहस्य विषयभोगों में सम्पूर्ण जीवन बिताकर आज मैंने समझा है। वासनाओं में आसक्तचित्त पुरुष कभी परमार्थ की

ओर नहीं झुकता। तब मुनि को विषयों में दोषदर्शन हुआ, और उसके अन्तःकरण में वैराग्य ने जन्म लिया।

इसीप्रकार ययाति की जीवन-घटना का उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। विष्णुपुराण [४।१०] में कथा है—नहुष के छह पुत्रों में ययाति राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। विषयभोगरत उसको असमय में वृद्धावस्था ने आ घेरा। उसने अपने पांचों पुत्रों को बुलाकर कहा, जो मेरी वृद्धावस्था लेकर मुझे अपना यौवन देगा, वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। बड़ों ने यह स्वीकार न किया, सबसे छोटे पुरु ने उस आदेश का पालन किया। अनेकशतवर्ष विषयोपभोग करने पर ययाति ने अन्त में कहा—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा मम तेषूपजायते ॥ (वि० पु० ४।१०।२४,२८)

पृथिवी में जो कुछ धनधान्य ऐश्वर्य एवं अन्य भोगसामग्री है, वह सब एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है, अतः तृष्णा का परित्याग ही श्रेष्ठ है। विषयों का उपभोग करते मुझे पूरे सहस्र वर्ष बीत गए, पर तृष्णा प्रतिदिन उनमें बढ़ती ही जाती है। इसलिए विषयों से चित्त हटाकर अध्यात्म की ओर पग बढ़ाना चाहिए ॥२७॥

विषयों में दोषदर्शन वैराग्य का उपाय है, सूत्रकार ने बताया—

दोषदर्शनादुभयोः ॥२८॥

[उभयोः] दोनों के [दोषदर्शनात्] दोष देखने से (वैराग्य होता है)।

आत्मा और विषय दोनों से सम्बद्ध दोषों के दर्शन से वैराग्य की भावना अंकुरित होजाती है। आत्मसम्बन्धी दोषदर्शन है, पवित्र आत्मा का प्रकृति के संग से गर्भवास आदि विविध प्रकार के कष्टों में फंस जाना। जब अन्तःकरण में इसप्रकार की भावना अवसर पाती है, कि नित्य शुद्ध चेतन आत्मा का स्वरूप है, मेरा भी वही आत्मा है, फिर यह दुःखभाक् क्यों होता है? निश्चय है, कि आत्मा की यह अवस्था प्रकृति-संग में ही प्रकाश में आती है, तब प्रकृति-संग को दृढ़ता से त्यागने की प्रेरणा मिलती है, यही वैराग्य का मूल उपाय है। विषयसम्बन्धी दोषदर्शन है—विषयों का परिणामी होना, आज हैं कल नहीं। जो ऐहिक सुख-साधन एक समय हैं, दूसरे समय नहीं। आत्मा स्थायी अनुकूल अनुभूति का अभिलाषी रहता है। उसे जब यह भान होने लगता है, कि स्थायिता केवल आत्मा में है, तब वह अनात्मा से बचकर आत्मा की ओर झुकता है। यही भावना संसार से वैराग्य की मूल है।

'उभयोः' सूत्रगत पद का अर्थ—प्रकृति और प्रकृति के कार्य—भी किया जाता है। पर प्रकृति और प्रकृति के कार्यों में दोषदर्शन का एक ही रूप होसकता है। तब एक के ही कहने से दोनों का अर्थ गत होजाता, 'उभयोः' कहना निष्प्रयोजन रह जाता है। वैराग्य के लिए चेतन अचेतन दोनों की वास्तविक स्थिति को समझने की प्रवृत्ति होना अपेक्षित रहता है। इसलिए 'उभयोः' का अर्थ 'आत्मा अनात्मा' इन दोनों के आधार पर किया जाना चाहिए ॥२८॥

अन्तःकरण शुद्ध होनेपर वैराग्य अंकुरित होता है, सूत्रकार ने आख्यायिकापूर्वक बताया—

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥

[मलिनचेतसि] मलिन चित्त में [उपदेशबीप्ररोहः] उपदेशरूप बीज का अंकुर [न] नहीं उगता [अजवत्] अज के समान।

राग आदि से मलिन चित्त में ज्ञान वैराग्य आदि के लिए उपदेश-बीज अंकुरित नहीं होता। आत्मज्ञान के मार्ग पर जाने के लिए यम नियम आदि के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण को निर्मल कर लेना आवश्यक होता है। जैसे ऊसर अथवा अकृष्ट भूमि में बोया बीज अंकुरित नहीं होता, इसीप्रकार रागादि से मलिन चित्त ज्ञान वैराग्य आदि के उदय के लिए अनुपयुक्त होता है। सूत्र में इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अज' का दृष्टान्त दिया गया है।

प्राचीनकाल में अज नामका एक राजा था। वह अपनी भार्या में अत्यधिक आसक्ति रखता था। अचानक भार्या का देहान्त होगया। इस घटना ने राजा को विह्वल कर दिया, उसकी आसक्ति भार्या के अभाव में और भारी होगई। उसके गुरुओं ने उसे प्रत्येक प्रकार से समझाने का यत्न किया, पर सब व्यर्थ हुआ। उसे वे कष्ट से बचा न सके। विषयों में तीव्र आसक्ति ज्ञान को जमने नहीं देती। आसक्तचित्त सदा राग द्वेष आदि से अभिभूत रहता है, वह क्षेत्र ज्ञानोदय के लिए अनुपयुक्त है, रागादिहीन स्वच्छ अन्तःकरण ही ज्ञान के लिए उपयुक्त क्षेत्र होसकता है। केशर कश्मीर की क्यारियों में ही विकास पाता है, बीकानेर और जैसलमेर के मरुप्रदेश में नहीं ॥२९॥

अति मलिनचित्त में ज्ञान का साधारण आभास भी संभव नहीं होता, सूत्रकार ने बताया—

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥३०॥

[आभासमात्रं-अपि] आभासमात्र भी (अतिमलिन चित्त में) [न] नहीं होता [मलिनदर्पणवत्] मैले दर्पण में जैसे।

जैसे मलिन दर्पण में किसीप्रकार की छाया या प्रतिबिम्ब का आभास नहीं होता, इसीप्रकार रागद्वेष आदि से अभिभूत होने के कारण अथवा अन्य नाना

विषयों का संचार रहने के कारण मलिन चित्त में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि आत्म-जिज्ञासु को अन्य समस्त विषयों की ओर से अपने चित्त को हटाकर केवल आत्मचिन्तन में लगाना अपेक्षित है। इससे पहले यह आवश्यक है, कि यम नियम आदि का पालन और प्राणायाम के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण को शान्त तथा अध्यात्मचिन्तन के उपयोगी बना लिया जाए। अन्य विषयों से अन्तःकरण का हटाना वैराग्य का स्वरूप है और प्राणायाम आदि का निरन्तर अनुष्ठान करना अभ्यास का। इसप्रकार वैराग्य और अभ्यास द्वारा समाधिलाभ होजाता है, अर्थात् आत्मज्ञान का उदय होजाता है। जब अन्तःकरण में न किसी के प्रति राग-द्वेष आदि की भावना रहेगी, और न विषयान्तरों में उसका भटकना; तब इसप्रकार के शुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान का उदय संभव है ॥३०॥

समस्त भूतभौतिक व कार्यकारण संसार प्रकृतिजन्य है, और प्रकृति के सहयोग से मोक्ष अथवा आत्मज्ञान होता है, तब यह अवस्था भी संसार जैसी होनी चाहिए। सूत्रकार ने समाधान किया—

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ॥३१॥

[तज्जस्य-अपि] प्रकृति-सहयोग से प्रादुर्भूत की भी [तद्रूपता] संसार-रूपता [न] नहीं, [पङ्कजवत्] कीच से प्रादुर्भूत (कमल) के समान।

यद्यपि मोक्ष अथवा आत्मज्ञान प्रकृतिजन्य है। प्रकृति के सहयोग से आत्मा को स्वरूप का ज्ञान होपाता है। सांख्य में इस विचार को निश्चितरूप से माना गया है, कि प्रकृति से यह सर्गरचना आत्मा के भोग और अपवर्ग दोनों का संपादन करती है। तब प्रकृतिसहयोग से होनेवाला भी आत्मज्ञान अथवा मोक्ष संसार-रूप नहीं होता। अभिप्राय यह है, कि संसार अवस्था में जो अनुभूतियां आत्मा को रहती हैं, मोक्ष अथवा आत्मज्ञान की अवस्था में उनका अस्तित्व नहीं रहता, इसलिए आत्मा की संसार अवस्था से मोक्ष की स्थिति भिन्न है। इनको एक जैसा नहीं माना जासकता। जैसे पङ्क से प्रादुर्भूत कमल पङ्करूप अथवा पंकसदृश नहीं होता, इसीप्रकार प्रकृति-सहयोग से उदित आत्मज्ञान अथवा मोक्ष प्रकृतिरूप (प्रत्यक्ष में संसाररूप) नहीं होता। कारण यह है, कि मोक्ष में दुःखस्पर्श नहीं रहता, जो संसार में बराबर बना रहता है। साधनतत्त्व सर्वात्मना साध्यरूप हो, ऐसा नहीं है।

अथवा सूत्रार्थ ऐसा भी किया जाता है—मलिन अन्तःकरण होने पर भी कभी-कभी उपदेष्टा गुरु के प्रबल शक्तिसम्पन्न होने से और पुनः पुनः उपदेश किए जाने से थोड़ी-बहुत ज्ञानरेखा उदित होजाती है, पर वह उपदेश के अनुरूप नहीं होपाती, इसी आशय से सूत्रकार ने कहा—'न तज्ज०-वत्'। यथा-कथञ्चित् उपदेश के द्वारा ज्ञान का अल्पतर प्रादुर्भाव होजाने पर भी वह ज्ञान उपदेश के अनुरूप नहीं होपाता। गुरु द्वारा जिस स्तर का उपदेश दिया गया है, ज्ञानोदय

उस स्तर का नहीं होपाता, क्योंकि क्षेत्र (मलिन-चित्त) उसके अनुकूल नहीं होता। जैसे उत्तम बीज के होने पर भी पङ्क दोष से बीज के अनुरूप कमल नहीं होपाता, इसीप्रकार मलिनचित्त में उपदेशानुरूप ज्ञान उदित नहीं होपाता। यहां शिष्य का मलिनचित्त पङ्कस्थानीय समझना चाहिए। उपदेश-उत्तम बीज और ज्ञान पङ्कज-स्थानीय है। तात्पर्य यह है, कि जिसप्रकार उत्तम बीज के बोए जाने पर भी प्रतिकूल क्षेत्र अभिलषित फलोदय में बाधक होता है, इसीप्रकार मलिनचित्त ज्ञानोदय में बाधक होता है ॥३१॥

आत्मज्ञान के लिए इतना अधिक प्रयास इसलिए किया जाता है, जिससे मोक्ष अवस्था प्राप्त होसके। वहां आत्मा के साथ दुःख का स्पर्श नहीं रहता। यदि स्वर्गलोक आदि में ऐश्वर्यप्राप्ति के द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध हो जाए, अथवा अणिमादि सिद्धियोंके प्राप्त होजानेपर कृतकृत्यता सम्पन्न होसके, तो आत्मज्ञानके लिए इतना प्रयास करने की क्या आवश्यकता रहजाती है? सूत्रकार समाधान करता है—

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ॥३२॥

[भूतियोगे] कल्याणमय अवस्थाओं को प्राप्त होने पर [अपि] भी [कृतकृत्यता] पूर्ण सफलता [न] नहीं, [उपास्यसिद्धिवत्] उपास्य द्वारा प्राप्त सिद्धि के समान।

विभिन्न उपासनाओं व अनुष्ठानों के फलस्वरूप विशिष्ट लोक आदि में ऐश्वर्यों की प्राप्ति होजाने पर अथवा अणिमादि सिद्धियों के द्वारा अधिकाधिक ऐश्वर्यलाभ होने पर भी कृतकृत्यता अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि ये सब अवस्था क्षयी हैं। उपासना या अनुष्ठानों के अनुकूल फल भोगे जाकर इसी सर्गकाल में उन आत्माओं को जन्म-मरण के अनुक्रम में पुनः आवृत्त होना पड़ता है। उन अनुकूल भोगों के क्षयित्व का तात्पर्य यही है। वह संसार के साधारण जीवन से थोड़ा लम्बा जीवन है, और सुखभोगों में कुछ विशेषता है। वस्तुतः वह संसार का ही एक अंश है, क्योंकि वहां सुख-भोगों का अस्तित्व है। भोग अवस्था अपवर्ग नहीं है। भोग चाहे पृथ्वीलोक में हो अथवा स्वर्गलोक या अन्य किसी लोक में, वह भोग ही है, इसलिए वह अपवर्ग की कोटि में नहीं आता। अपवर्ग को प्राप्त आत्मा इस सर्ग में पुनः संसार में आवृत्त नहीं होते, यही अपवर्ग की विशेषता है। इसके अतिरिक्त यह भी विशेषता है, कि वहां सुखों का उपभोग नहीं है, वहां तो आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है, वह कैवल्य का अनुभव करता है, जिसके लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं।

ऐश्वर्ययुक्त लोकों में—चाहे वह स्वर्गलोक हो अथवा अणिमादि सिद्धियों से प्राप्त कोई लोक हो—क्षयित्व दोष के अतिरिक्त न्यूनता और अतिशय की स्थिति भी बनी रहती है, जो एक दूसरे आत्माओं के लिए दुःख का कारण होती

है। यह स्थिति मोक्ष में संभव नहीं, क्योंकि अपवर्ग को प्राप्त समस्त आत्माओं की कैवल्य अवस्था सर्वथा समान है, उसमें न्यूनता अथवा अतिशय की कल्पना असंभव है। अतः न्यूनता और अतिशय तथा तज्जनित दुःखों के अस्तित्व के कारण भी उपासना एवं अनुष्ठान आदि से स्वर्गादि की प्राप्ति अथवा अणिमादि सिद्धियों से ऐश्वर्यसम्पन्न अवस्थाओं की प्राप्ति होजाने पर भी आत्माओं की कृतकृत्यता अथवा पूर्ण पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होपाते।

इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए सूत्र में दृष्टान्त 'उपास्यसिद्धिवत्' दिया है। जैसे विशेषशक्तिसम्पन्न उपास्य—राजा आदि की उपासना सेवा आदि से विशेष अधिकार आदि का लाभ होजाता है, पर उसके आगे और विशेष अवस्था प्राप्त करनी अपेक्षित रहजाती हैं, इसलिए उसे पूर्ण कृतकृत्यता नहीं कहा जासकता। इसीप्रकार ऐश्वर्यादि की प्राप्ति भी पूर्ण पुरुषार्थ नहीं है।

अथवा विशेष उपासनाओं एवं अनुष्ठानों द्वारा उनके फलस्वरूप आत्माओं को एक विशेष अवस्था की प्राप्ति होजाती है, जिसको शब्द-प्रमाणक आचार्यों ने ब्रह्मा या विष्णु आदि पदों से व्यवहृत किया है। संभवतः वे अवस्था ही ब्रह्मलोक या विष्णुलोक हैं। ऐसे उपासक उन भावनाओं को लक्ष्य करके उपासना करते हैं। उनका यह लक्ष्य रहता है, कि हमको अमुक अवस्था प्राप्त हो। वही उनका उपास्य-लक्ष्य है। उसकी सिद्धि होजाने पर अर्थात् उन आत्माओं को वह अवस्था प्राप्त होजाने पर भी उन्हें पूर्णकृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती। शब्दप्रमाण के आधार पर यह जाना जाता है, कि ब्रह्मा और विष्णु आदि भी समाधि अवस्था-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। इसलिए आत्मज्ञान से पहले की जितनी भी अवस्था अथवा भूमिका संभव होसकती हैं, उन सबको पूर्ण पुरुषार्थ नहीं माना जाता। आत्मज्ञान होने पर अपवर्ग या आत्मा की कैवल्य अवस्था ही पूर्ण पुरुषार्थ है, उसके लिए यत्न करना चाहिए। सूत्र में अन्तिम पद की वीप्सा अध्याय समाप्ति की द्योतक है ॥३२॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना—उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां 'विद्योदय' भाष्ये
आख्यायिकाख्यामश्चतुर्थः।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथम तीन अध्यायों में सांख्य के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्यायमें उन्हीं सिद्धान्तों को कुछ ऐतिहासिक दृष्टान्तों तथा अन्य आख्यायिकाओं के द्वारा पुष्ट किया गया है। अब पञ्चम अध्याय में उन विचारों अथवा मतों का परीक्षण प्रस्तुत किया जाता है, जो प्रतिपादित सांख्यसिद्धान्तों के प्रतिकूल उद्भावित किए जासकते हैं।

सांख्य का सिद्धान्त है, कि प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार होजाने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। इस विषय में वादी आक्षेप करता है, कि प्रकृति-पुरुष-भेदज्ञान से मोक्ष होजाता है, तो लौकिक वैदिक शुभ कर्मों का आचरण करने की क्या आवश्यकता है ? सूत्रकार उत्तर देता है—

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ॥१॥

[मंगलाचरणं] शुभ कर्मों का आचरण (कर्त्तव्य) है, [शिष्टाचारात्] शिष्टों का आचार होने से [फलदर्शनात्] फल देखे जाने से [च] और [श्रुतितः] शब्द प्रमाण से (बोधित होने के कारण)।

सूत्र में 'मंगल' पद समस्त लौकिक वैदिक शुभ कर्मों का वाचक है। यह ठीक है, कि विवेकज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है, फिर भी मंगल का आचरण आवश्यक है। शुभ कर्मों का अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा जिज्ञासु अधिकारी को विवेकज्ञान की स्थिति तक पहुंचाता है। इसमें शिष्टों का आचार प्रमाण है। शिष्टाचार से हम जानते हैं, कि अन्तःकरण की पवित्रता के लिए शुभ कर्मों का अनुष्ठान अपेक्षित है। आत्म-जिज्ञासु ऋषि, मुनि सब इसप्रकार का आचरण करते आए हैं। इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं, कि किसी भी फल की प्राप्ति कर्मानुष्ठान के विना नहीं होती। कर्म न किया होगा, तो फल कहां से मिलेगा। अन्यत्र फल देखे जाने से हमें प्रेरणा मिलती है, कि शुभ कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [यजु० ४०।१] 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' [यजु० १।१] तथा ऋ० ४।३३।११; ६।६६।७; एवं ऐतरेय ब्राह्मण के ३३वें अध्याय की 'नानाश्रान्ताय' इत्यादि श्रुति भी हमें कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरित करती हैं। सूत्र में 'इति' पद का निर्देश इस बात का संकेत करता है, कि शुभ कर्मों के अनुष्ठान की प्रेरणा के लिए उक्त हेतुओं से अतिरिक्त

अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है, ये हेतु पर्याप्त हैं।

किसी कार्य अथवा ग्रंथ आदि की रचना के प्रारम्भ में किए जाने वाले मंगलाचरण का, विवेचन करना भी इस सूत्र का लक्ष्य है। कतिपय विद्वानों का विचार है, कि इस रूप में मंगलाचरण का विवेचन नव्य न्याय के ग्रंथों में देखा जाता है। इसलिए यहां सांख्य में इसप्रकार का वर्णन सांख्यशास्त्र की प्राचीनता और इसे कपिल की रचना मानने में बाधक है। परन्तु यह विचार तथ्यों पर आधारित नहीं कहा जासकता। कार्य के आरम्भ में भगवान् का नामस्मरण अथवा किसी शुभ कर्म का अनुष्ठान मंगल है, इसप्रकार के आचरण की प्रथा, या उसके सम्बन्ध में विचार करना, नव्य नैयायिकों ने ही प्रारम्भ किया हो, ऐसा नहीं है। आर्यजाति में यह भावना अतिप्राचीन है। इसप्रकार का आचरण सदा से आर्यों में पाया जाता है, और जहां-तहां उसका उल्लेख भी मिलता है।

न्याय की जो शैली नवीन या नव्य नाम से कही जाती है, उसका प्रारम्भ विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ है। परन्तु उससे बहुत पूर्व के साहित्य में इसप्रकार का मंगलाचरण सम्बन्धी विवेचन प्राप्त होता है। (देखें—'सांख्य-दर्शन का इतिहास' पृष्ठ २५५-५७)। दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों, अन्य सूत्रग्रंथों तथा महाभारत आदि में मांगलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति तथा मंगला-चरण की भावना स्पष्ट उपलब्ध होती है। अतिप्राचीनकाल से 'ओम्' और 'अथ' शब्द के प्रयोग को मांगलिक माना जाता रहा है। मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण प्राचीन काल से आवश्यक समझा जाता रहा है। यह मंगलाचरण की भावना से ही किया जाता है। पाणिनि के एक नियम (८।२।८७) के अनुसार मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण प्लुत स्वर में होना चाहिए। इसलिए कार्य के प्रारम्भ में भगवन्नामस्मरणरूप मंगला-चरण की प्रवृत्ति को नवीन नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में कपिल का इस विषय पर विचार करना संगत है।

किसी कार्य अथवा ग्रंथ आदि की रचना के प्रारम्भ में मंगल के आचरण और ग्रंथ में उसके निबन्धन की उपयोगिता को स्पष्ट करने के लिए कपिल ने तीन हेतुओं का उल्लेख किया—

शिष्टाचारात्—शिष्ट पुरुषों का आचार इस बात के लिए सुन्दर उदा-हरण है, कि कार्य के प्रारम्भ में व्यक्ति को मंगलाचरण अवश्य करना चाहिए। महाभारत, सूत्रग्रंथ तथा उपनिषद् आदि में इस प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष रूप में हम आज भी देख सकते हैं। इससे प्राचीन ऋषि मुनियों की मंगलाचरण की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है।

फलदर्शनात्—शुभ कार्य करने से शुभ फलों की प्राप्ति होती है, यह एक

साधारण नियम है। मंगलाचरण भी शुभ कार्य है, हम उसके फल की इच्छा रक्खें या न रक्खें, फल तो अवश्य मिलेगा। इसप्रकार शुभ अनुष्ठान से अपने प्रारम्भ किए कार्यों के निर्बाध पूर्ण होने की हमें आशा बंधी रहती है। धैर्य और साहस के साथ उस कार्य को तत्परता से पूरा करने की प्रेरणा मिलती है। यह बात आर्य-जनता में इतना घर किए हुए है, कि साधारण ग्रामीणजन भी कोई कार्य प्रारम्भ करते समय सदा भगवान् का नामस्मरण अवश्य कर लेता है। यह आस्तिक भावना का प्रतीक है।

श्रुतितः—श्रुति अर्थात् वेद के पाठ या अध्ययन क्रम से भी इस बात की पुष्टि होती है, कि कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नामस्मरण अवश्य होना चाहिए, उसको मंगलरूप माना गया है। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा (अग्निमीडे पुरोहितं) ही क्या इसका ज्वलन्त प्रमाण एवं उदाहरण नहीं है? वेद इस बात का आदेश भी देता है, कि कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नाम का स्मरण होना चाहिए—'इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो' (ऋ० १।५७।४)।

इसके अतिरिक्त कपिल का यह सूत्र मंगलाचरण के स्वरूप का भी निर्देश करता है। प्रत्येक ऐसा आचरण जो (शिष्टाचारात्) न्याय, पक्षपातरहित, (फल-दर्शनात्) सत्य, तथा (श्रुतितः) वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा के अनुसार यथावत् सर्वत्र और सदा अनुष्ठान में आवे, उसीको मंगलाचरण कहना चाहिए। किसी भी कार्य के प्रारम्भ से अवसानपर्यन्त उक्तरूप में उसका पूर्ण किया जाना, मंगला-चरण का वास्तविक स्वरूप है।

आत्मसाक्षात्कार होजाने पर भी शुभकर्म अथवा वर्णाश्रमधर्मों के पालन को आर्यसंस्कृति में कभी अनावश्यक नहीं माना गया। कपिल ने शुभ कर्मों के अनुष्ठान को प्रत्येक अवस्था में आवश्यक समझा, और यह निर्देश किया। आज हम अनेक ऋषि, मुनियों, योगियों के जीवन से इस बात को अच्छीतरह जान सकते हैं। श्रीकृष्ण महायोगी था, पर उसने जीवनपर्यन्त वर्णाश्रमधर्मों के पालन की ओर से कभी उपेक्षा नहीं की। गीता में स्वयं इस अर्थ का प्रतिपादन है। इसके लिए तृतीयाध्याय के (१६-२६) श्लोक द्रष्टव्य हैं ॥१॥

प्रथम सूत्र द्वारा मंगलाचरणरूप में समस्त लौकिक वैदिक शुभकर्मों की अनुष्ठेयता का प्रतिपादन किया गया है। शुभकर्म अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा आत्म-ज्ञान के साधन होते हैं। आत्मज्ञान होने पर मोक्षप्राप्ति निश्चित है। क्योंकि मोक्ष ब्रह्म का स्वरूप है, इसलिए शुभकर्मानुष्ठान ईश्वर के अस्तित्व में साधन बन जाता है। इसके अतिरिक्त मंगलाचरण में 'फलदर्शन' हेतु इस बात का स्मरण करा देता है, कि कर्मों के फलों का दाता ईश्वर है, क्योंकि वह समस्त जगत् का अधिष्ठाता है। ऐसी स्थिति में 'वादी भद्रं न पश्यति' इस लोकोक्ति के अनुसार

ईश्वर के अस्तित्व अथवा अधिष्ठातृत्व को सहन न करता हुआ प्रतिपक्षी आशंका करता है—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ।।२।।

[ईश्वराधिष्ठिते] ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर [फलनिष्पत्तिः] फलों की सिद्धि [न] नहीं, (कर्मणा) कर्मद्वारा [तत्सिद्धेः] फलसिद्धि होने से ।

ईश्वर से अधिष्ठित जगत् में ईश्वर के द्वारा फलनिष्पत्ति—कर्मफलों की प्राप्ति, संभव नहीं, क्योंकि फलसिद्धि कर्म के द्वारा होती है। अभिप्राय यह है, कि ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता मानने पर यह कहा जाता है, कि कर्मफलों को देने वाला वही है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर कर्मों की उपेक्षा करके केवल अपने सामर्थ्य से फल नहीं देसकता। जब फलसिद्धि में कर्मों की अपेक्षा आवश्यक है, तब ईश्वर को अन्तर्गड्ड मानना निरर्थक है। कर्म से ही फलों की सिद्धि होजाएगी।।२।।

फलप्रदान में ईश्वर की प्रवृत्ति स्वार्थमूलक है, अथवा परार्थमूलक ? यदि स्वार्थमूलक है, तो—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ।।३।।

[स्वोपकारात्] अपने उपकार की भावना से [अधिष्ठानं] अधिष्ठाता होना (ईश्वर को) [लोकवत्] लोक में होने वाले साधारण व्यक्ति के समान बना देता है।

इस सूत्र के 'स्वोपकार' पद में दो समास संभव हैं। स्वस्योपकारः स्वोपकारः, अथवा स्वीयस्योपकारः स्वोपकारः। अपना उपकार अथवा अपने से सम्बन्ध रखने वाले का उपकार। ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले वे जीव कहे जासकते हैं, जो उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना व भक्ति करते हैं। ये दोनों स्थिति स्वार्थमूलक हैं। यदि ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का यही स्वरूप है, तो वह रागी समझा जाएगा। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति अपने तथा अपने आत्मीयों के उपकार करने की है। राग के साथ उसमें द्वेष के अस्तित्व की संभावना आवश्यक है। कोई भी स्वार्थभावना से प्रवृत्त हुआ व्यक्ति, रागद्वेषके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। इस स्थिति में ईश्वर को पूर्ण आप्तकाम तथा आनन्दघन आदि बताना असंगत होगा, और वह लोक में देखे जाने वाले व्यक्ति के समान एक साधारण व्यवहारी पुरुष होगा ।।३।।

यदि ईश्वर की फलदान प्रवृत्ति में दूसरा कारण माना जाए, और कहा जाए, कि वह परार्थभावना से इसमें प्रवृत्त होता है, तो—

लौकिकेश्वरवदितरथा ।।४।।

[इतरथा] अन्यथा [लौकिकेश्वरवत्] लोक में होने वाले राजा महा-

राजा के समान (होगा)।

इतरथा—स्वार्थभावना से प्रवृत्ति न मानने पर, अर्थात् परार्थभावना से ईश्वर की फलदान प्रवृत्ति मानने की अवस्था में वह एक लौकिक ईश्वर राजा महाराजा आदि के समान समझा जाएगा। लोक में ऐसा देखा जाता है, कि पर उपकार की भावना से प्रवृत्त हुए व्यक्तियों में कुछ-न-कुछ अपने उपकार की भावना अन्तर्निहित रहती है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति (बृह० ३।५।६)।' यदि ईश्वर की ऐसी स्थिति मानी जाती है, तो अन्य सबप्रकार की भावनाओं का उसमें अस्तित्व ऐसे ही मानना पड़ेगा, जैसे एक लौकिक ईश्वर अर्थात् शक्तिशाली व्यक्ति राजा आदि में रहता है। तब ईश्वर एक असाधारण मानव के समान होगा, जिसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, मोह आदि सब भावनाओं का अस्तित्व पाया जाता है। आजकल देश के अनेक अधिकाधिक नेता, जो केवल जनता की सेवाओं का डिण्डिम घोष करते नहीं थकते, वे व्यवहार में साक्षात् स्वार्थ के पुञ्ज देखे जाते हैं।

संसार की स्थिति को देखते हुए भी यह कहना कठिन है, कि यह रचना-रूप फलप्रदान की प्रवृत्ति, पर-उपकार की भावना अथवा जीवों पर करुणा की दृष्टि से हुई है। यदि सचमुच ईश्वर इतनी करुणा से प्रेरित होकर यह रचना करता है, तो उसने संसार को दुःखमय क्यों बनाया? कोई लूला लंगड़ा है, कोई अन्धा बहरा है, कोई दुर्बल अपाहज है, किसी को कोई दु.ख है, किसी को कुछ। सारांश यह, कि सारे संसार में आपाधापी और दुःख के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है। यह रचना करुणामय भगवान् की परार्थ की भावना से कैसे कही जा-सकती हैं। फलतः जगद्रचना अथवा कर्मफलों की सिद्धि के लिए ईश्वर एवं उसके अधिष्ठातृत्व को स्वीकार करने का कोई आधार बनता नहीं॥४॥

यदि उपर्युक्त दोनों स्थितियों में से ईश्वर की कोई स्थिति संभव नहीं होसकती, और उसके अस्तित्व को अन्य किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तो वह—

पारिभाषिको वा॥५॥

[वा] अथवा [पारिभाषिकः] कल्पनामात्र कलेवर (रह जाता है)।

केवल एक पारिभाषिक तत्त्व होगा, ऐसा तत्त्व जिसे केवल ईश्वर-वादियों ने अपने मनोविनोद अथवा अन्य भावनाओं की पूर्ति के लिए घढ़ लिया है, एक सम्बलमात्र, जिसकी कोई निश्चित स्थिति अथवा रूप कल्पना नहीं किए जासकते। वस्तुतः जब ईश्वर की प्रवृत्ति न स्वार्थ-परार्थमूलक प्रतिपादित की जासके, और न अन्य कोई ऐसी स्थिति हो, जिसकी निश्चित रूपरेखा कल्पना की जासके, तो वह एक परिभाषामात्र रह जाता है, केवल ईश्वरवादियों की ऐसी कल्पना का

विषय, जो उन्होंने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिए खड़ा कर लिया है ॥५॥

इन चार सूत्रों के द्वारा सांख्याभिमत ईश्वर के अधिष्ठातृत्व में जो सन्देह प्रकट किया गया है, सूत्रकार उसका उत्तर देता है—

न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

[न] नहीं (पूर्वपक्ष अयुक्त है), [रागादृते] रागादि के विना भी [तत्सिद्धिः] ईश्वरप्रवृत्ति सिद्ध होजाती है [प्रतिनियतकारणत्वात्] प्रत्येक मूल-तत्त्व के व्यवस्थापूर्वक कारण होने से।

न—पूर्वपक्ष रूप से ईश्वर के अस्तित्व व अधिष्ठातृत्व में जो सन्देह प्रस्तुत किया है, वह ठीक नहीं हैं। रागादृते तत्सिद्धिः—क्योंकि ईश्वर में राग आदि के विना ही फलप्रदान-प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व और उसकी फलप्रदान अथवा जगद्रचना की प्रवृत्ति को उस रूप में स्वीकार किया जाता है, जहां राग आदि की कल्पना नहीं की जासकती। हेतु है—प्रतिनियतकारणत्वात्—प्रत्येक मूल तत्त्व की नियतकारणता। जो जगत् के मूलकारण हैं, उन सबकी कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है। यह एक ऐसा निश्चित क्रम अथवा ऐसी व्यवस्था है, जिसमें किसी उलटफेर की आशंका नहीं की जासकती। जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, परन्तु वह अचेतन होने से स्वयं प्रवृत्त होने में असमर्थ रहती है। अतः अपनी प्रवृत्ति के लिए उसे एक चेतन की प्रेरणा आवश्यक है। प्रकृति का प्रेरक वह चेतन ही ईश्वर है। उसकी प्रेरकता में किसी तरह के राग या द्वेष आदि की संभावना नहीं की जासकती। क्योंकि प्रकृति को जगद्रूप में परिणत होने के लिए प्रेरणा देना उसका स्वभाव है। यह एक ऐसी निश्चित व्यवस्था है, जिसमें कभी किसी परिवर्त्तन की आशंका नहीं की जासकती। ईश्वर की करुणा और न्याय इसी में सन्निहित हैं कि उसकी प्रेरणा से अनुगृहीत जगत्सृष्टि में समस्त जीव अपने कर्मों का अनुष्ठान करें, और उसके अनुसार अपने कर्मफलों का उपभोग करें।

संसार में जो लूले लंगड़े अन्धे बहरे और अन्य प्रकार के अपंग या अपा-हज दुःखी व्यक्ति देखे जाते हैं, यह सीधी ईश्वर की रचना नहीं है। इसप्रकार की रचना में प्रकृति के साथ जीव के कर्मों का सहयोग बराबर रहता है, उसी के अनु-सार यह रचना हुआ करती हैं। जब वादी ईश्वर को हटाकर केवल कर्म के आधार पर दुःख सुख आदि की प्राप्ति और उसके साधनभूत जगत् की रचना को स्वीकार करता है, तब ईश्वर के मानने पर वह कर्म को क्यों भूल जाता है। वस्तुतः कर्म-क्रियाजन्य संस्कार अथवा धर्म-अधर्म जो भी है, सब अचेतन रूप है, वह स्वयं जगत् के इस रूप में व्यवस्थित नहीं होसकता। उसका आधार आत्मा, चेतन होने पर भी अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति होने के कारण कर्मों का फलों के साथ सम्बन्ध

स्थापित करने के लिए इस अनन्त विस्तार से सम्पन्न संसार में असमर्थ रहता है। इसलिए यह सब व्यवस्था अचिन्त्यशक्ति ईश्वर के सामर्थ्य में होपाती है। समस्त प्रकृति और जीव-जगत् पर व्यवस्था एवं कर्मफलसिद्धि की दृष्टि से उसका पूर्ण नियन्त्रण है। इसप्रकार विश्वसृष्टि के मूलतत्त्वों की कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है। प्रकृति इस विश्व का मूल उपादान है, उसके अचेतन होने के कारण चेतन ईश्वर उसका प्रेरक है। यह सत्ता अपरिणामी, अक्षर, नियन्ता एवं सदा एकरूप रहने वाली स्वीकार की जाती है। जीव चेतन इस प्रकृति के साथ लिप्त रहता, कर्मों को करता और भोगता हैं। इसप्रकार एक चेतन अभोक्ता एवं नियन्तामात्र है, अन्य चेतन इस प्रकृति के भोक्ता हैं, और अचेतन प्रकृति परिणामिनी एवं भोग्य है। इस रूप में ये तत्त्व अपनी-अपनी सीमा में कार्य करते हुए विश्वसृष्टि की समस्या को पूर्ण करते हैं। फलतः समस्त विश्व पर ईश्वर का अधिष्ठातृत्व निर्धारित होता है। उसकी प्रेरणा के मूल में किसी प्रकार के राग द्वेष आदि की कल्पना नहीं की जासकती, क्योंकि उसका यह अपना स्वभाव है। यदि वहां यह न हो, तो उसका अस्तित्व ही आपद्ग्रस्त होजाएगा, फिर सृष्टिरचना की समस्या का कोई निर्दोष समाधान मिलना अशक्य होगा ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता होने पर प्रकृति के संपर्क में अवश्य आएगा, तब उसे नित्यशुद्ध, आनन्द अथवा नित्यमुक्तस्वभाव कैसे कहा जासकता है ? ऋषि सूत्रकार समाधान करता है—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

[तद्योगेऽपि] प्रकृति के साथ नियन्तारूप में संपर्क होने पर भी [नित्यमुक्तः] ईश्वर नित्यमुक्त [न] नहीं रहता (ऐसा नहीं है)।

इस सूत्र में पहले सूत्र से एक 'न' की अनुवृत्ति और आती है। 'तद्योगेऽपि'—अधिष्ठाता एवं नियन्ता ईश्वर का प्रकृति के साथ योग होने पर भी, 'न नित्यमुक्तः'—वह नित्यमुक्त नहीं रहता, 'न'—यह बात नहीं है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्पर्क केवल उसका नियन्त्रण करने के लिए है, इस रूप में प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर ईश्वर के नित्यमुक्त, शुद्ध, आनन्द आदि स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। इसका कारण पहले (छठे) सूत्र के हेतु-पद में अन्तर्निहित है। जहां प्रत्येक मूलतत्त्व की कारणता के अपने विशिष्टरूप की ओर संकेत किया गया है। प्रकृति के साथ उसी सम्पर्क में मुक्तता की हानि और बन्धन अवस्था की प्राप्ति होती है, जहां प्रकृति को भोग्यरूप में पकड़ा जाता है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के नियन्त्रण में यह स्थिति नहीं है ॥७॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, और ईश्वर उसमें प्रेरणात्मक सहयोग देता है, तब उस प्रकृतिरूप प्रधानशक्ति के सहयोग से

ईश्वर में कुछ उपादानता का अंश स्वीकार किया जाना चाहिए। अभिप्राय यह है, कि जब ये दोनों मिलकर जगत् को बनाते हैं, तब प्रकृति के समान ईश्वर में भी क्यों न उपादानता स्वीकार की जाए। दोनों उपादान माने जाने चाहियें। ऋषि अगले सूत्र से इसका समाधान करता है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः ॥८॥

[प्रधानशक्तियोगात्] प्रकृतिरूप उपादानकारण के सहयोग से [चेत्] यदि (ईश्वर को उपादान माना जाए, तो) [संगापत्तिः] उसमें संगदोष की प्राप्ति होती है।

यदि यह कहा जाए, कि प्रकृति के सहयोग में ईश्वर भी जगत् का उपादान है, तो ईश्वर में 'सङ्ग' की आपत्ति अर्थात् सङ्ग-दोष उपस्थित होता है। ईश्वर एक ऐसी शक्ति स्वीकार किया जाता है, जो अपना कार्य करने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाता है, और उसमें प्रकृति को उसका सहयोगी या सहायक स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वर की स्थिति ऐसी होजाती है, कि उसको अपने कार्य में किसी साथी-संगी की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में उसके पूर्णशक्तिरूप की हानि होकर उसमें संग—साहाय्यरूप तथा परिणामरूप दोष की प्राप्ति होती है; क्योंकि 'संग' पद का अर्थ संघात भी है, और संघात परिणाम का फल है, इसलिए परिणामिनी प्रकृति के समान ईश्वर को भी जगत् का उपादान मानने पर परिणामी मानना होगा, जो इष्ट नहीं। वस्तुस्थिति यह है, कि ईश्वर का कार्य प्रकृति का केवल नियन्त्रण करना है, और उस कार्य को सम्पन्न करने में वह सर्वथा अन्य-निरपेक्ष है, उसके लिए उसे किसी साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती, और न वह स्वयं जगत्रूप में परिणत होता है ॥८॥

शिष्य इस स्थिति को जानकर, कि ईश्वर की उपादानता में प्रकृति का साहाय्य स्वीकार करने पर उसमें 'सङ्ग' दोष की प्राप्ति होती है, कह उठता है—फिर प्रकृति का साहाय्य उसमें माना ही क्यों जाए? केवल ईश्वर अपनी सत्ता से समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् पूर्णरूप से ईश्वर ही समस्त जगत का मूल उपादान है, यही क्यों न मान लिया जाए? ऋषि उत्तर देता है—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

[सत्तामात्रात्] केवल अपनी सत्ता से [चेत्] यदि (ईश्वर उपादान हो, तो) [सर्वैश्वर्यम्] सब जगत् ईश्वर का रूप होना चाहिए।

यदि ईश्वर अपनी सत्ता से—अपने स्वरूप से ही समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, तो मूल उपादान के समान यह समस्त संसार भी पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए। 'ऐश्वर्ययुक्त' का अभिप्राय है, कि ईश्वर का जो स्वरूप है, वैसा

ही समस्त जगत् का होना चाहिए । वेद तथा उपनिषद् आदि में ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह ईश्वर को—सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टि का नियन्ता आदि अवस्था-परिपूर्ण बताता है । पर दृश्यमान जगत् के स्वरूप में इन अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है । इसलिए ईश्वर को किसी भी स्थिति में जगत् का उपादान नहीं माना जासकता ।

इसके अतिरिक्त यह है, कि ईश्वर को चाहे किसी रूप में जगत् का उपादान माना जाए, उसे परिणामी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । परिणामी मानने पर वह विकारी होगा, और नित्य एकरस न कहकर फिर उसे अनित्य, परिवर्तनशील मानना होगा । यह स्वरूप चेतन का कदापि नहीं कहा जासकता । जब चेतना यहां से हटी, तो यह जड़ प्रकृति का स्वरूप रहगया । यह कभी नहीं देखा जाता, कि चेतन का परिणाम होता हो, और वह भी अचेतन रूप में । सांख्य में चेतन और अचेतन के स्वरूप को स्पष्ट करने का यह एक मुख्य आधार माना गया है, चेतन अपरिणामी होता है, और अचेतन परिणामी । फलतः ऐसा चेतन, जो अचेतनरूप में परिणत होरहा हो, कहीं नहीं जाना गया ।[1] वस्तुतः चेतन में कोई भी परिणाम असंभव है ॥९॥

सूत्रकार अगले सूत्रों से चेतन के परिणाम का प्रत्याख्यान करता है—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

[प्रमाणाभावात्] प्रमाण न होने से [तत्सिद्धिः] चेतन-परिणाम की सिद्धि [न] नहीं ।

प्रमाण के अभाव से, चेतन-परिणाम की सिद्धि नहीं होती । यद्यपि सूत्र में साधारण 'प्रमाण' पद का निर्देश है, परन्तु अग्रिम सूत्र में अनुमान के अभाव से चेतन-परिणाम की असिद्धि का प्रतिपादन होने के कारण इस सूत्र में 'प्रमाण' पद केवल प्रत्यक्ष का अतिदेश करता है । अभिप्राय यह है, कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव

१. आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान ने इस सिद्धांत को निश्चित किया है, और प्राचीन बृहस्पति चार्वाक आदि आधिभौतिकवादी आचार्यों ने भी प्रतिपादित किया था, कि चेतना जड़ में और जड़ चेतना में रिणत होजाते हैं । मैटर इन्टैलिजेन्स् और इन्टैलिजेन्स् मैटर बन जाता है । वस्तुतः आधिभौतिक वैज्ञानिकों ने जिस तत्त्व को इन्टैलिजेन्स् समझा है, वह चेतना नहीं है । अथवा यों कहना चाहिए, कि आज के वैज्ञानिक का इन्टैलिजेन्स्—भारतीय दर्शन में प्रतिपादित—चेतना नहीं है । इसका विशद विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण के प्रारम्भिक पृष्ठों में किया गया है ।

से अर्थात् कहीं भी ऐसा न देखे जाने से, कि चेतन अचेतन रूप में परिणत होता है, चेतन के परिणाम की सिद्धि नहीं होसकती। इसलिए जड़ जगत् के रूप में परिणत होने वाले अर्थात् जगत् के उपादानभूत चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जासकता ॥१०॥

सम्वन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

[सम्बन्धाभावात्] व्याप्ति न बनने से [अनुमानं] अनुमान [न] नहीं।

उक्त अर्थ की सिद्धि में जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब व्याप्यव्यापक के सम्बन्ध का ग्रहण न होने से अनुमान भी उस अर्थ को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। इसके विपरीत ये दोनों प्रमाण अचेतन जगत् के अचेतन उपादान को सिद्ध करते हैं। लोक में देखा जाता है, कि घट मणिक तथा कुण्डल रुचक आदि अपने सजातीय मृत्पिण्ड तथा कनकपिण्ड आदि के ही कार्य होते हैं। इसीप्रकार यह त्रिगुणात्मक जड़जगत् सत्त्व-रजस्-तमोरूप जड़प्रकृति का परिणाम सम्भव होसकता है ॥११॥

इस अर्थ की सिद्धि में सूत्रकार शब्द प्रमाण का भी निर्देश करता है—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

[श्रुतिः] वेद [अपि] भी (जगत् को) [प्रधानकार्यत्वस्य] प्रकृति के कार्य होने का (उल्लेख करता है)।

श्रुति अर्थात् वेदरूप शब्दप्रमाण इसी अर्थ को सिद्ध करता है, कि यह समस्त जड़जगत् प्रधान (=त्रिगुणात्मिका प्रकृति) का ही कार्य है। 'अजामेकां' (श्वेता० ४।५) 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० १।१६४।२०) 'दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते' (ऋ० १०।६४।५) 'देवानां नु वयं जाना' (ऋ० १०।७२।१-६) 'अपाङ् प्राङेति स्वधया' (ऋ० १।१६४।३८) 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' (ऋ० १०।१२९।२-३) 'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्' (अथर्व० १०।८।४३) आदि अनेक सूक्तों एवं श्रुतियों में प्रकृति की उपादानकारणता का स्पष्ट और विशद वर्णन उपलब्ध है। सूत्र में 'अपि' पद इस अर्थ की पुष्टि के लिए अनुमान आदि प्रमाणों का संग्राहक है।

इसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा वेदादि शब्द प्रमाण के आधार पर परमात्म-सम्बन्धी इस प्रसंग में यह निर्धारित किया गया है, कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा नहीं, जड़-प्रकृति है; परमात्मा केवल निमित्त कारण है, एवं जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता है। वही जीवों के कर्मों का फलप्रदाता है, ईश्वर के विना केवल कर्मों द्वारा जीवों के फलोपभोग आदि जगत् का संचालन संभव नहीं। फलतः महर्षि कपिल ने अपने दर्शन में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है, (सां० सू० १।५७) जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर को स्वीकार किया है (सां० सू० ३।५६-५७)। अन्य व्याख्याकारों के द्वारा किए

गए इन सूत्रों के व्याख्यान, सांख्यसिद्धान्तों को सूक्ष्म एवं गंभीरता से न समझने के कारण केवल कल्पना-प्रसूत हैं, कतिपय व्याख्याकार तो अधिक बहक गए हैं, अतः वे व्याख्यान चिन्त्य हैं ॥१२॥

श्रुतिबल से प्रधान (सत्त्व, रजस्, तमस् रूप प्रकृति) जगत् का उपादान कारण है, ऐसा सिद्ध होने पर वादी शंका करता है, उपनिषद् आदि में जहां-तहां अविद्या के योग से ब्रह्म के उपादान होने के संकेत मिलते हैं, तब उसको उपादान क्यों न माना जाए ? सूत्रकार ने कहा—

नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ॥१३॥

[निःसङ्गस्य] असंग ईश्वर का [अविद्याशक्तियोगः] अविद्याशक्ति के साथ योग—एकता अथवा संबन्ध [न] संभव नहीं ।

चेतन ब्रह्म को सर्वत्र वेदादि शास्त्रों में निःसंग अर्थात् अपरिणामी माना गया है, ऐसे ब्रह्म का परिणाम की भावना से अविद्याशक्ति के साथ योग संभव नहीं । ब्रह्म चेतन ज्ञानस्वरूप अपरिणामी है, अविद्या जड़ अज्ञानस्वरूप परिवर्त्तन-शील है, तब दोनों का योग अर्थात् एकता कैसे संभव होसकती है ? उपनिषद् आदि में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, (तैत्ति० २।६) 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐत० १।१।१) तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय (छा० ६।२।३) इत्यादि प्रसंगों में चेतन तत्त्व को जगत् का स्रष्टा अर्थात् निमित्त या अधिष्ठाता प्रतिपादन किया है, उपादान नहीं ॥१३॥

उक्त कथन में सूत्रकार अन्य प्रकार से दोष देता है—

तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम् ॥१४॥

[तद्योगे] अविद्या का योग होने पर [तत्सिद्धौ] अविद्या की सिद्धि मे [अन्योन्याश्रयत्वम्] अन्योन्याश्रय दोष होता है ।

अन्य वस्तु में अन्य आकार की प्रतीति होना अविद्या है । यह विकार का रूप है । विकार की स्थिति निःसंग चेतन ब्रह्म का अविद्या के साथ योग होने के अनन्तर आसकती है, क्योंकि जगद्रचना दोनों के योग का परिणाम है । तब अविद्या-योग के होने पर अविद्या की सिद्धि, और अविद्या का अस्तित्व पहले मानने पर अविद्यायोग संभव होसकता है, ऐसी स्थिति में यह अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो-जाता है । अविद्या के विना योग संभव नहीं, और जब योग होजाए, तब अविद्या-रूप विकार सामने आवे । जिस मन्तव्य में अन्योन्याश्रय दोष होता है, वह त्याज्य समझा जाता है ।

इस मान्यता में अनवस्था दोष की उद्भावना भी होती है । अन्य वस्तु में अन्य आकार की प्रतीति—अविद्या विकार है । उसकी उत्पत्ति के लिए ब्रह्म के साथ योग होने को एक अन्य अविद्या को स्वीकार करना होगा । वह अविद्या भी विकार

रूप है, तब उसके लिए भी अन्य कारण अविद्या की कल्पना करनी होगी, उसके लिए भी और अविद्या की; इसप्रकार अनवस्था दोष भी इस मान्यता में उपस्थित होता है ॥१४॥

अन्योन्याश्रय दोष बीज और अंकुर की परिस्थिति के समान दोषावह नहीं होता, इस आशंका का परिहार सूत्रकार करता है—

न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ॥१५॥

[बीजांकुरवत्] बीज अंकुर के समान (अन्योन्याश्रय नहीं होगा, ऐसा) [न] नहीं [सादिसंसारश्रुतेः] उत्पन्न होने वाला संसार वेद में बताए जाने से।

इस प्रसंग में बीज अंकुर का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं, क्योंकि यह अनादि वस्तु-क्रम की दशा में समञ्जस होसकता है। संसाररूप विकार तो आदि वाला है, अनादि नहीं है। वेदों में संसार की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। 'द्यावा-भूमी जनयन् देव एकः (ऋ० १०।८१।३) 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० १०।१२९।७) इत्यादि ऋचाओं में संसार की रचना का स्पष्ट उल्लेख है। कोई भी विकार अथवा उत्पन्न होने वाला पदार्थ अनादि संभव नहीं, यद्यपि संसार के प्रवाह को अनादि कहा जा-सकता है, क्योंकि सृष्टि के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सर्गरचना का क्रम बराबर चलता आरहा है, और सदा रहेगा। अविद्या तो स्पष्ट विकार है, इसलिए अविद्या और अविद्यायोग की दशा में उक्त दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है। अभिप्राय यह है, कि यह दृष्टान्त साक्षात् विकार के लिए उपयुक्त नहीं, विकार-प्रवाह के लिए दिया जा सकता है। यहां अन्योन्याश्रय दोष विकार में प्रस्तुत किया गया है ॥१५॥

वादी कहता है, कि 'अन्य वस्तु में अन्य आकार की प्रतीति होना' अविद्या स्वरूप हम नहीं मानते। प्रत्युत विद्या से अन्य अविद्या है, जो अनादि और अखण्ड है। उसका योग, ब्रह्म अर्थात् चेतन तत्त्व को जगत् का उपादान होने में सहायता देता है। सूत्रकार दूषण देता है—

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥१६॥

[विद्यातः] विद्या से (अविद्या के) [अन्यत्वे] भिन्न माने जाने पर [ब्रह्म-बाधप्रसंगः] ब्रह्म की बाधा प्राप्त होजाती है।

यदि आपके विचार से अविद्या एक ऐसा तत्त्व है, जो विद्या से भिन्न है, और अनादि अखण्ड होने से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, और उसी के सह-योग से आप ब्रह्म अर्थात् चेतन तत्त्व में जगत् का उपादान होने का उपपादन करते हैं, तो फिर उसी तत्त्व को जगत् का उपादान कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने में बाधा की प्रसक्ति होजाती है। आप ब्रह्मको उपा-

दान बनाने चले थे, पर आपके ही कहने से वह अन्य तत्त्व उपादान बन बैठा। इसप्रकार ब्रह्म की उपादानता में स्वतः बाधा प्राप्त होजाती है ॥१६॥

फिर भी ब्रह्म को उपादान मानने का आग्रह करने की अवस्था में सूत्रकार दोष उपस्थित करता है—

अबाधे नैष्फल्यम् ॥१७॥

[अबाधे] बाधा न होने पर [नैष्फल्यम्] निष्फल होना (अखण्ड अविद्या का निश्चित है)।

यदि फिर भी आप ब्रह्म की उपादानता को अबाध मानते हैं। अर्थात् विद्या से अतिरिक्त—अविद्या को अनादि अखण्ड स्वतन्त्र अस्तित्व वाला तत्त्व—मान लेने पर भी यदि ब्रह्म ही उपादान माना जाता है, तो अविद्या के ऐसे स्वरूप को स्वीकार करना निष्फल है। वस्तुतः अविद्या का स्वतन्त्र सद्भाव मानने का स्वारस्य व सामञ्जस्य इसी में है, कि जगत् का उपादान उसी को मान लिया जाए, जबकि उसके सहयोग के विना ब्रह्म को उपादान मानने की कल्पना संभव न हो-सकती हो। यदि फिर भी ब्रह्म को उपादान मानने का आग्रह बना रहता है, तो अविद्या का ऐसा स्वरूप मानना सर्वथा व्यर्थ है।

विद्या नाम ज्ञान का है, जो चेतन का स्वरूप है। यदि विद्या अर्थात् चेतन से अतिरिक्त अचेतन तत्त्व का अस्तित्व भी चेतन के समान स्वतन्त्र है, तो वह सांख्य के 'प्रधान' तत्त्व की समान-स्थिति में आजाता है, तब वही उपादान होगा, अन्यथा उसे वैसा मानना व्यर्थ होगा ॥१७॥

अविद्या का स्वरूप चाहे जो कुछ हो, पर अविद्या विद्या का विरोधी तत्त्व है। इस अवस्था में विद्या से अविद्या का बाध होता है, या नहीं, यह विकल्प करके सूत्रकार दूषण देता है—

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥१८॥

[विद्याबाध्यत्वे] विद्या द्वारा (अविद्या की) बाधा होने पर [जगतः] जगत् की [अपि] भी [एवम्] ऐसे बाधा होजानी चाहिए।

यदि यह माना जाता है, कि विद्या से अविद्या की बाधा होजाती है, और यह जगत् अविद्या का रूप है तो किसी एक व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार होजाने पर उस यथार्थज्ञान या विद्या से अविद्या का बाध होजाएगा, तब उसके कार्य—जगत् का भी बाध होजाना चाहिए, अर्थात् जगत् की प्रतीति फिर न होनी चाहिए। पर प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं है, आत्मज्ञान होजाने पर भी जगत् का अस्तित्व और प्रतीति वैसे ही बने रहते हैं। इससे परिणाम निकलता है, कि विद्या से बाध्य अविद्या का स्वरूप या कार्य यह जगत् नहीं है ॥१८॥

जैसे विद्या से जगत् का बाध नहीं होता, क्योंकि आत्मज्ञान होने पर भी

जगत् वैसा ही बना रहता है, उसीप्रकार अविद्या का भी बाध न होगा, और अविद्या को जगत् का रूप माना जाय, तो—

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥१९॥

[तद्रूपत्वे] जगत् रूप होने पर (अविद्या के, उसका) [सादित्वम्] आदि सहित होना मानना होगा।

जगत् का रूप अविद्या को मानने पर, जगत के समान अविद्या को भी सादि मानना पड़ेगा। सादि–आदि सहित, आदि वाला अर्थात् उत्पन्न होने वाला, जैसे जगत् उत्पन्न होता है, वैसे अविद्या भी होगी। तब अविद्या को अनादि अखण्ड मानना संभव न होगा।

तेरह से उन्नीस तक सात सूत्रों से यह स्पष्ट किया गया, कि अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान या अज्ञान ब्रह्मचेतन में संभव नहीं होसकता, और न अविद्या अनादि अखण्ड तत्त्व संभावित होसकता है, जिसके सहयोग से चेतन को जगत् का उपादान प्रतिपादित किया जासके। इसीप्रकार अविद्या और ब्रह्म अर्थात् जड़ और चेतन दोनों मिलित भी जगत् के उपादान संभव नहीं होसकते। अभिप्राय यह है, कि उपादानता के अंश में चेतन का यत्किञ्चित् भी सहयोग नहीं रहता, न स्वतन्त्ररूप से न अन्य किसी के साथ मिलकर। यद्यपि जगत् के निर्माण में दोनों प्रकार के तत्त्वों का पूर्ण सहयोग रहता है, पर उनके कार्य की अपनी सीमा निर्धारित हैं। केवल जड़ अविद्या अथवा प्रकृति या प्रधान जगत् का उपादान है, और चेतन नियन्ता अधिष्ठाता अथवा साक्षी। इससे अतिरिक्त और कोई भाव निर्माण में अपेक्षित नहीं रहता ॥१९॥

पिछले प्रकरणों में प्रकृति को जगत् का उपादान सिद्ध किया गया। जगत् के विचित्र निर्माण में प्रकृति का सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्रधान कारण है। इन मूल-तत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य और उनके विविध संमिश्रण अर्थात् अन्योन्यमिथुन जगत् की विचित्रता के जहां आधारभूत कारण हैं, वहां आत्म-कृत कर्मों की भी उपेक्षा नहीं कीजासकती। इसी अर्थ का सूत्रकार ने उपपादन किया—

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥२०॥

[प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्] प्रकृति के कार्य विचित्र होने से [धर्मापलापः] धर्माधर्म की उपेक्षा [न] नहीं।

सूत्र में 'धर्म' पद 'अधर्म' का भी उपलक्षण—संग्राहक है। इसलिए पुरुष जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसके परिणामस्वरूप धर्म और अधर्म के द्वारा उसे सुख या दुःखरूप फल भोगना होता है। उसीके अनुसार उसके लिए अनुकूल या प्रतिकूल साधन जुट जाते हैं। उन साधनों की विविधता में इसी आधार पर धर्म का निमित्त होना अपेक्षित रहता है। इसलिए प्रकृति के कार्यों में जो विचि-

त्रता अथवा वैलक्षण्य पाया जाता है, उसमें पुरुषों के विविध धर्म आदि को निमित्त मानना आवश्यक है। तृतीय अध्याय के १०, ५१ और ६७ सूत्रों में इसी अर्थ का निर्देश किया गया है। अतएव प्रकृति के विलक्षण कार्यों में धर्म के निमित्त होने की उपेक्षा नहीं की जासकती ॥२०॥

सूत्रकार प्रमाणों के आधार पर इस अर्थ को पुष्ट करता है—

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

[श्रुतिलिङ्गादिभिः] शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष से [तत्सिद्धिः] धर्माधर्म और उनकी कारणता की सिद्धि होती है।

श्रुति—शब्द, लिङ्ग—अनुमान और आदि पद से गृहीत प्रत्यक्ष के द्वारा धर्माधर्म की और जगत् के वैचित्र्य के प्रति धर्माधर्म-निमित्तता की सिद्धि होती है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यजु० ४०।१), 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' (ऋ० १०।८१।३) (अत्र 'बाहुभ्यां' धर्माधर्माभ्यां' इति व्याख्यातारः)। 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृह० ४।४।५) इत्यादि श्रुतियों से धर्माधर्म का अस्तित्व और विचित्र जगदुत्पाद के प्रति निमित्तता स्पष्ट होती है।

संसार में प्राणियों के विविध सुख-दुःख आदि को देखते हुए उनके निमित्त धर्म-अधर्म का अनुमान होता है। जगत् की विलक्षणता भी विभिन्न धर्माधर्मों का अनुमान कराती है।

योगीजन योगसमाधिजन्य अतिशय को प्राप्त कर जगन्निर्माण में धर्म-अधर्म की निमित्तता का प्रत्यक्ष करते हैं। इसप्रकार धर्म-अधर्म का अस्तित्व और जगत् की रचना में उसका निमित्त होना सब प्रमाणों से सिद्ध होता है ॥२१॥

क्या यह नियम समझना चाहिए, कि केवल अदृष्ट (धर्म-अधर्म) से जगत् का निर्माण होजाता है? सूत्रकार कहता है—

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥

[प्रमाणान्तरावकाशात्] अन्य साधनों व प्रमाणों के अवकाश से [नियमः] केवल धर्माधर्म जगत् के निमित्त हैं ऐसा नियम [न] नहीं।

सूत्र में 'प्रमाण' पद साधन अथवा निमित्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य साधनों का भी अवकाश—जगत्-निर्माण में अवसर—होने से यह नियम नहीं, कि अदृष्ट अकेला जगत् की उत्पत्ति में निमित्त होगा। दृष्ट-अदृष्ट सब प्रकार के साधन जो अपेक्षित हैं, सृष्टि में आवश्यक समझे जाते हैं। सर्गरचना के प्रसंग में 'अदृष्ट' पद धर्म-अधर्म निमित्तों का निर्देश करता है, और शेष समस्त अपेक्षित निमित्तों का निर्देश 'दृष्ट' पद से होता है, जिनमें मूल उपादान तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया और चेतन तत्त्व के सहयोग आदि का समा-

वेश होजाता है। अथवा 'प्रमाण' पद का प्रसिद्ध अर्थ मान लेने पर भी कोई आपत्ति नहीं। तब सूत्र का अर्थ होगा—प्रमाणान्तरों—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अन्य निमित्तों—का अवकाश अर्थात् अवसर प्राप्त होने से यह नियम नहीं, कि अदृष्ट ही उत्पत्ति में निमित्त हों। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यह निश्चित होजाता है, कि कार्यमात्र की उत्पत्ति में अदृष्ट के अतिरिक्त अन्य दृष्ट कारण भी उपस्थित रहते हैं ॥२२॥

प्राणिमात्र के लिए सर्गरचना का उपयोग दो रूपों में होता है—इहलोक या परलोक। प्रत्येक वर्त्तमान जन्म 'इहलोक' है। उससे अतिरिक्त स्थिति 'परलोक'। दोनों जगह दृष्टादृष्टनिमित्तता समान है, यह बताता है—

उभयत्राप्येवम् ॥२३॥

[उभयत्र] दोनों अवस्थाओं में [एवम्] ऐसा है।

प्रत्येक प्राणी की दोनों अवस्थाओं में, चाहे वह अपने वर्त्तमान जन्म की अवस्था में है, अथवा उससे अतिरिक्त अवस्था में; उसके भोगों का सम्पादन करने के लिए दृष्ट और अदृष्ट निमित्त समान रूप में उपस्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है, कि कार्यमात्र में दृष्ट-अदृष्ट उभयविध निमित्तों की अपेक्षा रहती है, कोई ऐसा नियम नहीं, कि कहीं केवल दृष्ट निमित्त हो, और कहीं अदृष्ट।

अथवा इस सूत्र का ऐसा भी अर्थ समझना चाहिए, कि आदि सर्गरचना में और उसके अनन्तर सृष्टि के वर्त्तमान काल में प्राणियों के भोग तथा कार्यमात्र के लिए दृष्टादृष्टरूप दोनों प्रकार के निमित्तों की अपेक्षा रहती है। अभिप्राय यह, कि आदि सर्गरचना और उसके अनन्तर इन दोनों अवस्थाओं में दृष्टादृष्ट निमित्तों की अपेक्षा एकसमान रहती है। दोनों प्रकार के निमित्त दोनों अवस्थाओं में रहते हैं। यह नियम नहीं, कि कहीं एक जगह एक हो, और दूसरी जगह दूसरा ॥२३॥

इसी अर्थ को अगले सूत्र से दृढ़ करता है—

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥२४॥

[चेत्] यदि [अर्थात्] प्रयोजन विशेष से [सिद्धिः] (कार्यविशेष में किसी एक निमित्त का) निश्चय होता है, तो यह [उभयोः] दोनों 'दृष्ट-अदृष्ट' निमित्तों में [समानम्] समान है।

यदि यह कहा जाए, कि किसी अवस्था में किसी विशेष प्रयोजन से किसी एक निमित्त की सिद्धि होती है, तो ऐसा कोई प्रयोजन दोनों के लिए समान समझना चाहिए। एक ही कोई प्रयोजन दोनों प्रकार के निमित्तों का वहां उपस्थापक हो, यह आशय सूत्रकार का नहीं है। प्रत्युत यह है, कि किसी कार्य में यदि हम दृष्ट निमित्तों की उपयोगिता किसी प्रयोजन से समझते हैं, तो उस कार्य में अदृष्ट

निमित्त भी किसी अन्य विशेष प्रयोजन को पूरा करने की दृष्टि से अपेक्षित होता है। अपने दृष्टिकोण से किसी प्रयोजन का होना दोनों प्रकार के निमित्तों के लिए समान है। जैसे एक घट के निर्माण में हम केवल दृष्ट निमित्तों—कुलाल, चक्र, दण्ड आदि को अपेक्षित समझते हैं, क्योंकि इतने से घटकार्य पूर्णरूप में सम्पन्न होजाता है, पूर्ण सम्पन्नतारूप प्रयोजन से केवल दृष्ट निमित्तों की आवश्यकता को यहां बताया जाए, तो अन्य आवश्यक—बाधा आदि निवारण के—प्रयोजन के लिए अदृष्ट निमित्त की सिद्धि को उपेक्षित नहीं किया जासकता। इसप्रकार कार्य-मात्र में—चाहे वह आदि सर्ग का हो अथवा अनन्तर काल का—दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के निमित्तों की अपेक्षा रहती है, जैसे सुखादि कार्य अपनी उत्पत्ति के लिए इहलोक में स्रक् चन्दन वनिता आदि दृष्ट उपायों व साधनों की अपेक्षा रखते हैं, इसीप्रकार परलोक में भी, जो साधारणरूप से केवल अदृष्ट का फल समझा जाता है। इसलिए दृष्ट के समान अदृष्ट साधन भी दोनों स्थितियों में अपेक्षित रहते हैं। फलतः दृष्ट निमित्तों के समान कार्य-रचना में धर्म आदि का भी अपलाप नहीं किया जासकता ॥२४॥

अब धर्म आदि की विशेष स्थिति को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहता है—

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥२५॥

[धर्मादीनां] धर्म-अधर्म आदि भावों का [अन्तःकरणधर्मत्वं] अन्तःकरण (बुद्धि) के धर्म (परिणाम) होना, मान्य है।

धर्म आदि भाव कहां उत्पन्न होते हैं, यह एक प्रश्न है। धर्म आदि समस्त भाव सत्त्व-रजस्-तमस् रूप हैं, इसलिए इन्हें निर्माण अथवा परिणाम की दृष्टि से सत्त्व आदि का विकार कहना चाहिए। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के समस्त परिणाम परार्थ हैं, अतः बुद्धि आदि भी परार्थ हैं, वह 'पर' है—आत्मा। उस चेतन आत्मा के भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति का बुद्धि आदि परिणाम होता है। सत्त्व आदि की जो धर्म आदि भावों के रूप में परिणति है, वह बुद्धि में होती है, परन्तु उसकी अनुभूति आत्मा में होती है। शरीर अथवा बुद्धि आदि के द्वारा सम्पादित किए जाने वाले समस्त क्रिया-कलाप आत्मा के अस्तित्व के विना संभव नहीं होसकते, और वह सब आत्मा के लिए हैं, इसलिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल अनुभूति तो आत्मा को होती है, परन्तु त्रिगुणात्मक होने से धर्म आदि परिणाम बुद्धि में संभव हैं, इसीलिए धर्म आदि भावों को अन्तःकरण का धर्म माना गया है।

जगत् के उत्पाद या परिणाम के प्रसंग में धर्म आदि भावों का यह प्रतिपादन परिणाम की दृष्टि से किया गया है। चेतन आत्मतत्त्व के अधिष्ठाता व

साक्षी होने के कारण इन भावों का अधिष्ठान तो आत्मा ही रहेगा। अन्यथा आदि सर्गरचना में—जब बुद्धि का उद्भव नहीं होपाया है—कर्मों अथवा धर्माधर्म को निमित्त माने जाने पर उनका अधिष्ठान कौन रहेगा? यह ठीक है, कि आदि सर्ग-रचना काल में अपने उद्भव के अनन्तर जो बुद्धितत्त्व जिस पुरुष के साथ संवेष्टित होजाता है, उसका समस्त सर्गकाल में फिर वैसा ही अस्तित्व बना रहता है। या तो आत्मसाक्षात्कार होने पर उस आत्मा से उसका असम्बन्ध होता है, अथवा प्रलयकाल आने पर वह अपने कारणों में लीन होजाता है, क्योंकि प्रलयकाल में कोई कार्य अपने रूप में अवस्थित नहीं रहता, इससे आत्मा के असंग होने में कोई बाधा नहीं आती। गुणों का अन्योन्यमिथुन होना 'संग' पद का अर्थ है, वह आत्मा में संभव नहीं, क्योंकि वह गुणातीत अथवा अत्रिगुणात्मक है ॥२५॥

जगत्सर्ग परार्थ कहा गया है। यदि धर्मादिभाव अन्तःकरण के धर्म हैं, तो आत्मा के लिए इनका उपयोग कैसे होगा? अनुपयुक्त होने से धर्मादि की तथा इनके कारणभूत सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों की व्यर्थता होजाएगी, तब इनका होना न होना बराबर है। सूत्रकार कहता है—

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः ॥२६॥

[च] और [गुणादीनां] गुण आदि का [अत्यन्तबाधः] थोड़ा भी अनु-पयोग [न] नहीं।

गुण—सत्त्व, रजस्, तमस् और 'आदि' पद ग्राह्य—उनके कार्य धर्म आदि भाव तथा अन्य कार्यों की सर्वथा बाधा—अनुपयुक्तता या व्यर्थता नहीं कही जासकती। सूत्र के 'अत्यन्त' पद का अभिप्राय 'यत्किञ्चिदपि' प्रकट होता है, अर्थात् थोड़ा-सा भी अनुपयोग नहीं समझना चाहिए। गुणों का बाधित होना उसी अवस्था में संभव है, जब आत्मा के लिए उनका कोई उपयोग न हो। यदि गुण गुणों के लिए ही हों, आत्मा के भोगादि को सिद्ध न करते हों, तो उनको बाधित बताना ठीक है। परन्तु सत्त्व आदि गुण आत्मा के लिए भोग-अपवर्ग को सम्पन्न करके अपनी उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं। फलतः गुणों को बाधित या अनुपयोगी नहीं कहा जासकता। परिणाम की दृष्टि से यह ठीक है, कि धर्म आदि बुद्धि अथवा सत्त्व आदि के परिणाम हैं, परन्तु धर्म आदि की अनुभूति केवल चेतन आत्मा को होती है, अतः उनका अधिष्ठान चेतन आत्मा ही है ॥२६॥

सूत्रकार अगले सूत्र से उस उपयोग को स्पष्ट करता है—

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥२७॥

[पञ्चावयवयोगात्] पांच ज्ञानेन्द्रियों के योग से [सुखसंवित्तिः] सुखादि का अनुभव होता है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण के पांच अवयवों के समान हैं। यथाविषय

उनके योग अर्थात् सन्निकर्ष से सुखसंवित्ति—सुख की अनुभूति आत्मा को होती है। परिणाम की दृष्टि से धर्म आदि भावों के अन्तःकरण का धर्म होने पर भी उनसे होने वाली अनुकूल अनुभूति आदि आत्मा को होती है।

अन्तःकरण का सीधा सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं है। वह पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पूरा होता है। तथा प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ सम्पर्क स्थापित कर पाती है। इसीलिए सूत्र में 'अवयव' पद से उनका संकेत किया गया है। बाह्यविषय के साथ सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय का रहता है, विषयाकार परिणत होकर वह उस विषय को मन तक पहुंचा देती है, मन अहंकार को और अहंकार बुद्धि को देता है। बुद्धि तदाकार होकर उस विषय को आत्मा में समर्पित करती है। इसप्रकार अन्तःकरण के अवयवभूत पांच इन्द्रियों के सहयोग से आत्मा को सुखानुभूति होती है। सुख प्रत्येक अन्य भाव का उपलक्षण है। अनुकूल प्रतिकूल समस्त अनुभूतियों में यही क्रम समझना चाहिए।

अनेक व्याख्याकारों ने सूत्र के 'पञ्चावयव' पद का अनुमान के पांच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन—अर्थ किया है। सुखादि की अनुभूति या संवित्ति में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का कोई उपयोग तो नहीं है, पर आत्मा को सुखादि की अनुभूति के प्रतिपादन से सुखादि के कारणभूत सत्त्व आदि गुणों का अनुमान द्वारा अस्तित्व सुतरां सिद्ध होजाता है, ऐसा सूत्रार्थ करना चाहिए। प्रतिज्ञादि पञ्चावयव के प्रयोग से अनायास ही अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध होता है। इस प्रकरण से आत्मा द्वारा सुखादि भावों की अनुभूति का प्रतिपादन करके उनके कारणभूत धर्माधर्म तथा सत्त्व-रजस्-तमस् के वास्तविक अस्तित्व को स्पष्ट किया गया है ॥२७॥

इक्कीसवें सूत्र में श्रुति और लिङ्ग के आधार पर धर्मादि की जगन्निमित्तता को प्रमाणित किया है। अब लिङ्ग अर्थात् अनुमान का स्वरूप क्या है, सूत्रकार अगले प्रकरण से इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। पहला सूत्र है—

न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः ॥२८॥

[सकृद्ग्रहणात्] एक वार एकत्र ग्रहण से [सम्बन्धसिद्धिः] व्याप्ति का निश्चय [न] नहीं होता।

सम्बन्ध व्याप्ति को कहते हैं। किन्हीं दो धर्मों का अव्यभिचरित नियत साहचर्य 'व्याप्ति' कहाता है, जो अनुमान का मुख्य आधार है। ऐसी व्याप्ति की सिद्धि किन्हीं दो के एक वार ही एकसाथ या एक जगह ग्रहण होने से नहीं होती, जो वस्तु कृतक—बनने वाली—है, वह अवश्य अनित्य होती है, 'कृतकत्व' और 'अनित्यत्व' इन दोनों धर्मों का नियत साहचर्य है, एक धर्म दूसरे को छोड़कर रह नहीं सकता, यही इनकी व्याप्ति है। व्याप्ति के लिए धर्मों का एक वार या अनेक

वार इकट्ठे ग्रहण होना कोई विशेषता नहीं रखता। वहां अपेक्षा इस बात की होती है, कि उनमें से एक दूसरे को छोड़कर न रह सके। यदि घट के निर्माण के समय हम अनेक वार भी गर्दभ को साथ बंधे देखते हैं, तो भी घट-गर्दभ की व्याप्ति संभव नही होसकती।

सूत्र में 'न' पद को अलग न रखकर 'नैकधा' इत्यादि के समान समस्त पाठ भी माना जासकता है। तब 'नसकृद्ग्रहणात्' का अर्थ 'असकृद्ग्रहणात्' होगा। किन्हीं दो धर्मों का निरन्तर साहचर्य ग्रहण होने से व्याप्ति की सिद्धि होती है ॥२८॥

व्याप्ति के भेद के साथ सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥

[नियतधर्मसाहित्यं] व्यवस्थापूर्वक धर्मों का इकट्ठा रहना [व्याप्तिः] व्याप्ति है, चाहे वह [उभयोः] दोनों धर्मों का हो [वा] अथवा [एकतरस्य] दोनों में से किसी एक का हो।

साध्य और साधन दोनों धर्मों का परस्पर नियत साहचर्य, अथवा केवल साधनधर्म का साध्य के साथ नियत साहचर्य 'व्याप्ति' है। पहले का उदाहरण 'कृतकत्व' और 'अनित्यत्व' पूर्वसूत्र की व्याख्या में निर्देश कर दिया है। दूसरे का उदाहरण 'धूम' और 'अग्नि' है। धूम अग्नि के विना संभव नहीं, इसलिए धूम की व्याप्ति अग्नि के साथ है, पर अग्नि धूम के विना भी दग्ध अयोगोलक अथवा अंगार आदि में रहता है, इसलिए अग्नि की व्याप्ति धूम के साथ नहीं बनती। फलतः कहीं दोनों धर्मों का और कहीं एक का अव्यभिचरित साहचर्य व्याप्ति का स्वरूप है। जहां दोनों धर्मों का परस्पर एक दूसरे के साथ समान साहचर्य होता है, उसे समव्याप्ति, और जहां एक ही धर्म का साहचर्य हो, उसे विषमव्याप्ति कहा जाता है ॥२९॥

सूत्रकार प्रतिपादन करता है, कि व्याप्ति कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है—

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥३०॥

[तत्त्वान्तरं] व्याप्ति अतिरिक्त तत्त्व [न] नहीं [वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः] व्यर्थ वस्तुकल्पना की प्रसक्ति से।

व्याप्ति को अतिरिक्त तत्त्व मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अतिरिक्त वस्तु की कल्पना व्यर्थ होगी, कारण यह है, कि वहां भी अव्यभिचरित साहचर्य को मानना तो अवश्य अपेक्षित होगा, फिर उसी को व्याप्ति क्यों न मान लिया जाए। अतिरिक्त तत्त्व मानना निष्फल है ॥३०॥

यदि किन्हीं दो पदार्थों या धर्मों का नियत साहचर्य उनसे कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है, तो वह क्या है? सूत्रकार स्पष्ट करता है—

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥३१॥

[निजशक्त्युद्भवं] अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रकट होना (पदार्थों अथवा धर्मों का) साहचर्य है [इति] ऐसा [आचार्याः] कपिलाचार्य कहते हैं।

पदार्थ अथवा धर्मों की निज-सहज शक्ति की अभिव्यक्ति ही उन वस्तुओं अथवा धर्मों का साहचर्य है। किसी वस्तु या धर्म में यह सहज-स्वाभाविक सामर्थ्य रहता है, कि वह किसी का कारण अथवा कार्य हो, या प्रयोजक अथवा प्रयोज्य हो। यह चीज़ बनाने से नहीं बनती, यह वस्तुओं का अपना स्वभाव है। यही वस्तुओं के साहचर्य के नाम से कहा जाता है, क्योंकि कोई कार्य अथवा प्रयोज्य अपने कारण या प्रयोजक की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व का लाभ नहीं कर सकता। इसी साहचर्य के आधार पर एक से दूसरे का अनुमान होजाता है।

सूत्र में 'आचार्याः' इस बहुवचनान्त प्रयोग के आधार पर व्याख्याकारों ने यह प्रकट किया है, कि यह विचार अन्य आचार्यों का न होकर स्वयं परमर्षि कपिल का है। अत्यन्त प्राचीनकाल में अपने विचारों को इस रूप में प्रकट करने की प्रथा रही है। अपना नाम लेकर अथवा उत्तमपुरुष द्वारा अपने मत को वे ऋषि प्रकट नहीं करते थे। नाम लेने में अश्रेयस् की भावना और उत्तमपुरुष से कहने में अभिमान की भावना प्रकट होती है, ऐसा समझते थे। यद्यपि यह समस्त शास्त्र कपिल की रचना है, पर यहां इसप्रकार अपने मत का प्रकाशन एक विशेष लक्ष्य को लेकर हुआ है। ऋषि ने अगले सूत्र में अपने प्रशिष्य पञ्चशिख के मत का उल्लेख किया है, और कतिपय सूत्रों द्वारा इसका विवेचन करके दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया है। कपिल की विद्यमानता में ही पञ्चशिख सांख्यविषयक वैदुष्य प्राप्त कर चुके थे, और विभिन्न विषयों पर आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने लगे थे। परमर्षि ने स्नेह व वात्सल्यभाव से इस विषय में उसके विचार का उल्लेख किया है।

कतिपय विद्वानों का कहना है, कि इसप्रकार पञ्चशिख के मत का उल्लेख यह प्रकट करता है, कि यह सूत्ररचना कपिल की नहीं है। कपिल तो पहले ही शास्त्र का निर्माण कर चुके होंगे। पञ्चशिख तो उनके शिष्य का शिष्य था। यद्यपि इस विषय का विस्तृत विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में कर दिया गया है, फिर भी प्रसंगवश यहां इतना लिख देना आवश्यक है, कि ऐतिहासिक संकेतों से यह स्पष्ट होता है, कि कपिल के जीवनकाल में ही पञ्चशिख वैदुष्य प्राप्त करचुके थे, तथा कपिल ने अपने शास्त्र का निर्माण पहले अवश्य कर लिया था, पर पञ्चशिख के विचार का उसमें उसके प्रति वात्सल्यपूर्ण आदरभाव से समावेश कर दिया। इसप्रकार की प्रवृत्ति शिष्यों को अपने कार्य में अतिशय प्रोत्साहन प्रदान करने की होती है। इसी आधार पर पञ्चशिख ने कापिलशास्त्र के प्रसार में अध्यापन व व्याख्यान आदि के द्वारा अपना समस्त लम्बा जीवन लगा

दिया, ऐसे ऐतिहासिक तथ्य सांख्यग्रन्थों तथा अन्य भारतीय प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं ॥३१॥

व्याप्ति के विषय में पञ्चशिख का विचार है—

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥३२॥

[आधेयशक्तियोगः] आधेय शक्ति व्याप्ति है [इति] ऐसा [पञ्चशिखः] पञ्चशिख आचार्य का कथन है।

पहले विचार का सार यह है—जैसे धूम अग्नि का अनुमापक है, इस स्थल में धूम अग्नि का कार्य है। कोई कार्य कारण के विना अस्तित्व में नहीं आ-सकता। इसप्रकार धूम का अग्नि के साथ साहचर्य अभिव्यक्त होता है। पर यह साहचर्य धूम की अपनी सहज कार्यरूप शक्ति से अन्य कुछ नहीं, इस साहचर्य में कार्यता की छाया दीखती है। क्योंकि यहां धूम कार्य है, इसलिए वह (साहचर्य) उसी का रूप है।

इस विषय में पञ्चशिख का यह कहना है, कि कार्यता आधेयशक्ति है। व्युत्पादन द्वारा हम इस शक्ति का आधान करते हैं। जबतक किसी को यह बोध न कराया जाए, तबतक उसमें (धूम में) अग्नि की अनुमापकता नहीं आपाती। अन्यथा अव्युत्पन्न व्यक्ति भी अनुमान करले, पर ऐसा नहीं होता। इसलिए यह मानना चाहिए, कि धूम में वह शक्ति सहज नहीं, प्रत्युत आधेय है। उद्बोधन द्वारा उपस्थापित कराई जाती है। उसे 'संकेत' भी कह सकते हैं ॥३२॥

अगले तीन सूत्रों से इसी का उपपादन किया गया है। पहला सूत्र है—

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

[स्वरूपशक्तिः] स्वरूपात्मक शक्ति ही [नियमः] व्याप्ति [न] नहीं है, [पुनर्वादप्रसक्तेः] पुनरुक्ति के प्रसंग से।

सूत्र में 'नियम' पद का अर्थ 'व्याप्ति' है। स्वरूपशक्ति ही व्याप्ति है, अर्थात् वह्नि में धूम की व्याप्ति धूम का स्वरूप ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे पुनर्वाद अर्थात् पुनरुक्ति की प्रसक्ति होजाएगी। व्याप्ति को धूम का स्वरूप मानने पर दोनों का एक ही अर्थ होगा। तब 'अग्नि में धूम की व्याप्ति है' इस कथन में 'धूम की व्याप्ति' यह पुनरुक्त होगा, क्योंकि जो धूम है, वही तो व्याप्ति है। फिर इससे फल भी क्या सिद्ध होगा, दोनों के एक होने से 'धूम का धूम है' 'व्याप्ति की व्याप्ति है' अथवा 'धूम की व्याप्ति है' यह सब एक ही बात है, इससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। यह केवल अनर्थक प्रलाप-सा लगता है ॥३३॥

अगले सूत्र से पुनरुक्ति का ही विवरण करता है—

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥३४॥

[विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः] विशेषण रूप में अनर्थक होने के प्रसंग से।

जब धूम ही व्याप्ति का स्वरूप है, तब उसके साथ विशेषण रूप में इसका कथन करना अनर्थक होगा। कहा जाता है—धूमो वह्निव्याप्यः। यहां धूम को व्याप्य अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट कहा गया है। यदि व्याप्ति धूम का ही रूप है, तो व्याप्ति को धूम का विशेषण कहना अनर्थक होगा ॥३४॥

तृतीय सूत्र से अन्य दोष उपस्थित करता है—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥३५॥

[च] और [पल्लवादिषु] पत्ते आदि में [अनुपपत्तेः] अयुक्त होने से।

पल्लव-पत्ते से, दूरस्थित पुरुष भी वहां विद्यमान वृक्ष का अनुमान कर लेता है। हम कहीं दूर खड़े हैं, हमें ओट से कुछ थोड़े पत्ते टहनी के साथ दिखाई देरहे हैं। उनके द्वारा हम वहां विद्यमान वृक्ष का अनुमान कर लेते हैं। हमारा वह ज्ञान यथार्थ होता है। यदि पल्लव में वृक्षानुमापक शक्ति सहज है, तो पत्तों के टूट-कर अलग चले जाने पर भी उन पत्तों से वहां विद्यमान वृक्षका बोध होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। यदि पत्ते में, वर्तमान वृक्ष का अनुमान कराने वाली शक्ति को आधेय माना जाता है, तो दोष न होगा; क्योंकि पत्तों के वृक्ष से अलग होजाने पर 'आधेय' शक्ति नष्ट होजाती है। तब वहां अनुमान होजाने की आपत्ति नहीं आती। इसप्रकार पल्लव आदि में अनुपपन्न होने से व्याप्ति को हेतु की निजशक्ति नहीं माना जाना चाहिए। सूत्र में 'च' पद विरोधी हेतुओं की समाप्ति का द्योतक है। अनिरुद्ध-पाठ के अनुसार सूत्र में 'च' पद नहीं है ॥३५॥

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए सूत्रकार इन दोनों विचारों में सामञ्जस्य उपस्थित करता है—

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥३६॥

[आधेयशक्तिसिद्धौ] आधेयशक्ति का निश्चय होजाने पर [समानन्या-यात्) यथार्थ अनुमान प्रयोग से [निजशक्तियोगः] सहजशक्ति ही व्याप्ति है, (ऐसा हम जान लेते हैं)।

प्रत्येक स्थल में अनुमान के लिए हेतु की व्याप्ति और पक्ष आदि में उसके अस्तित्व अथवा सम्बन्ध का व्युत्पादन आवश्यक है। जबतक किसी को हेतु का पक्ष के साथ व्याप्यव्यापकभाव गृहीत नहीं होता, तबतक अनुमान का होना संभव नहीं। धूम अग्नि का व्याप्य है, अथवा कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्व अनित्यत्व का व्याप्य है, जब यह जान लिया जाता है, तभी धूम से अग्नि की और कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्व से अनित्यत्व की अनुमिति होती है। हेतु में व्याप्ति को जान लेना ही 'आधेयशक्ति' अथवा 'संकेत' कहा जाता है, इसकी सिद्धि अर्थात् निश्चय हो-जाने पर हम इस बात को स्पष्टरूप में समझ लेते हैं, कि व्याप्ति वस्तुतः हेतु की निज अर्थात् सहजशक्ति ही है। हेतु में अनुमापकता हमारे जानलेनेमात्र से आ-

जाती हो, ऐसी बात नहीं है, वह तो उसमें स्वतः विद्यमान है। उसका जान लेना व्यवहार में उपयोगी होता है। उसके द्वारा हम अनुमान का प्रयोग करते हैं। 'न्याय' पद का अर्थ 'अनुमान का प्रयोग' है। आधेयशक्ति अर्थात् संकेत का निश्चय होजाने पर समान-यथार्थरूप में अनुमान का प्रयोग होने से यह स्पष्ट होजाता है, कि निजशक्ति ही योग-सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति है। अभिप्राय यह है, कि व्याप्ति-विषयक ज्ञान अनुमान के प्रयोग में उपयोगी है, इसलिए वह आवश्यक है, पर व्याप्ति का स्वरूप हेतु का सहजधर्म है। ऐसा समझलेने पर उक्त विचारों में परस्पर कोई असामञ्जस्य नहीं रहता।

इसके विपरीत यदि भ्रान्तिवश कहीं अहेतु में व्युत्पादनद्वारा अनुमापकता का आधान कर दिया जाए, तो आधेयशक्ति वहां रहने पर भी अनुमिति यथार्थ न होगी। जैसे कोई कहे—जो सींगवाली है वह गाय है, शृंगित्व (सींगवाला होना) में आधेयशक्ति तो है, पर गाय का अनुमान कराने के लिए उसमें सहजशक्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि केवल आधेयशक्ति को व्याप्ति मानने पर सर्वत्र भ्रान्ति-स्थलों में अहेतु पर हेतुता की प्रसक्ति होगी, अहेतु को भी हेतु माना जाने लगेगा। इन सब भावनाओं को प्रकट करने के लिए आचार्य ने सूत्र (३१) में 'उद्भव' पद का सन्निवेश किया है। हेतु की साहचर्य अथवा अनुमापकतारूप निजशक्ति का उद्भव (प्रकट होना, ज्ञात होना) व्युत्पादन द्वारा ही होता है, इसलिए पञ्चशिख के विचार की भावना इसी में अन्तर्हित है ॥३६॥

प्रधान आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए उपयोगी अनुमान प्रमाण के आवश्यक अंग व्याप्ति का निरूपण करके प्रसंगवश शब्दप्रमाण की स्पष्टता व दृढ़ता के लिए सूत्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का उपपादन करता है—

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥३७॥

[शब्दार्थयोः] शब्द और अर्थ का परस्पर [वाच्यवाचकभावः] वाच्य-वाचकभाव [सम्बन्धः] सम्बन्ध होता है।

अर्थ का बोधन कराने के लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है। शब्द बोधन कराता है, या अर्थ को बतलाता है, और अर्थ बोधित होता है, या बतलाया जाता है। जैसे गौ या घट शब्द से हम एक विशेष पशु और जलाहरणादि के साधन घड़ा अर्थ को समझते और कहते हैं। इसप्रकार गौ या घट शब्द उस अर्थ का वाचक है, अर्थात् शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। अर्थ और शब्द का यह वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध माना गया है। अन्य तादात्म्य आदि सम्बन्ध इनका संभव नहीं। यदि तादात्म्य सम्बन्ध हो, तो 'मोदक' कहने पर लड्डू से मुंह भर-जाना चाहिए। 'असि' कहने पर तलवार से मुंह कट जाना चाहिए, 'अग्नि' पद का उच्चारण करने पर मुंह दग्ध होजाना चाहिए। पर ऐसा कदापि नहीं होता।

इससे परिणाम निकलता है, कि अर्थ शब्द का आत्मा या स्वरूप नहीं है, अतः उनका तादात्म्य संबन्धसंभव नहीं।

प्रत्येक शब्द में मुख्यरूप से किसी एक और कभी अनेक अर्थ को बोधन कराने की शक्ति निहित रहती है, उसीका नाम वाचकता शक्ति है, वही अभिधा है। वह शक्ति सहज है, पर उसका जान लेना ही व्यवहार का साधक होता है। उसे जाने बिना हम शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकते। इसीका नाम 'संकेत' है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोध कराता है, यह जान लेना ही—उस शब्द का उस अर्थ में 'संकेत' कहा जाता है। इसप्रकार शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध स्पष्ट होता है ॥३७॥

यह शक्तिग्रह अथवा संकेत किन निमित्तों से होपाता है, सूत्रकार ने बताया—

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥३८॥

[सम्बन्धसिद्धिः] सम्बन्ध का निश्चय [त्रिभिः] तीन (साधनों) द्वारा होता है।

शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का निश्चय हमें तीन साधनों के द्वारा होता है। ऐसे शक्तिग्रह के वे तीन साधन कौनसे हैं? व्याख्याकारों ने परम्परा द्वारा बतलाया—आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार और प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्य। जो व्यक्ति जिस वस्तु को यथार्थरूप में जानता है, वह उस विषय में 'आप्त' कहा जाता है। उसके उपदेश से हम अर्थ को जान लेते हैं। आप्त ने कहा —'यह घट है'। हम 'घट' शब्द से उस विशेष अर्थ को जानने लगते हैं। दूसरा शक्तिग्रह का साधन 'वृद्धव्यवहार' है। एक अनुभवी वृद्ध ने दूसरे से कहा—गाय ले आओ। वह गाय ले आता है। समीप बैठा हुआ बालक उस शब्द को सुनता है, और उसके अनन्तर दूसरे व्यक्ति के द्वारा लाए जाने वाले पशु को भी देखता है। वह जान लेता है, कि 'गाय' इस पशु का वाचक है, या इसका नाम है। जब वृद्ध 'शुक्ला गौ ले आओ' अथवा 'कृष्णा गौ ले आओ' कहता है, और दूसरा पुरुष उसके अनुसार पशु को ले आता है, तो अव्युत्पन्न बालक उससे 'शुक्ल' और 'कृष्ण' शब्दों के अर्थ को जान लेता है, और उसके अनन्तर स्वयं वैसा ही व्यवहार करने लगता है। तीसरा साधन—'प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्य' अथवा 'प्रसिद्धपदसान्निध्य' है। 'प्रसिद्ध' पद का अर्थ है—अपने द्वारा प्रथम जाना हुआ अथवा निश्चय किया हुआ। उसके सम्पर्क से हम उसके सहयोगी दूसरे शब्द के अर्थ को समझ लेते हैं। किसीने कहा—वसन्त में आम के वृक्ष पर 'पिक' बोल रहा है। सुनने वाले ने यह जाना हुआ है, कि ऋतु वसन्त में आम का बौर फूलने पर कोयल आकर्षक रूप में बोला करती है। वह उपर्युक्त वाक्य में 'पिक' शब्द का अर्थ 'कोयल' समझ

लेता है।

व्याख्याकारों ने शक्तिग्रह के अन्य साधनों का भी वर्णन किया है। इनका संग्राहक एक पद्य परम्परागत प्रसिद्ध है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

इसमें व्याकरण, उपमान (सादृश्य), कोश, आप्तवाक्य, वृद्धव्यवहार, वाक्यशेष, विवरण (व्याख्या), प्रसिद्धपदसान्निध्य साधनों का उल्लेख है। पर यह सब उपर्युक्त तीन मुख्य साधनों का ही विस्तार है। तीन के अतिरिक्त शेष पांच का इन्हीं में समावेश होजाता है ॥३८॥

विधिवाक्य, सिद्धार्थवाक्य दोनों, अर्थ के बोधक हैं, सूत्रकार ने कहा—

न कार्ये नियम उभयथादर्शनात् ॥३९॥

[कार्ये] क्रिया-विधिवाक्य में उक्त शब्दार्थसम्बन्ध है अन्यत्र नहीं, ऐसा [नियमः] नियम [न] नहीं, [उभयथादर्शनात्] दोनों (विधिवाक्य, सिद्धार्थवाक्य) में देखे जाने से।

कार्य अर्थात् केवल क्रियाबोधक वाक्य में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध रहता हो, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि दोनों प्रकार के वाक्यों में समानरूप से अर्थबोधकता शक्ति देखी जाती है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधिवाक्यों में जैसे सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र होम का बोध होता है, इसीप्रकार 'हरिर्देवाधिदेवः' 'जगदधिपतिरीश्वरः' 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यों में विधि न होने पर भी अर्थबोध होता है। अर्थबोध के लिए शक्तिग्रह आवश्यक है, वह शब्द चाहे विधिवाक्य में प्रयुक्त हो, अथवा सिद्धवाक्य में ॥३९॥

लोक में सिद्धपद में शक्तिग्रह देखा जाता है, पर वेद का अर्थ अतीन्द्रिय है। वहां विधि में ही अर्थबोधकता संभव होसकती है। सूत्रकार कहता है—

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥४०॥

[लोके] लोक में [व्युत्पन्नस्य] शब्दार्थसम्बन्ध जाने हुए को [वेदार्थप्रतीतिः] वेद के अर्थ का ज्ञान होजाता है।

लोक में व्युत्पन्न पुरुष को वेदार्थ की प्रतीति होजाती है। जो व्यक्ति लोक में शब्दशक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे वेदार्थ के ज्ञान में भी सुविधा से प्रवृत्त होसकते हैं। ऐसा नहीं है, कि लोक में शब्दशक्ति भिन्न हो, और वेद में भिन्न। 'त एव लौकिकास्त एव वैदिकाः शब्दाः' ऐसी कहावत है। लोक से वेद में जो विशेषता हैं, आगे उनको जानने का यत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह कि शब्दशक्ति का प्रकार उभयत्र एक ही है ॥४०॥

वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने के आधार पर जिज्ञासु शंका करता है—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् ॥४१॥

[वेदस्य] वेद के [अपौरुषेयत्वात्] अपौरुषेय होने से [तदर्थस्य अपि] और उसके (वेद के) अर्थ के भी [अतीन्द्रियत्वात्] अतीन्द्रिय होने से [त्रिभिः] तीन के द्वारा (शब्दार्थसंबन्ध का ग्रहण) [न] नहीं।

वेद के अपौरुषेय होने के कारण तथा वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण उक्त तीन साधनों से वेद में शक्तिग्रह संभव नहीं है। जब शक्तिग्रह न होगा, तब वेदार्थ का ज्ञान कैसे होसकता है। शक्तिग्रह के तीन साधन—आप्तोपदेश, वृद्ध-व्यवहार और प्रसिद्धपदसान्निध्य बताए गए हैं। वेद के अपौरुषेय होने से उसमें आप्तोपदिष्टता संभव नहीं होसकती। वेदप्रतिपाद्य अर्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण वृद्धव्यवहार आदि की वहां संभावना नहीं। ऐसी स्थिति में वेदशब्द में शक्तिग्रह न होनेसे वेदार्थ का ज्ञान असंभव है।

अनिरुद्ध और महादेव ने इस सूत्र का अर्थ अन्यथा किया है। कहता है—लोक के समान वेद में शक्तिग्रह तभी संभव होसकता है, जब वेद को पौरुषेय माना जाए, पर वेद के अपौरुषेय होने से लोक के समान वेद में शक्तिग्रह मानना युक्त नहीं। अपौरुषेयत्व तीन हेतुओं से स्पष्ट होता है—ईश्वर का निराकरण, अन्य किसी कर्त्ता या वक्ता का संभव न होना, पुरुष का भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि से युक्त होना। ईश्वरनिराकरण का तात्पर्य यही समझना चाहिए, कि वह अशरीरी होने के कारण वेद का निर्माता या वक्ता संभव नहीं होसकता।

यदि कहा जाए, कि कोई विशिष्ट जीव ही वेद का वक्ता मान लेना चाहिए, जो भ्रान्ति आदि से रहित हो, यह भी ठीक न होगा, क्योंकि वेदार्थ अतीन्द्रिय हैं। अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव अतीन्द्रिय अर्थों के प्रतिपादन में कैसे समर्थ होसकेगा? इसलिए लोक के समान वेद में शक्तिग्रह संभव नहीं, तब वेदार्थ का ज्ञान कैसे संभव होगा ॥४१॥

सूत्रकार शंका का समाधान करता है—

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

[न] शंका ठीक नहीं, [यज्ञादेः] यज्ञ आदि का [स्वरूपतः] स्वरूप से [धर्मत्वं] धर्म होना (माना जाता है) [वैशिष्ट्यात्] विशेष (स्वर्गादि) फलों का साधन होने से।

उक्त शंका ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप से यज्ञादि को वेदविहित माना जाता है। वेद का अर्थ यज्ञादि है, और यज्ञ विविध सामग्री आदि से युक्त क्रियानुष्ठान का नाम है। वह सब दधि घृत शाकल्य समित् आदि सामग्री और क्रियात्मक अनुष्ठान अतीन्द्रिय नहीं। ऐसा अनुष्ठान स्वर्ग आदि विशिष्ट फलों का साधन है। इसलिए यदि वेद का अर्थ यज्ञ याग आदि ही अभिप्रेत है, तब वह इन्द्रियग्राह्य ही है। वेदार्थ

को अतीन्द्रिय कहना असंगत है। पूर्वपक्ष सूत्र के उत्तर अर्द्धभाग का यह समाधान किया गया है। वेद का तात्पर्य यज्ञ याग में समझकर यह समाधान है। जब इन्द्रियग्राह्य अर्थ का वेद प्रतिपादन करता है, तब लोक के समान वेद में भी शक्तिग्रह संभव होगा।

अनिरुद्ध और महादेव ने इस सूत्र को भी पूर्वपक्ष का समझकर अर्थ किया है, कि यज्ञादि स्वरूप से धर्म नहीं होते, प्रत्युत वे किसी विशिष्टता के साथ धर्म का स्वरूप ग्रहण करते हैं। वह विशिष्टता देश, काल और पात्र की अपेक्षा से समझी जाती है। किसी विशिष्ट देश विशिष्ट काल में विशिष्ट पात्र के द्वारा अनुष्ठित यज्ञ याग धर्म का रूप ग्रहण करते हैं। अन्यथा अदेशकाल में—अनुचित देशकाल में महापातकियों के द्वारा अनुष्ठित यज्ञ भी धर्म माने जाने चाहिऐं। यज्ञ याग की इसप्रकार की विशिष्टता एक अतीन्द्रिय स्थिति ही है। इसलिए लोक के समान वेद में शक्तिग्रह संभव नहीं। इन व्याख्याकारों की दृष्टि से इकतालीसवें सूत्र के उत्तरार्द्ध में प्रतिपादित वेदार्थ की अतीन्द्रियता को सूत्रकार ने इस सूत्र से पुष्ट किया है। इन दोनों का समाधान तेतालीसवें सूत्र से किया गया है ॥४२॥

वेदार्थ की अतीन्द्रियता का समाधान करके वेद के अपौरुषेय होने से उसमें आप्तोपदेश के अभाव का समाधान करता है—

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥

[निजशक्तिः] वेद की स्वाभाविक शक्ति (शब्दार्थसम्बन्ध) [व्युत्पत्त्या] व्युत्पत्ति–प्रतिपादन–उपदेश द्वारा [व्यवच्छिद्यते] अलग-अलग जान लिया जाता है।

वेद के अपौरुषेय होने पर भी वेदशब्दों की जो निज–स्वाभाविक शक्ति अर्थात् शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह आदि ऋषियों की व्युत्पत्ति–अमुक शब्द का अमुक अर्थ है इस जानकारी–के द्वारा व्यवस्थापूर्वक उपदेश किया जाता है। अभिप्राय यह कि वेदशब्दों की अर्थबोधन शक्ति स्वाभाविक है। आदिसर्ग में आदि ऋषि अचिन्त्यशक्ति भगवान् की प्रेरणा और अपनी प्रतिभा से शब्दार्थसम्बन्ध का बोध होने पर, अर्थात् यह जान लेने पर कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, उसी रूप में व्यवस्था के साथ वे उसका उपदेश करते हैं। जिसप्रकार उन्हें शब्दोच्चारण की प्रेरणा प्राप्त होती है, उसीप्रकार शब्दार्थसम्बन्ध की भी। उसके अनुसार वे शब्दार्थ का उपदेश करते हैं। इतने अंश को लेकर वेदशब्दों में भी आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार और प्रसिद्धपदसान्निध्यरूप तीन अर्थबोधन साधनों की संभावना स्पष्ट होजाती है। अतः लोक के समान वेद में शक्तिग्रह संभव होता है। लोक-वेद शब्दों में इतना ही अन्तर है, कि लोक में शब्दार्थ का ऋषियों अथवा आभिधानिक आचार्यों द्वारा संकेत किया जाता है,

वेदशब्दों में यह स्वाभाविक है, जो ऋषियों द्वारा जाना जाता है। आगे उपदेश में कोई अन्तर नहीं।

अनेकानेक शब्द तथा धातु लोक में वेद से लिए गए हैं। कोई तदवस्थ रह जाते हैं, और किन्हीं में परिवर्त्तन होजाते हैं। परन्तु लोक और वेद में शब्दों के प्रयोग की समानता में कोई अन्तर नहीं आता। 'य एव वैदिकास्त एव लौकिकाः' इत्यादि कथन ऐसे ही आधारों पर अवलम्बित हैं। शब्द का प्रयोग-विषय अति महान है। इस विषय के कोई निर्णय अनायास नहीं किए जासकते। अतिप्राचीन-काल से यह विषय विद्वानों के मतभेद का क्षेत्र रहा है ॥४३॥

यज्ञादि क्रियात्मक होने से अतीन्द्रिय नहीं, उनमें शक्तिग्रह संभव है, परन्तु जो वेदार्थ अतीन्द्रिय है—देवता, यज्ञ के फल आदि, उनके वाचक वैदिक पदों में शक्तिग्रह कैसे संभव होगा? सूत्रकार कहता है—

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥४४॥

[योग्यायोग्येषु] इन्द्रियग्राह्यों की तरह अतीन्द्रियों में भी [प्रतीतिजनकत्वात्] ज्ञान का जनक होने से [तत्सिद्धिः] शक्तिग्रह की सिद्धि होती है।

योग्य—प्रत्यक्ष के योग्य इन्द्रियग्राह्य पदार्थ, अयोग्य—प्रत्यक्ष के अयोग्य अतीन्द्रिय पदार्थ। यहां योग्य पद उदाहरण दिखाने के लिए है। अभिप्राय यह हुआ, कि जैसे योग्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य पदार्थों में आप्तोपदेश आदि के द्वारा शक्तिग्रह होता है, इसीप्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों में भी प्रतीति का जनक होने से व्युत्पत्ति अथवा शक्तिग्रह की सिद्धि होती है। आप्त जब यह उपदेश करता है, कि अमुक पद इसप्रकार के अतीन्द्रिय अर्थ का बोधक है, तब जिज्ञासु बोद्धा उस पद से उसीप्रकार के अर्थ को समझने लगता है। इसप्रकार पद, अतीन्द्रिय अर्थ को बोधन कराने में समर्थ होता है, यही शक्तिग्रह का स्वरूप है। फलतः इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के समान अतीन्द्रिय अर्थों का बोध कराने के कारण वेद के पदों में शक्तिग्रह का निश्चय होता है। सर्ग के आदि में वेद का उपदेश आदि ऋषियों के मस्तिष्क में परमेश्वर द्वारा प्रतिभात किया जाता है। वह उपदेष्टा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र है, वह परम आप्त है। उसके ज्ञान और अर्थबोधन में सन्देह का अवकाश नहीं। ऋषियों के द्वारा वह परम्परा आगे प्रचलित रहती है ॥४४॥

शब्दार्थसम्बन्ध वेद में स्वाभाविक है, यह निश्चय करके—शब्दसमूह वेद है—इस आधार पर शब्दात्मक अर्थात् ध्वनिरूप वेद के अनित्यत्व का प्रतिपादन करता है—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥

[वेदानां] ध्वनिरूप वेदों का [नित्यत्वं] नित्य होना [न] सम्भव नहीं,

[कार्यत्वश्रुतेः] कार्य होना सुने जाने से।

शब्दराशि वेद नित्य नहीं हैं, क्योंकि स्वयं वेद में उनको कार्य कहा गया है। यजुर्वेद का मन्त्र है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥३१।७॥
स तपोऽतप्यत तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त ॥
[शत० ब्रा० ११।५।८।३]

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ बृह० २।४।१० ॥

प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी इस बात को देखा जाता है, कि ककार आदि वर्णों का विशेष प्रयत्न के अनन्तर उच्चारण होता है, और वे ध्वनि पुनः विलुप्त हो-जाती हैं। इससे शब्द का अनित्यत्व स्पष्ट होता है। वेद भी शब्दराशि है, इस-लिए वह शब्दरूप में अनित्य है। वेद को नित्य बताने वाले प्रसंग जहां कहीं भी आते हैं, उनका उस शब्दराशि की आनुपूर्वी की नित्यता में तात्पर्य रहता है। उस आनुपूर्वी के साथ ही वह शब्दराशि वेद है, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त ज्ञान-रूप वेद तो निर्बाधरूप से नित्य है ॥४५॥

अनित्य होने पर अन्य ग्रन्थों के समान वेद को पुरुष-प्रणीत क्यों न माना जाए? इस विषय में सूत्रकार कहता है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

[पौरुषेयत्वं] शब्दराशि वेद भी पौरुषेय [न] नहीं है, [तत्कर्त्तुः] उसकी रचना करने वाले [पुरुषस्य] पुरुष के [अभावात्] न होने से।

शब्दराशि वेद अनित्य होने पर भी पौरुषेय—अस्मदादिसदृश पुरुषप्रणीत नहीं है। क्योंकि उसके कर्त्ता—रचयिता पुरुष की संभावना नहीं होसकती। कारण यह है, कि जीव पुरुष अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने से सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओंके स्थान वेद की रचना में असमर्थ रहता है। तथा भ्रम,प्रमाद आदि से रहित सर्वज्ञ ईश्वर कभी शरीररूप बन्धन में नहीं आता, जो शब्दरूप वेद का उच्चारण कर सके। आदि ऋषियों के निर्दोष, पवित्र मस्तिष्कों में वह केवल तदनुकूल प्रेरणा करता है, जिससे प्रेरित होकर सर्गादि काल में वही आनुपूर्वी ऋषियों के मुख से फूट पड़ती है। उस प्रेरणा में भी वेदराशि की आनुपूर्वी में कोई विपर्यास संभव नहीं होसकता। इसलिए इस अनादि भगवद्ज्ञाननिष्ठ शब्दराशि में किसी पुरुष को रचना-स्वातन्त्र्य न होने से वेद का अपौरुषेयत्व परिनिष्ठित होता है ॥४६॥

अगले सूत्रों में इसी अर्थ को स्पष्ट किया जाता है—

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥४७॥

[मुक्तामुक्तयोः] मुक्त और अमुक्त के [अयोग्यत्वात्] योग्य न होने से वे [न] वेद के कर्त्ता संभव नहीं।

यदि वेद को पुरुष की रचना माना जाए, तो वह पुरुष ईश्वररूप होसकता है, या जीवरूप। सूत्र में 'मुक्त' पद नित्यमुक्त ईश्वर और मुक्तजीव दोनों का बोधक है। शब्दराशि वेद के प्रथमोच्चारणरूप निर्माण में शरीरी न होने के कारण ईश्वर योग्य–समर्थ नहीं रहता, और मुक्तजीव भी अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से देहादिरहित होने से तथा उसके मुक्त होने से पूर्व भी वेद के विद्यमान रहने से वेद की रचना में अयोग्य है। अमुक्त अर्थात् बद्ध जीव भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि न्यूनताओं से आयुक्त रहने के कारण वेद की रचना में सर्वथा अयोग्य है ॥४७॥

ऐसी अवस्था में अपौरुषेय होने से शब्दराशि वेद को नित्य ही मानना होगा। सूत्रकार कहता है—

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत् ॥४८॥

[अपौरुषेयत्वात्] अपौरुषेय होने से वेदों का [नित्यत्वं] नित्य होना [न] नहीं [अङ्कुरादिवत्] अंकुर आदि के समान।

अपौरुषेय होने से वेद को नित्य नहीं माना जासकता। जिसप्रकार किसी पुरुष के द्वारा रचना न किया हुआ अंकुर नित्य नहीं होता, इसीप्रकार अपौरुषेय वेद भी नित्य नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए, कि ध्वनिरूप शब्दराशि वेद को यहां अनित्य प्रतिपादन किया है। आदि ऋषियों के मुख से जो शब्दराशि उच्चरित होती हैं, वह ध्वनिरूप में अनित्य है, पर उसके अपौरुषेयत्व की स्थिति इसी रूप में है, कि वह ऋषि की अपनी इच्छा से नहीं होती, प्रत्युत अन्य ईश्वर की प्रेरणा से होती है, जो प्रेरयिता है, वह उच्चारण नहीं कर सकता, इसी रूप में उसका अपौरुषेयत्व सुरक्षित रहता है, और शब्द के अनित्यत्व की बाधा नहीं होती। यह कहा जाचुका है, कि शब्दरूप वेद की नित्यता आनुपूर्वी पर आधारित है, ध्वनि पर नहीं। सूत्र का अभिप्राय है, कि अपौरुषेयत्व नित्यत्व का व्यापक नहीं है, अंकुर में व्यभिचारी है। अपौरुषेय भी अंकुर नित्य नहीं होता ॥४८॥

यदि अंकुर आदि में घटादि के समान पुरुषकर्त्तृत्व का अनुमान कर लिया जाए, तो—

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥४६॥

[तेषां] उन (अंकुर आदि) का [अपि] भी [तद्योगे] पौरुषेयत्व के साथ सम्बन्ध होने पर [दृष्टबाधादिप्रसक्तिः] दृष्ट की बाधा और अदृष्ट की कल्पना प्राप्त होगी।

अंकुर आदि का पौरुषेयत्व अर्थात् पुरुषकर्त्तृत्व से सम्बन्ध मानने पर दृष्ट की बाधा प्रसक्त होजाएगी। तृण लता वनस्पति आदि के अंकुर स्वतः

उत्पन्न देखे जाते हैं, वहां पर उनका कोई कर्त्ता दृष्टिगोचर नहीं होता, न होने पर भी वहां कोई पुरुष–कर्त्ता माना जाए, तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष की बाधा होगी, और सूत्र के 'आदि' पद से बोधित एक अदृष्ट अर्थ की कल्पना–जो अर्थ नहीं देखा जारहा, उसकी कल्पना–करनी पड़ेगी। अभिप्राय यह कि अंकुर आदि में पुरुष कर्त्ता मानने पर दृष्ट की बाधा और अदृष्ट की कल्पना दोनों दोष उपस्थित होते हैं। अतः अपौरुषेयत्व अंकुर आदि में नित्यत्व का व्यभिचारी है ॥४९॥

यद्यपि आदि सर्गकाल में भगवान् की प्रेरणा से आदि ऋषियों के द्वारा वेद का उच्चारण होता है, तथापि वेद पौरुषेय नहीं, क्योंकि पौरुषेय का वास्तविक स्वरूप यह है—

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम् ॥५०॥

[यस्मिन्] जिस [अदृष्टे] न देखी गई वस्तु में [अपि] भी [कृतबुद्धिः] की गई है ऐसा ज्ञान [उपजायते] होता है, [तत्] वह वस्तु [पौरुषेयम्] पौरुषेय कही जाती हैं।

न देखी गई भी जिस वस्तु में–यह की गई है, रची गई है, या बनाई गई है–ऐसी बुद्धि होती है, उसे पौरुषेय समझना चाहिए। संसार में हम अनेक वस्तुओं को कर्त्ता के द्वारा बनाई जाती देखते हैं, उनकी रचनाविशेष को देखकर हमें यह विश्वास हो जाता है, कि इसप्रकार की विशेष रचना किसी पुरुष द्वारा कीजाती है। अनन्तर अनेक वस्तुओं में–जहां हम कर्त्ता को नहीं देखते–रचनाविशेष के आधार पर उनके किए जाने का ज्ञान होता है, इसप्रकार का किया जाना किसी वस्तु के पौरुपेय होने का प्रयोजक होता है। हम कहते हैं, ईश्वर संसार की रचना करता है, स्पष्ट है, वह इसप्रकार रचना नहीं करता, जैसे कुम्हार घड़े को अथवा सुवर्णकार कुण्डल रुचक को घढ़ता है, प्रत्युत वह संसार का अधिष्ठाता प्रेरक व नियन्ता है, वह व्यवस्थापक है, संसार के संचालन व व्यवस्था में वही शक्ति प्रेरणा देरही है, संसार की रचना तो तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन द्वारा होती रहती है। तत्त्वों में प्रवृत्ति की प्रेरणा उसी शक्ति की है, इसप्रकार संसार की व्यवस्था ईश्वरकृत है, इस आधार पर संसार को हम ईश्वर की रचना कहते या मानते हैं। अंकुर आदि में भी ऐसा ही है, वह 'उत्पन्न' होता है, 'कृत' नहीं है। इसीप्रकार वेद, भगवान् की प्रेरणा से अभिव्यक्त होता है, वह 'कृत' नहीं है। यदि प्रेरणा के आधार पर उसे ईश्वरीय कहें, तो कह लीजिए। पर वह 'कृत' न होने से पौरुपेय नहीं है, जो 'कृत' है, वह पौरुषेय है। इसी अर्थ को हम इस रूप में कह सकते हैं, कि देहधारी के द्वारा जो रचना होती है, वह पौरुषेय कही जाती है। इसकारण जगत् की रचना अथवा अंकुर आदि की उत्पत्ति में जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रेरणा होने पर भी और इसी आधार पर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता

माने जाने पर भी इनका पौरुषेयत्वरूप में व्यवहार नहीं होता। फिर भी देहधारी की रचना में देखी जाने वाली व्यवस्था के आधार पर विश्व में दृष्टिगोचर विशेष व्यवस्था से उसके अदृष्ट नियन्ता का अनुमान होता है। पर उसके देहधारी न होने से उसकी रचना में पौरुषेय व्यवहार नहीं ॥५०॥

शब्द का प्रामाण्य इसी आधार पर निश्चय किया जाता है, कि वह आप्त का उपदेश है, वेद में ऐसा न होने से वेद का अप्रामाण्य प्राप्त होता है। सूत्रकार कहता है—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥५१॥

[निजशक्त्यभिव्यक्तेः] निज शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण वेद का [स्वतः प्रामाण्यम्] स्वतः प्रामाण्य है।

आप्तोपदेश होने से शब्द का प्रामाण्य परतः प्रामाण्य कहा जाता है। वेद में ऐसा प्रामाण्य न होकर स्वतःप्रामाण्य है। क्योंकि वेद में अपनी स्वाभाविक अर्थबोधन शक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति से अर्थात् उसके जान लेने पर वेद से यथार्थ बोध होजाता है। अन्यत्र शब्द से अर्थ का बोध होने में यह जानने की अपेक्षा रहती है, कि यह आप्त द्वारा कहा गया है, अथवा अनाप्त द्वारा। शब्द से अर्थ का ज्ञान होजाने पर उसका प्रामाण्य आप्तोपदेश पर निर्भर है। किसी शब्द से अर्थ का ज्ञान होजाने पर जब हम यह जान लेंगे कि उसका उपदेष्टा आप्त है, तभी हम उसको प्रमाणभूत मानेंगे, अन्यथा नहीं। परन्तु वेद शब्दराशि में ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद शब्दराशि परमात्मा की निजशक्ति से अभिव्यक्त है, उसके स्वतः—प्रामाण्य का यही मूल आधार है। फलतः यदि वेद के शब्द की अर्थबोधन शक्ति का हमें ज्ञान है, तो उससे हमें जिस अर्थ का बोध होगा, उसके प्रामाण्य के लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार वेद का स्वतः प्रामाण्य स्पष्ट होता है ॥५१॥

जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, यह श्रुति के आधार पर प्रमाणित है, १२वें सूत्र में कहा है। उसी प्रसंग से शब्दार्थ के सम्बन्ध तथा श्रुति के स्वतः—प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया, जिससे शब्दप्रमाण द्वारा प्रकृति के उपादान-कारण होने की पुष्टि होती है। इसप्रकार अनुमान और शब्द से इस अर्थ को प्रमाणित किया गया। अब प्रत्यक्ष के आधार पर यह कैसे प्रमाणित होता है, यह प्रतिपादन किया जाता है। इसप्रकार के विवेचन के लिए भ्रान्ति-प्रतीति स्थलों को आधार माना जाता है। इसको ख्यातिविचार भी कहते हैं। कभी वस्तु न होती हुई प्रतीत होजाती है। ऐसा क्यों होता है? हम उसके मूलकारण की खोज करते हैं, और उसीके आधार पर जगत् के मूल उपादान को समझ लेने का यत्न करते हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारों की उद्भावना की जासकती

है। जैसे हमने कहीं अन्धेरे झुटपुटे में टेढ़ी-मेढ़ी लकीर जैसी काली चीज देखी, हमने समझा–यह सांप है, पर वस्तुतः वह एक रस्सी का टुकड़ा था। अब विवेचन यहां इसप्रकार प्रारम्भ होता है, कि हमने उसे सांप कैसे समझ लिया? इसमें अनेक विकल्प हमारे सामने आते हैं। (१) न होता हुआ ही सांप हमें दीखा है, अर्थात् सांप का आधार सांप का न होना–अभाव या असत् है।(२) होता हुआ ही सांप दीखता है, तब उसका आधार सत् है। (३)अन्यत्र का सांप अन्यत्र दीख जाता है, इस अवस्था में आधार तो सत् है, पर उसकी प्रतीति अन्यथा होजाती है। (४)हम उसे सत् या असत् या उभयरूप में किसी एक निश्चित रूप से नहीं कह सकते, यह एक विलक्षण स्थिति है। (५) इस भ्रान्ति का आधार किसी अंश में सत् और किसी अंश में असत् है। उसे एक दृष्टि से सत् और एक से असत् निश्चित रूप में प्रतिपादित किया जासकता है। इनमें जो विकल्प अधिक युक्तियुक्त व प्रामाणिक है, उसीके अनुसार मूल उपादान का स्वीकार होना चाहिए। इस विवेचन की भावना से सूत्रकार इस प्रसंग को प्रारम्भ करता है—

नासतः ख्यानं नृश्रृङ्गवत् ॥५२॥

[असतः] असत् का [ख्यानं] ज्ञान–प्रतीति [न] नहीं, [नृश्रृङ्गवत्] नर के सींग के समान।

एक विचार यह होसकता है, कि भ्रान्तिस्थल में असत् की प्रतीति होती है, जहां हमको रज्जु में सर्प का ज्ञान होगया है, वहां सर्प का अस्तित्व नहीं है, इसलिए यह ज्ञान असत् का माना जाना चाहिए। सूत्रकार इसका प्रतिषेध करता है–असत् का ख्यान–ज्ञान अथवा प्रतीति संभव नहीं है। जो वस्तु सर्वथा असत् है, यदि उसकी प्रतीति होसके, तो मनुष्य के सिर पर सींग प्रतीत होने चाहिएं। पर ऐसा संभव नहीं। इसलिए यह कहना कि भ्रान्तिस्थल में सर्वथा असत् वस्तु का भान होजाता है, असंगत है। इसी मान्यता के आधार पर जगत् के मूल उपादान को असत् कहना संगत न होगा। दृश्यमान त्रिगुणात्मक सद्रूप जगत् से हम उसके उसीप्रकार के मूलकारण का अनुमान कर सकते हैं ॥५२॥

यदि वह सर्पज्ञान असत् का संभव नहीं, तो सर्वथा सत् का मानना चाहिए। सूत्रकार कहता है—

न सतो बाधदर्शनात् ॥५३॥

[सतः] विद्यमान का [न] नहीं, [बाधदर्शनात्] बाध देखे जाने से।

पहले सूत्र से 'ख्यानं' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में तथा अगले सूत्र में है। यदि विद्यमान सर्प का वह ज्ञान है, तो कालान्तर में प्रकाश होने पर उसका बाध न होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रकाश में हम देखते हैं, कि वह रस्सी है, सांप नहीं है। पहले ज्ञात सर्प की बाधा होजाती है। इसलिए वहां सद्रूप सर्प

का ज्ञान होता है, ऐसा कहना संगत नहीं। यह बात प्रत्येक वस्तु पर लागू होती है, यदि प्रत्येक वस्तु सर्वथा सत् है, और उसके अनुसार उसका मूल उपादान भी, तो यह भी कैसे माना जाएगा, क्योंकि दृश्यमान घट पट आदि समस्त पदार्थों का एक समय बाध देखा जाता है, टूट-फूट जाने पर वह नहीं रहता। इस कारण यह कहना कि ज्ञान सर्वथा सत् वस्तु का होता है, युक्तियुक्त नहीं हैं। इसपर और विचार करना चाहिए ॥५३॥

ऐसी अवस्थामें सत् और असत् से विलक्षण उस वस्तुतत्त्व को कहना चाहिए, जिसका भ्रान्तिस्थल में ज्ञान किया जाता है। न सत् शब्द से उसका कथन होता है, न असत् से, इसलिए वह अनिर्वचनीय होगा। सूत्रकार कहता है—

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥५४॥

[अनिर्वचनीयस्य] अनिर्वचनीय का [न] नहीं, [तदभावात्] उसके न होने के कारण।

भ्रान्तिस्थलों में सत् और असत् से विलक्षण किसी अनिर्वचनीय वस्तु का भान होता है, ऐसा मानना भी संगत नहीं,क्योंकि इसप्रकार के वस्तुतत्त्व की संभावना नहीं की जासकती। जो न सत् हो, न असत् हो, ऐसे पदार्थ का संसार में सर्वथा अभाव है। इसलिए ऐसे तत्त्व की कल्पना के आधार पर उसीके अनुकूल उसके मूल उपादान का अनुमान नहीं किया जासकता ॥५४॥

तब यही मान लेना चाहिए, कि अन्य वस्तु में अन्य का ज्ञान होजाता है। इसको अन्यथाज्ञान अथवा अन्यथाख्याति कहा जाएगा, सूत्रकार कहता है—

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥५५॥

[अन्यथाख्यातिः] अन्यथा ज्ञान होता है ऐसा भी [न] नहीं, [स्ववचोव्याघातात्] अपने वचन का विरोध होने से।

जब हमको सामने की वस्तु में 'यह सांप है' ऐसा ज्ञान होता है, तब यदि हम यह भी जान लेते हैं, कि यह हमें अन्य वस्तु में अन्य का ज्ञान है, तो अपने ही वचन का विरोध होजाता है। अभिप्राय यह है, कि यदि उस समय—यह अन्य का अन्य में ज्ञान है—ऐसा जान लिया जाता है, तो—यह सांप है—ज्ञान हो नहीं सकता। पर उस समय—यह सांप है—ऐसा ही जाना जाता है। इसलिए इसे अन्य में अन्य का ज्ञान कहना अपने वचन का व्याघात है। यदि कालान्तर में यह जाना जाता है, कि यह अन्य में अन्य का ज्ञान है, तो उस समय—यह सांप है—ज्ञान रहता ही नहीं। इसलिए जब वह ज्ञान रहता है, तब उसे अन्यथाज्ञान नहीं कहा जासकता। फलतः भ्रान्तिस्थल का यह विवेचन भी मान्य नहीं। इसमें स्वारस्य यह है, कि ज्ञान सदा ज्ञेय के अनुरूप होता है, अन्य में अन्य का ज्ञान मानें, तो वह ज्ञेय के अनुरूप कैसे रहेगा ?॥५५॥

भ्रान्तिस्थलों में विवेचन का पूर्वोक्त कोई प्रकार युक्तियुक्त नहीं है,तो क्या यह विवेचन अशक्य है? नहीं। सूत्रकार इस विषय का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करता है—

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥५६॥

[सदसत्ख्यातिः] सदसत् ख्याति माननी चाहिए [बाधाबाधात्] बाध और अबाध से।

भ्रान्तिस्थलों में प्रतीति के विवेचन के लिए सांख्य सदसत्ख्याति स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जब 'यह सांप है' ऐसा ज्ञान होता है, उस समय 'यह' पद पुरोवर्ती वस्तु का निर्देश करता है। पुरोवर्त्ती वस्तु के सामान्यधर्म जंगल में स्थित सर्प का स्मरण करा देते हैं, उस स्मरण अथवा सर्पविषयक पहले ज्ञान के उभर आने में भय, शंका आदि निमित्त होते हैं। पुरोवर्त्ती वस्तु और जंगल में स्थित सर्प का कोई परस्पर संसर्ग नहीं है, पर भय, शंका आदि निमित्त उस असंसर्ग का ग्रहण नहीं होने देते। तब पुरोवर्त्ती वस्तु के साथ जंगलस्थित सर्प का संसर्ग समझ लिया जाता है। वस्तुस्थिति यही है, कि हम उनके असंसर्ग को ग्रहण नहीं कर पाते, और वे एक दीखने लगते हैं, पर जैसे ही हमें उनके असंसर्ग का ग्रहण होता है, तब सर्प की स्वरूप से बाधा नहीं होती, वह तो जंगल में जैसा पहले स्थित था, अब भी है। हमारा उस विषय का ज्ञान भी वैसा ही है, केवल पुरोवर्त्ती के साथ संसर्ग की बाधा होजाती है। इसप्रकार संसर्ग से सर्प बाधित होता है, स्वरूप से नहीं। फलतः बाध और अबाध दोनों के उपस्थित रहने से सदसत्ख्याति मानना युक्तियुक्त है।

इस आधार पर दृश्यादृश्य जगत् के मूलकारण को जानने का यत्न किया जाता है। कार्यरूप जगत् के पदार्थ कालान्तर में बाधित होते देखे जाते है, परन्तु उनका कारणरूप में अस्तित्व बना रहता है। यदि कारण का बाध होजाए, तो कार्य का अस्तित्व–आधार न रहने से–संभव ही न होगा। अतः प्रत्येक पदार्थ कारणरूप से सदा बना रहता है, वह अबाधित और सत् है। कार्य के विविध रूप सामने आते और छिपते रहते हैं; इस परिणाम व परिवर्त्तन में एक रूप जाता तथा दूसरा उभर आता है, उस आकार का तात्कालिक रूप में न रहना ही बाध है। उसी सुवर्ण के रुचक कुण्डल स्वस्तिक आदि विविध आभूषण एक दूसरे के बाद बनते रहते हैं। सुवर्ण वही रहता है, आकृति बदल जाती हैं। प्रत्येक आकृति कारण-रूप में सदा विद्यमान रहती है, निमित्त पाकर उभर आती है। इसीप्रकार जगत् में सुख-दुःख और मोह की अनुभूति इसके त्रिगुणात्मक उपादान का बोध कराती है। इस रूप में हम उस त्रैगुण्य का प्रत्यक्ष करते हैं। फलतः श्रुति, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों प्रमाणों से मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सिद्धि होती है।

महर्षि कपिल ने इन सूत्रों के द्वारा भ्रान्तिस्थलों का विवेचन अनेक संभावनीय विकल्पों की उद्भावना करके प्रकट किया है। पर अनन्तर काल में अनेक आचार्यों ने अपनी रुचि व तर्कानुगत प्रतिभा के अनुसार उन विकल्पों को अपने-अपने विचारों के रूप में मान्यता दी। इस आधार पर आज जब हम इस विषय को विचारते हैं, तो उन आचार्यों अथवा उनके द्वारा प्रवर्त्तित उन दार्शनिक संप्रदायों या वादों के नाम पर ही इन मान्यताओं को पाते हैं। इनके अनुसार दर्शनवादियों के अपने-अपने अखाड़े बन गए हैं, जहां बुद्धि का दंगल प्रखररूप में प्रचलित रहता है। इसको संक्षेप में दिखलाने के लिए किसी विद्वान् ने एक श्लोक में संग्रह कर दिया है—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्॥
विज्ञानशून्यमीमांसान्यायवेदान्तसम्मतम्।

मुख्यरूप से ये पांच विकल्प सन्मुख आते हैं—आत्मख्याति, असत्ख्याति अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनख्याति। इनमें पहले दो विकल्पों को बौद्धों ने विशेष मान्यता दी है। बौद्ध दार्शनिकों में चार अवान्तर विभेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। पहले दोनों बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, इसलिए ये दोनों सर्वास्तिवादी कहे जाते हैं। इनमें से वैभाषिक बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के पदार्थों की वास्तविक सत्ता मानकर बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है। दूसरा सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ को मुख्य मानकर उसीका अन्तर्निक्षेप बतलाता है, मुख्य बाह्य पदार्थ ही आन्तर रूप में भासता है, वह अनुभूति है, अतः बाह्य पदार्थ स्वतः अनुमेय रहजाता है। भ्रान्तिस्थलों के विवेचन में ये न्याय-वैशेषिक के समान अन्यथाख्यातिवादी हैं।

योगाचार केवल आन्तर विज्ञान को मानकर बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, अन्तर्विज्ञान का ही बहिर्निक्षेप होजाता है। इसी कारण बौद्धों के इस सम्प्रदाय को विज्ञानवादी कहा जाता है। भ्रान्तिस्थलों में यह सम्प्रदाय आत्मख्याति मानता है, क्योंकि आत्मस्थानीय आन्तर विज्ञान ही बाह्यरूप में भासता है, बाह्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, वह कल्पनामात्र है।

बौद्धों का माध्यमिक नामक संप्रदाय बाह्य और आन्तर किसीप्रकार के पदार्थों की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, यह सब केवल कल्पना है, सर्वथा तुच्छ। इसीलिए यह सम्प्रदाय शून्यवादी नाम से प्रसिद्ध है। ये किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता स्वीकार न करने से असत्ख्यातिवादी कहे जाते हैं।

भ्रान्तिस्थलों में मीमांसकों का विचार है, कि जहां सीप में चांदी अथवा रस्सी में सांप का ज्ञान होता है—'इदं रजतम्' या 'अयं सर्पः' वहां सब जगह दो

ज्ञान होते हैं। 'इदं' अंश का ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो पुरोवर्त्ती वस्तु में इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर होता है। अन्धेरा या झुटपुटा होने से वस्तु के विशेषधर्मों का ग्रहण नहीं होपाता, तथा सामान्यधर्म चमक अथवा वक्रता आदि का ग्रहण होजाता है, उसमें लोभ लालच अथवा भय शंका आदि का सहयोग पाकर दूकान में रक्खी चांदी और जंगल में बैठे सांप का स्मरण होआता है। इन दोनों ज्ञानों में स्वरूप से तथा विषय की दृष्टि से भी जो परस्पर असंसर्ग है, प्रमाण अथवा साधन की कमी के कारण उसका ग्रहण नहीं होपाता, उसके अग्रहण में लोभ लालच और भय शंका आदि भी निमित्त होजाते हैं। मुझे 'भिन्नविषयक दो ज्ञान होरहे हैं' ऐसा विवेकज्ञान नहीं होता, प्रत्युत उसका प्रतिद्वन्द्वी यह एक ज्ञान—यह चांदी है अथवा यह सांप है—होजाता है। यह दोनों के असंसर्ग का अग्रहरूप अविवेक, भ्रम मिथ्याज्ञान अथवा विपर्यय नाम से कहा जाता है। वस्तुतः वे ज्ञान और उनके विषय यथार्थ हैं। इसीलिए जब भ्रम का बाध होता है, और यह ज्ञान होता है, कि यह चांदी नहीं अथवा यह सांप नहीं, तब दूकान में रक्खे रजत की अथवा जंगल में बैठे सांप की स्वरूप से बाधा नहीं होती, प्रत्युत पुरोवर्त्ती में संसर्गमात्र की बाधा होती है। पर बाधा संसर्ग की भी कहां? संसर्ग तो पहले से ही नहीं है, बाधा कैसी? उस अवस्थित असंसर्ग का जो अभी तक ग्रहण नहीं होसका था, उसका ग्रहण होजाता है, और इसप्रकार असंसर्ग के अग्रहणरूप अविवेक की बाधा होजाती है, तथा असंसर्ग भासित होने लगता है।

इन भ्रान्तिस्थलों में उक्त प्रकार से जैसे वस्तु की बाधा नहीं होती, वैसे ज्ञान की भी बाधा नहीं होती। पुरोवर्त्ती वस्तु में 'यह चांदी है' अथवा 'यह सांप है' द्रष्टा को यह ज्ञान होता है। इसमें 'यह' अंश पुरोवर्त्ती वस्तु को विषय करता है, और अगला भाग दूकान में रक्खी चांदी तथा जंगल में बैठे सांप को विषय करता है। यह निश्चित है कि चांदी या सांप इस समय हमारे सन्मुख नहीं हैं, तब असंदिग्ध रूप में यह बात माननी होती है, कि उस समय द्रष्टा को विशेष निमित्तों से चांदी या सांप का स्मरण होआता है। पर उस ज्ञान में स्मृति का अंश भासित नहीं होता, मुषित या लुप्त रहता है, उसके निमित्त हैं—लोभ लालच या भय शंका आदि। जब प्रकाश आदि में द्रष्टा देखता है, कि यह चांदी नहीं सीप है अथवा सांप नहीं रस्सी है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि मैंने 'इसे चांदी समझ लिया था', अथवा 'सांप समझ लिया था', यहां 'समझ लिया था' यह वाक्यांश इस बात को स्पष्ट कर रहा है, कि उस समय द्रष्टा को उन वस्तुओं का 'स्मरण होआया था'। स्मरण अब भी है, पर अब इस स्मृतिरूप ज्ञान में 'स्मृत्यंश' लुप्त या मुषित नहीं है, जिन लोभ या भय आदि निमित्तों से वह मुषित था, अब वे निमित्त नहीं रहे, तब वह अंश भी उभर आया है। फलतः ज्ञान जैसा तब था अब भी है, उसकी बाधा नहीं

होती, केवल जो स्मृत्यंश पहले किन्हीं निमित्तों से दबा हुआ था, वह उन निमित्तों के अभाव में उभर आता है। वे निमित्त जैसे 'स्मृत्यंश' को दबाते हैं, ऐसे ही पुरोवर्त्ती वस्तु के 'ज्ञान' को भी। उनके न रहने पर वह 'ज्ञान' भी उभर आता है। तब 'यह सीप है' और 'यह रस्सी है' यह ज्ञान स्पष्ट होता है, एवं चांदी और सांप का स्मरणमात्र। यहां ज्ञान की दृष्टि से 'स्मृत्यंशमोष' की बाधा और वस्तु की दृष्टि से 'असंसर्ग के अग्रहण' की बाधा होती है, ज्ञान एवं वस्तु स्वरूपेण अबाधित रहते हैं।

इस विवेचन को जब हम ज्ञान के आधार पर अथवा दो ज्ञानों को मुख्य मानकर प्रस्तुत करते हैं, तब इसे 'अख्याति' कहा जाता है, और जब ज्ञानों के विषय को आधार मान लें, तो इसीका नाम 'सदसत्ख्याति' है। वस्तुतः यह विवेचन नाम दो होने पर भी एक स्वरूप रखता है। पहला मीमांसकों के नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा सांख्यों के। सूत्र की प्रारम्भिक व्याख्या में वर्णन कर दिया है, कि सदसत्ख्याति का स्वरूप क्या है ?

न्याय-वैशेषिक ने जिस रीति पर इसका विवेचन किया है, उसका नाम 'अन्यथाख्याति' है। पुरोवर्त्ती वस्तु के साथ चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर अन्धकार आदि के कारण उसके वक्रता आदि साधारण धर्मों का ग्रहण होता है, जो रज्जु और सर्प दोनों में हैं। भय आदि निमित्त से वह वस्तु अन्यथा समझ ली जाती है। तब रज्जु ज्ञान न होकर 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान होजाता है। पर वस्तु-स्थिति में सर्प तो वहां है नहीं, स्पष्ट है—पहले देखे सर्प को समानधर्म, भय शंका आदि का सहारा लेकर स्मरण करा देते हैं। ऐसी स्थिति में सदसत्ख्याति प्रबल होकर हमारे सामने आती है।

वेदान्त [शांकर] इस प्रसंग में अनिर्वचनख्याति स्वीकार करता है। उसका कहना है, जो वस्तु पुरोवर्त्ती है उसका ज्ञान नहीं हो रहा, जिसका ज्ञान है, वह वहां है नहीं, इसलिए न वह सत् है न असत्। विरुद्ध होने से उभयरूप भी नहीं। तब उसे अनिर्वचन शब्द से कहा जाता है। वेदान्त की मान्यता है, कि अज्ञान से सर्प वहां उत्पन्न होजाता है, उसकी कालान्तर में बाधा होजाती है, इसलिए उसे सर्वथा सत् नहीं कहा जासकता, वह सर्वथा असत् अथवा तुच्छ भी नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति होरही है। विरुद्ध होने से उभयरूप न होने पर अनिर्वचनस्थिति सिद्ध होती है। इसीरूप में संसार भी अज्ञान का कार्य है, अनिर्वचनीय है।

वेदान्त ने जिस रीति पर भ्रान्तिस्थलों का निरूपण किया है, उसमें एक बात ज्ञातव्य है, कि जिस व्यक्ति ने कभी सर्प को नहीं देखा, उसके विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं की, उसका अज्ञान वहां सर्प को उत्पन्न करेगा या नहीं ? देखा यह जाता है, कि ऐसे व्यक्ति को कभी ऐसा ज्ञान नहीं होता। यह ज्ञान

[रज्जु में सर्प का ज्ञान] उसी व्यक्ति को होपाता है, जिसने सांप को पहले देखा है, और उसके काट लेने के परिणामों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की है। इससे स्पष्ट है, कि भ्रान्तिस्थलों में भ्रान्ति के विषयभूत पदार्थों की उपस्थिति स्मरणमात्र में होती है। स्मृतिरूप होते हुए भी उनमें स्मृत्यंश मुषित रहता है, प्रकट नहीं होपाता। अध्यास का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य शंकर ने भी स्पष्ट लिखा है—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। अध्यास या भ्रान्तिस्थलों में स्मृतिरूपता को स्वीकार किया है ॥५६॥

[1] यहां तक समस्त प्रमाणों के आधार पर प्रकृति की उपादानकारणता को पुष्ट किया गया, और प्रसंगागत अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनन्तर पुरुषविषयक विशेष विचार प्रस्तुत किया जाता है। प्रथमाध्याय [सूत्र ११४] में पुरुषबहुत्व का प्रतिपादन है, उसी अर्थ की पुष्टि के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः ॥५७॥

[आत्मनः] आत्मा का [अद्वैतं] एक होना [न] संभव नहीं [लिङ्गात्] लक्षण से [तद्भेदप्रतीतेः] उनमें भेद का ज्ञान होने से।

आत्मा अर्थात् जीव चेतनतत्त्व अद्वैत–एक है, ऐसा कथन युक्त नहीं, क्योंकि लिंगात्–लक्षण से, तद्भेदप्रतीतेः–आत्माओं के परस्पर भेद का ज्ञान होता है, जरा मरण जन्म सुख-दुःख आदि की विलक्षणता से आत्माओं के नानात्व का निश्चय होता है। कोई मरता है कोई जन्मता है, कोई सुखी है कोई दुःखी है, इत्यादि अवस्था आत्मा के भेद को सिद्ध करती हैं। यद्यपि आत्मा स्वयं जन्मता-मरता नहीं, वह नित्य अपरिणामी है। किसी एक देह के साथ उसका आभिमानिक सम्बन्ध होना जन्म और वियोग होजाना मरण कहा जाता है। यदि आत्मा एक हो, तो उसका एकसाथ जन्म और मरण तथा उसी अवस्था में जरा एवं यौवन या बालरूप में अवस्थित रहना संभव नहीं है। इससे विभिन्न देहों में अलग-अलग आत्माओं की अवस्थिति सिद्ध होती है ॥५७॥

---

१. यहां ५६वें सूत्र के आगे चार सूत्रों को हमने कपिल की रचना नहीं समझा। ये सूत्र उत्प्रकरण हैं, पूर्वापर के साथ इनकी संगति नहीं बैठती। वे प्रक्षिप्त चार सूत्र ये हैं—प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः। न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः। पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य। सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम्। प्रक्षेप के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिए—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ २५७ से २६२ तक। वहां सूत्रों की संख्या वर्त्तमान प्रचलित क्रम के अनुसार दी गई है। इस व्याख्या में प्रक्षिप्त सूत्रों को निकाल दिया है। इनकी व्याख्या 'परिशिष्ट २' में देखें।

आत्मा का नानात्व अनुमान के आधार पर बताया। उपनिषदों में 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' कहा है, इससे चेतनतत्त्व का जड़जगत् के साथ अभेद प्रतिपादन भासित होता है। सूत्रकार उसे प्रत्यक्ष से बाधित कहता है—

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥५८॥

[अनात्मना] जड़तत्त्व के साथ [अपि] भी एकता [न] नहीं [प्रत्यक्ष-बाधात्] प्रत्यक्ष द्वारा बाध होने से।

पहले सूत्र से 'अद्वैतम्' की अनुवृत्ति आती है। अनात्मा अर्थात् जड़जगत् के साथ भी आत्मा का अद्वैत सम्भव नहीं है, क्योंकि इसकी प्रत्यक्ष से बाधा होजाती है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि घट पट आदि पदार्थ जड़ हैं चेतन नहीं हैं। चेतन और जड़तत्त्व का भेद स्पष्ट ही प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। उसप्रकार के उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य चेतनतत्त्व की उत्कृष्टता को प्रतिपादन करने में है, अभेद को नहीं। प्रत्यक्ष से बाधित अर्थ को उपादेयरूप में उपनिषद् कैसे प्रतिपादित करेगा ? फलतः जैसे प्रत्येक चेतन आत्मा अलग-अलग है, इसीप्रकार जड़-तत्त्व भी चेतनतत्त्व से अलग है। उन दोनों का एक अस्तित्व संभव नहीं ॥५८॥

क्या वे दोनों मिलितरूप में एक नहीं होसकते सूत्रकार कहता है—

नोभाभ्यां तेनैव ॥५९॥

[उभाभ्यां] दोनों साथ मिलकर [न] अद्वैत नहीं [तेनैव] उसी पूर्वोक्त हेतु के ही द्वारा।

चेतन और जड़ दोनों मिलकर एकरूप हैं,यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, प्रत्यक्षबाध-हेतु के द्वारा ही यह स्पष्ट होजाता है। चेतन और जड़ दोनों समुच्चितरूप में किसी एक या अद्वैतरूप को सम्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के अनुसार इन दोनों का अस्तित्व सर्वथा भिन्नरूप में उपलब्ध होता है। जड़ चेतन नहीं, चेतन जड़ नहीं, तब दोनों का मिलकर एक होना संभव नहीं होसकता ॥५९॥

यदि आत्मा नाना हैं, और जड़तत्त्व उनसे पृथक् हैं सर्वथा भिन्न हैं, तो 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि वैदिक वाक्यों का तात्पर्य क्या होगा ? प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित अर्थ का उपनिषद् प्रतिपादन करे, ऐसा तो संभव नहीं, सूत्रकार प्रतिपादन करता है—

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥६०॥

[तत्र] उक्तप्रकार के वाक्यों में [अन्यपरत्वं] द्वैत से अन्य अभिप्राय होना [अविवेकानां] विवेकरहितों का है।

उपनिषद् का तात्पर्य सर्वत्र आत्मा और अनात्मा को भिन्न—पृथक् अथवा विविक्तरूप में प्रतिपादन करने का है। इसलिए जो अविवेकी हैं, जिन्होंने शास्त्र

के रहस्य को समझने में शिथिलता रक्खी है, वे उपनिषद् के उन वाक्यों में जहां आपाततः अद्वैत की झलक दिखाई देती है, द्वैत से अन्य–अद्वैतपरता का प्रतिपादन समझते हैं। वस्तुतः सर्वथा भिन्न आत्मा और अनात्मा के एकत्व का वर्णन वहां नहीं है, और न होसकता है। उपनिषदों में कहीं आत्मा की उत्कृष्टता दिखाने के लिए ऐसा कहा है, कहीं कार्यकारण की एकता के आधार पर वैसा वर्णन होगया है, कहीं अभेदभावना से उपासना करने की दृष्टि को लक्ष्यकर उसप्रकार कहदिया गया है। क्योंकि वस्तुतः आत्मा को अनात्मा बताना सर्वथा अज्ञानमूलक है जो उपनिषद् से प्रत्याशित नहीं ॥६०॥

यदि कार्यकारण की अभेददृष्टि से ऐसा वर्णन है, तो आत्मा [चेतनतत्त्व] जगत् का उपादान ही तो है, फिर जगत् को आत्मा से अभिन्न क्यों न माना जाए ? सूत्रकार कहता है—

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥६१॥

[आत्मा] चेतनतत्त्वं, [अविद्या] चेतनाश्रित अविद्या [जगदुपादानकारणं] जगत् के उपादानकारण [न] नहीं, [उभयं] दोनों मिलकर भी [न] नहीं [निःसंगत्वात्] चेतनतत्त्व के अपरिणामी होने से।

आत्मा को जगत् का उपादान कहते हो, वह तीन रूपों में कहा जासकता है, केवल आत्मा, आत्माश्रित अविद्या अथवा दोनों मिलकर। किसी भी रूप में आत्मा जगत् का उपादान कारण संभव नहीं होसकता, क्योंकि आत्मा निःसंग अर्थात् अपरिणामी है। केवल आत्मा जगत् का उपादान माना जाए, तो उसे जगत् के रूप में परिणत होना होगा। चेतन, अचेतन रूप में परिणत होता है, यह संभव नहीं, और न चेतनतत्त्व किसी रूप में परिणामी संभव है। यदि आत्माश्रित अविद्या को उपादान कहा जाता है, तो आश्रित के कारण आश्रय में संगदोष की आपत्ति होगी। आश्रित आश्रय को छोड़कर रह सकता है या नहीं ? यदि रह सकता है, तो आश्रयाश्रितभाव की कल्पना व्यर्थ है, यदि नहीं रह सकता, तो आश्रित के परिणाम से आश्रय भी प्रभावित होगा, और वह भी परिणामी होजाएगा, आत्मा का ऐसा स्वरूप किसी को अभिमत नहीं है। फिर आत्माश्रित अविद्या नाम का कोई ऐसा विलक्षण तत्त्व जो त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप नहीं है, किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं होता, ऐसे तत्त्व का मानना सर्वथा अप्रामाणिक है। यदि अविद्या त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप है, अथवा उसी का अपर नाम है, और ऐसी अविद्या तथा चेतनतत्त्व दोनों मिलकर जगत् के उपादानकारण माने जाएं, तो यह प्रतिपादन भी संगत न होगा, क्योंकि चेतन को उपादान मानने पर वह असंग—अपरिणामी न रह सकेगा। फिर यह भी है, कि केवल त्रिगुणात्मक मूलतत्त्व से उपादानकारणता सम्पन्न होजाएगी, चेतनतत्त्व को उस भूमिका में घसीटना व्यर्थ है।

हां ! यह निश्चित है, कि त्रिगुणात्मक मूलतत्त्व जड़ होने के कारण स्वतः प्रवृत्ति में असमर्थ रहता है, इसलिए चेतनतत्त्व उसका प्रेरयिता नियन्ता व अधिष्ठाता अवश्य है। कदाचित् इसी दृष्टि से वैदिक साहित्य में जहां तहां—आत्मा ही सब-कुछ है—ऐसे वर्णन कर दिए गए हैं। ये इस रूप में चेतनतत्त्व के उत्कर्ष का प्रति-पादन करते हैं, एकत्व या अद्वैत का नहीं। समस्त विश्व का अधिष्ठाता एक चेतन है, शास्त्र में जिसका वर्णन ईश्वर आदि नामों से किया गया है। देह में अभिनि-विष्ट चेतन अन्य है, फिर प्रत्येक देह में एक भिन्न चेतन की अनुभूति होती है। फलतः आत्मा को अद्वैत कहना प्रमाणसम्मत नहीं है ॥६१॥

प्रसंगानुसार देह में अभिनिविष्ट आत्मा की विशेषता का सूत्रकार प्रति-पादन करता है—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥६२॥

[एकस्य] जीवात्मा का (स्वभाव से) [आनन्दचिद्रूपत्वे] आनन्दरूप और चिद्रूप होना [न] नहीं, [द्वयोः] दोनों के [भेदात्] भेद से।

चेतनतत्त्व का दो रूपों में वर्णन किया जाता है—एक परमात्मा दूसरा जीवात्मा। इनमें पहला शरीरबन्धन में कभी नहीं आता, दूसरा अवश्य आता है। वेद में बताया—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

[ऋ० १।१६४।२०]

एक देह धारणकर इस संसारफल को भोगता है, दूसरा स्वतः प्रकाश बना रहता है। शास्त्रों में बताया है, कि परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। जीवात्मा सत् चित् और जड़प्रकृति केवल सत्स्वरूप है। जीवात्मा के आनन्दस्वरूप न होने को ही इस सूत्र से स्पष्ट किया गया है। दोनों प्रकार के आत्म-तत्त्वों में एक—जीवात्मा आनन्दरूप और चिद्रूप दोनों नहीं है, वह केवल चिद्रूप है। क्योंकि देहाभिनिविष्ट आत्मा में दोनों के भेद का बोध होता है। आत्मा के सदा चिद्रूप होते हुए भी आनन्दरूपता का अनुभव कभी नहीं होता। विषयों से प्राप्त अनुकूल अनुभूतियां कभी-कभी सुख का संवेदन कराती हैं। वह भी वैषयिक सुख-मात्र है आनन्द नहीं।

कतिपय व्याख्याकारों ने वैषयिक सुख और आनन्द को पर्यायवाचीपद मानकर अर्थ का वर्णन किया है, पर वह असंगत हो गया है। सुख और आनन्द पदों में यह विवेक समझना चाहिए, कि जो विषयों से अनुकूल अनुभूतियां होती हैं, उनका नाम सुख है, और समाधि के अनन्तर आत्मसाक्षात्कार होने पर जो एक अतिशय दिव्य अनुकूलता या कैवल्य की अनुभूति होती है, वह आनन्द पद का अर्थ

है। वह केवल मोक्ष की दशा है। इसीलिए उस अवस्था के विषय में कहा जाता है, कि तब जीवात्मा परमात्मा के आनन्द में लीन रहता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा परमात्मा की आनन्दरूपता का जीवात्मा में स्वभावत: होने का निषेध किया गया है। चैतन्य दोनों में समान रहता है ॥६२॥

शास्त्रों में जहां-तहां जीवात्मा को भी आनन्द बताया गया है, उसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? सूत्रकार कहता है—

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६३॥

[दुःखनिवृत्तेः] दुःखों की निवृत्ति से [गौणः] गौण है (आत्मा के आनन्द-रूप होने का वर्णन)।

मोक्ष अवस्था में दुःखत्रय की निवृत्ति होजाने से उस अवस्था की विशेषता को प्रकट करने के लिए गौणरूप में आनन्द पद का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि लोकव्यवहार और शास्त्र में जहां-तहां वैषयिक सुख के लिए आनन्द पद का प्रयोग देखा जाता है, पर उसे मुख्य न समझकर गौण प्रयोग समझना चाहिए। केवल मोक्ष अवस्था में जीवात्मा को आनन्दी कहना किसी सीमा तक यथार्थ माना जासकता है।

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।" [तैत्ति०उप०,२।७]

वस्तुस्थिति यही है, कि विविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति की अवस्था को आनन्द पद से वर्णन कर दिया जाता है। परमात्मा के समान स्वतः जीवात्मा की आनन्दरूपता शास्त्रसंमत नहीं है। केवल मोक्ष अवस्था में जीवात्मा उस आनन्द की मात्रा का अनुभव करता है ॥६३॥

कतिपय शास्त्रवचनों के आधार पर यह क्यों न मान लिया जाए, कि मोक्ष अवस्था आनन्दरूप है, और वही जीवात्मा को प्राप्त होजाती है। सूत्रकार ने बताया—

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६४॥

[विमुक्तिप्रशंसा] मोक्ष की प्रशंसा है [मन्दानां] अज्ञानियों के लिए।

शास्त्रों में जहां-तहां इसप्रकार विशेषरूप से जो मुक्ति की प्रशंसा की गई है, वह केवल इसलिए कि मन्द अधिकारियों की भी उस ओर प्रवृत्ति होसके। जो व्यक्ति शास्त्रीय रहस्य से अनभिज्ञ हैं, अज्ञानी हैं, वे वास्तविकता को न समझते हुए अध्यात्म की ओर प्रवृत्त नहीं होते, सांसारिक लुभावने विषयों में फंसे रहते हैं और कल्याणमार्ग से वञ्चित रह जाते हैं। वे अध्यात्ममार्ग की ओर प्रवृत्त होसकें, इसीलिए मुक्ति की उसरूप में प्रशंसा कीजाती है। वस्तुतः विविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति होजाना क्या कल्याण के कम महत्त्व को रखता है ? उस अवस्था को किस शब्द से कहा जाए, यह विवाद व्यर्थ-सा है। उसकी प्राप्ति

के लिए आदरातिशय और प्रयत्न अपेक्षित है ॥६४॥

मन अणुपरिमाण है, यह सिद्धान्त पहले (३।१४ में) प्रतिपादित किया है। उसको पुष्ट करने के लिए सूत्रकार कहता है—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा
वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ॥६५।

[मनसः] मन का [व्यापकत्वं] व्यापक होना [न] मान्य नहीं, [करण-त्वात्] करण होने से [वास्यादिवत्] वास्य (बसूला) आदि के समान, [वा] अथवा [इन्द्रियत्वात्] इन्द्रिय होने से [चक्षुरादिवत्] चक्षु आदि के समान

मन की व्यापकता संभव नहीं, करण होने से, वास्य आदि के समान, अथवा इन्द्रिय होने से, चक्षु आदि के समान। कोई भी करण अर्थात् किसी वस्तु का साधन और इन्द्रिय सदा एकदेशी अर्थात् परिच्छिन्न होसकते हैं, उनका व्यापक या विभु होना संभव नहीं। कारण यह है, कि यदि साधन अथवा इन्द्रिय को व्यापक माना जाए, तो वह अपने कार्य अथवा विषय के साथ सदा सम्बद्ध रहेगा, और तब प्रतिक्षण उस कार्य का सम्पादन और विषय का ज्ञान होता रहना चाहिए, पर ऐसा कभी नहीं होता, और न ऐसा होना संभव है, इसलिए करण अथवा इन्द्रिय को परिच्छिन्न माना जाता है। मन भी इसीप्रकार करण एवं इन्द्रिय है, इसलिए वह परिच्छिन्न माना जासकता है, व्यापक नहीं ॥६५॥

मन की परिच्छिन्नता को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार और हेतु प्रस्तुत करता है—

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥६६॥

[गतिश्रुतेः] गतिविषयक श्रुति से [सक्रियत्वात्] क्रियावाला होने के कारण (मन परिच्छिन्न है)।

वेद और वैदिक साहित्य में मन की गति का उल्लेख किया गया है। मन एक देश से देशान्तर को जाता है। एक देह में इसकी स्थानान्तरप्राप्ति युक्ति तथा तर्क से प्रमाणित होती है। जो वस्तु क्रियायुक्त होती है, वह व्यापक नहीं होसकती। मन को गतिविषयक श्रुति के आधार पर सक्रिय होने के कारण परि-च्छिन्न मानना चाहिए। 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरंगमम्' (यजु० ३४।१) 'स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र' (ऋ० ५।३०।४) 'यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्'। 'यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् [ऋ० १०।५८। १-१२] 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' (गीता ६।३४) इत्यादि अनेक श्रुति स्मृतियों के आधार पर मन का सक्रिय होना स्पष्ट होता है। अतः मन व्यापक नहीं ॥६६॥

मनके अणुपरिमाण होने से क्या उसे नित्य भी माना जासकता है? सूत्रकार बतलाता है—

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत् ॥६७॥

[निर्भागत्वं] निरवयव–अवयवरहित होना [न] नहीं, [तद्योगात्] अवयवों के योग से [घटवत्] घड़े के समान।

जो वस्तु निरवयव होती है, वह नित्य कही जाती है, क्योंकि वह किन्हीं अवयवों से मिलकर बनी हुई नहीं होती। कुछ तत्त्व मिलकर ही आगे परिणत हुआ करते हैं। मन निर्भाग अर्थात् निरवयव नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम सत्त्व रजस् तमस् रूप अनेक तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन के अनन्तर होता है, इसलिए घटादि पदार्थों के समान अनेकों के योग से परिणत हुआ मन नित्य नहीं होसकता। मन को सूत्रकार ने अणुपरिमाण (३।१४) बताया है, और शब्द-प्रमाण के आधार पर उसे परिणत हुआ कहा है। अणुपरिमाण होने पर भी मन परम अणुपरिमाण नहीं है। अहंकार तत्त्वों से मन की रचना होती है। उपनिषद् में 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (छा० उ०, ६।५।४॥६।६।५॥६।७।६) कहा है। अन्नादि उपभोग करने पर मन अपने कार्यसम्पादन में सशक्त रहपाता है। इन सब आधारों पर मन की अनित्यता स्पष्ट होती है ॥६७॥

कौन वस्तु नित्य और कौन अनित्य है, सूत्रकार स्वयं बताता है—

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥६८॥

[प्रकृतिपुरुषयोः] प्रकृति और पुरुष से [अन्यत्] अन्य [सर्वं] सब [अनित्यम्] अनित्य है।

केवल समस्त जगत् का मूल उपादान प्रकृति और चेतन पुरुष नित्य हैं, इनसे अतिरिक्त अन्य सब अनित्य हैं। चेतन तत्त्व स्वतः नित्य पदार्थ है, सर्वथा अपरिणामी। समस्त जड़जगत् प्रकृति का परिणाम या विकार है, वह (–प्रकृति) किसीका विकार न होने से नित्य है। मूल उपादान कभी किसीका विकार नहीं होसकता, यदि होगा तो वह मूल उपादान नहीं। इसलिए इन दो के अतिरिक्त सब अनित्य है ॥६८॥

चेतन पुरुष और प्रकृति अनित्य क्यों नहीं है ? सूत्रकार बताता है—

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥६९॥

[भोगिनः] भोक्ता-पुरुष और भोग्या-प्रकृति का [भागलाभः] अवयव-लाभ–सावयव होना [न] संभव नहीं, [निर्भागत्वश्रुतेः] वेद में इन्हें निरवयव बताए जाने के कारण।

भोगी–भोक्ता पुरुष तथा भोगी जानेवाली प्रकृति दोनों का भागलाभ–अवयवलाभ अर्थात् सावयव होना संभव नहीं है, क्योंकि वेद में इनको निरवयव प्रतिपादन किया गया है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि में पुरुष को निष्कल अर्थात् निरवयव बताया गया है। निरवयव का तात्पर्य यही

है, कि अनेक तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन से इसकी रचना नहीं होती, यह सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, जिसकी रचना नहीं होती, वह अनित्य नहीं होता।

प्रलय अवस्था में जब समस्त कार्य जगत् अपने कारण में लीन रहता है, संसार का कोई तत्त्व कार्यरूप में प्रकट नहीं रहता, उस समय एक चेतनतत्त्व के साथ मूल उपादान तत्त्व के अस्तित्व का प्रतिपादन वेद ने किया है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।

(ऋ० १०।१२९।२)

स्वधा अर्थात् मूल प्रकृति के साथ एक चेतनतत्त्व विना किसीप्रकार की बाधा के प्रलय काल में अवस्थित था। कार्यमात्र के कारण में लय होजाने की अवस्था में जब वेद स्वधा अर्थात् प्रकृति की स्थिति को चेतनतत्त्व के समान स्वतंत्र बता रहा है, तब इससे स्पष्ट होजाता है, कि प्रकृति का कोई और कारण नहीं है, जहां उसको लय होने की अपेक्षा हो। इसलिए जब प्रकृति किन्हीं अन्य तत्त्वों के परस्पर मिथुन के अनन्तर परिणत हुआ तत्त्व नहीं माना जाता, तब उन प्रकृतिरूप मूल उपादान तत्त्वों का अस्तित्व निरवयव मानना होगा। फलतः निरवयव होनेसे मूल उपादान को अनित्य नहीं माना जासकता। इसप्रकार पुरुष और प्रकृति नित्य पदार्थ हैं, तथा इनके अतिरिक्त अन्य सब अनित्य है ॥६९॥

आत्मा की आनन्दरूपता के विवेचन-प्रसंग में (सूत्र ६२-६३) त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति मोक्ष बताया है। उसी प्रसंग से मुक्ति के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करने के लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है। मोक्ष के विविध स्वरूपों का कल्पना-मूलक उद्भावन करके सूत्रकार ने प्रथम नौ सूत्रों में उनका असामञ्जस्य प्रकट किया है, अनन्तर एक सूत्र में स्वसिद्धान्त का निर्देश है। इस प्रसंग में अनेक सूत्र प्रक्षिप्त आगए हैं, यथावसर उनका उल्लेख कर दिया है। अभिमत मोक्षस्वरूप के अवधारण के लिए कल्पित विकल्पों का सूत्रकार अवतरण करता है—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥७०॥

[आनन्दाभिव्यक्तिः] आनन्द का प्रादुर्भाव [मुक्तिः] मोक्ष है [न] ऐसा नहीं, [निर्धर्मत्वात्] निर्धर्मक होने से (चेतन आत्मा के)।

आत्मा में आनन्द धर्म की अभिव्यक्ति होजाना मुक्ति है, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि आत्मा चेतनस्वरूप है, उसमें किन्हीं धर्मों का समावेश नहीं रहता। उसमें कोई धर्म आते या जाते हों, यह प्रामाणिक नहीं। इसलिए आत्मा में किन्हीं अन्य धर्मों का विलय होकर आनन्द धर्म की अभिव्यक्ति होजाती है, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं। आत्मा का जो स्वरूप है, वह सदा नित्य है। उसमें किसी धर्म का विलय अथवा किसीकी अभिव्यक्ति होना संभव नहीं। अभि-

प्राय यह है–कल्पना की जासकती है, कि आनन्द आत्मा का धर्म है, और इस-प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप है; पर आत्मा की संसार अवस्था में अर्थात् अविवेकी अवस्था में वह आनन्द अन्तर्हित रहता है, विवेक अर्थात् आत्मज्ञान होजाने पर वह अभिव्यक्त होजाता है, यही मुक्ति का स्वरूप है। पर सांख्य मुक्ति के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करता, कारण यह है, कि आत्मा केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है, कोई धर्म उसमें कभी अन्तर्हित और कभी अभिव्यक्त होते हों, ऐसा नहीं है। चेतन होने के कारण उसे केवल अनुभूति होता है, कोई भी धर्म उसका अपना रूप नहीं है ॥७०॥

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥७१॥

[विशेषगुणोच्छित्तिः] विशेष गुणों का उच्छेद मुक्ति है [न] ऐसा नहीं, [तद्वत्] उसके समान।

आत्मा के किन्हीं विशेष गुणों का उच्छेद होजाना मुक्ति है, यह कहना भी पहले के समान युक्तिसंगत नहीं। यह कल्पना करके–कि सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के गुण हैं, इनका न रहना मुक्ति है–यह प्रसंग चलता है। पर आत्मा ज्ञानस्वरूप या चेतनस्वरूप है, उसमें किन्हीं बाह्य गुणों या धर्मों का समावेश होता हो, यह संभव नहीं। तब इसप्रकार के मोक्ष की कल्पना करना संगत न होगा। तात्पर्य यह है, कि सुख, दुःख, इच्छा, राग, द्वेष आदि त्रिगुण के परिणाम हैं, इसलिए त्रिगुणात्मक हैं। आत्मा का स्वरूप इनसे सर्वथा विपरीत है, संसार अवस्था में आत्मा गुणों के संपर्क में अवश्य रहता है, वह उसकी बद्ध अवस्था है। विवेक होजाने पर वे गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) जो उसके लिए भोग सम्पन्न करते थे, अब नहीं करते, यही उनका उच्छेद है, इसको मुक्ति का स्वरूप बताया गया। पर आचार्य कपिल इसको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि प्रथम तो जो गुण अपने रूप में स्थित हैं, उनका उच्छेद संभव नहीं, दूसरे आत्मा का वह स्वरूप नहीं, आत्मा गुणसंपर्क अवस्था में भी गुणातीत है। इसलिए मुक्ति का ऐसा स्वरूप संभव नहीं ॥७१॥

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥७२॥

[विशेषगतिः] विशेष स्थान की प्राप्ति [न] मोक्ष नहीं, [निष्क्रियस्य] निष्क्रिय आत्मा का।

आत्मा किसी विशेष गति या स्थिति को प्राप्त होजाता है, वही मुक्ति का स्वरूप है। पितृयाण, देवयान आदि गतियों का वर्णन उपनिषद् तथा अन्य साहित्य में उपलब्ध होता है। आत्मज्ञान के अनन्तर अथवा किसी रूप में इन गतियों को प्राप्त होना मुक्ति है। मुक्ति का ऐसा वर्णन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आत्म-ज्ञान के अनन्तर मोक्ष अवस्था में आत्मा करणयुक्त सूक्ष्मशरीर से परिवेष्टित

नहीं रहता, इसलिए विशेष स्थान आदि पर पहुंचने के उद्देश्य से उसमें किसीप्रकार की गति उस अवस्था में संभव नहीं। स्थूलशरीर से बाहर जीवात्मा की गति आगति का आधार सूक्ष्मशरीर रहता है, वह एक प्रकार से आत्मा का आवेष्टन है। आत्मज्ञान होने या मोक्ष अवस्था आने पर आत्मा उससे रहित होजाता है, यह उसकी कैवल्य दशा है। तब उसमें उसप्रकार की गति-आगति की संभावना नहीं रहती। अतः ऐसे मोक्ष की कल्पना प्रामाणिक नहीं। यहां ऐसा समझना चाहिए, कि यदि किसी विशेष स्थान पर आत्मा का पहुंच जाना मोक्ष है, तब उतने सीमित स्थान से उस दशा में आत्मा का बाहर जाना संभव नहीं, ऐसी अवस्था में क्रियाहीन हुए आत्मा का वह एक प्रकार से बन्धन होगा, मोक्ष नहीं। ऐसा मोक्ष अप्रामाणिक एवं अमान्य है। उस अवस्था में आत्मा विवेकजनित स्वशक्ति से सर्वत्र विचरण कर सकता है, तथा परमात्म-आनन्द में निमग्न रहता है ॥७२॥

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७३॥

[आकारोपरागोच्छित्तिः] वस्तु के उपराग का उच्छेद [न] मोक्ष नहीं, [क्षणिकत्वादिदोषात्] क्षणिक होने आदि दोष से।

बाह्य विषयों के आकार का उपराग संसारदशा में आत्मा पर पड़ता रहता है। वृत्तिदशा में आत्मा बाह्य घट पट आदि विषयों के ज्ञानद्वारा सम्बन्ध से प्रभावित रहता है। इस स्थिति का उच्छेद होना मोक्ष है। मुक्ति का यह स्वरूप क्षणिकत्व आदि दोष के कारण मान्य नहीं। विषयों का उपराग स्वतः क्षणिक है, एक विषय जाता और दूसरा आता है। क्या यही मोक्ष का रूप होगा? आन्तर और बाह्य दोनों क्षणिक हों, तो मोक्ष एक उपहासमात्र रह जाता है, क्योंकि उपराग और उपरक्त दोनों का उच्छेद प्रतिक्षण होता रहता है। अतः बाह्य विषयोपराग के उच्छेद के आधार पर मोक्षस्वरूप की कल्पना करना प्रामाणिक नहीं। उसके लिए चेतन आत्मा और उसके साक्षात्कार तक पहुंचना आवश्यक होगा। उपरागमात्र का उच्छेद–मोक्ष, कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि जब प्रत्येक वस्तु एवं अवस्था क्षणिक है, तो एकवार समस्त उपराग का उच्छेद होने पर आगे वह कभी न आएगा, इसका क्या विश्वास? क्षणिक होने पर तो आना ही चाहिए। इस कल्पना में मोक्ष का प्रामाणिक स्वरूप नहीं बन पाता ॥७३॥

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥७४॥

[सर्वोच्छित्तिः]सबका उच्छेद [न] मोक्ष नहीं,[अपुरुषार्थत्वादिदोषात्] अपुरुषार्थ होने आदि दोष से।

आत्मा और अनात्मा अथवा आन्तर और बाह्य सबका उच्छेद होजाना मोक्ष है। अभिप्राय यह है, कि आत्मा के बन्ध की जो अवस्था कही जाती है, उसमें बाह्य आन्तर अथवा अनात्मा-आत्मा प्रत्येक वस्तु अपेक्षित रहती है, ये सब

मिलकर बन्ध की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं। बन्ध का न रहना मोक्ष कहा जा-सकता है, तब इन सबके न रहने में मोक्ष की कल्पना होगी। इसलिए वस्तुमात्र का उच्छेद मोक्ष मानना चाहिए। मोक्ष की यह कल्पना भी कसौटी पर सच्ची नहीं उतरती, कारण यह है, कि जब समस्त वस्तु का उच्छेद होगया, तो मोक्ष किसका होगा ? कौन बन्धन में था, किसका मोक्ष हुआ ? यह सब निरूपण करना अशक्य होगा। तब मोक्ष पुरुपार्थ नहीं रहजाएगा। अपुरुपार्थता और आत्मनाश आदि दोपों के कारण मोक्ष की यह कल्पना मान्य नहीं होसकती। उस अवस्था में वास्तविकता का पर्यवसान अभाव अथवा शून्यमात्र में मानना होगा, जो अप्रामाणिक एवं असंगत है ॥७४॥

[1]न देशादिलाभोऽपि ॥७५॥

[देशादिलाभः] देशविशेष और साधनों का प्राप्त होना [न] मोक्ष नहीं, [अपि] अपुरुषार्थ होने से ही।

देशविशेष की प्राप्ति होजाना अथवा धन अङ्गना आदि साधन विशेषों का प्राप्त होना मोक्ष नहीं है। सूत्र का 'अपि' पद पूर्वोक्त अपुरुषार्थत्वदोष हेतु का परामर्श करता है। एक देश को छोड़कर किसी दूसरे देश में प्राप्त होजाना पहले के समान होने से पुरुपार्थ नहीं है इसीलिए वह मोक्ष का स्वरूप नहीं माना जाएगा। जैसा एक देश में रहना वैसा दूसरे देश में रहना, देशमात्र के परिवर्त्तन से आत्मा मुक्त नहीं होजाता। वह तो आत्मा के बन्धन अथवा भोग की अवस्था रहती है। यद्यपि भोग पुरुषार्थ माना जाता है, पर वास्तविक मुख्य पुरुषार्थ अपवर्ग है। दोनों के परस्पर सांमुख्य में भोग बन्धरूप होने से अपुरुषार्थ ही रहजाता है। इसलिए देश या साधनविशेपों का प्राप्त होना अपवर्ग का स्वरूप नहीं माना जासकता ॥७५॥

न भागियोगो भागस्य ॥७६॥

---

१. इस सूत्र के पहले 'एवं शून्यमपि' तथा 'संयोगाश्च वियोगान्ता इति' यह पाठ सूत्रभाग प्रतीत नहीं होता। संभवत: ७४वें सूत्र के आशय को लेकर किसी विद्वान् ने अपने पठनीय ग्रंथ के प्रान्तभाग पर बौद्धसिद्धान्त के संकेत की भावना से ऐसा लिखा होगा। इसीप्रकार ७५वें सूत्र के आशय के अनुसार उसकी वाक्यान्तर द्वारा पुष्टि के लिए दूसरा वाक्य लिखा होगा, जो कालान्तर में प्रतिलिपि के समय मूलपाठ में सम्मिलित होगया। वस्तुतः 'संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम्। सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥' ऐसा एक श्लोक महाभारत [१२।३३८।२०] में उपलब्ध होता है। जिसका एक चरण प्रतीकरूप में सूत्राशय की पुष्टि अथवा तुलना के लिए किसी विद्वान् द्वारा प्रान्तभाग पर लिखा गया, और प्रतिलिपियों के प्रसंग से मूल में आगया।

[भागस्य] अंश का [भागियोगः] अंशी के साथ सम्बन्ध, [न] मुक्ति नहीं।

आत्मा के सम्बन्ध में यह एक कल्पना की जासकती है, कि वह परमात्मा का अंग या भाग है। उसके आधार पर मुक्ति का यह स्वरूप मानना भी युक्तियुक्त नहीं, कि उस भाग अर्थात् अंशभूत आत्मा का भागी-अंशी परमात्मा के साथ योग-सम्बन्ध होजाना मुक्ति है। कारण यह है, कि परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध तो सदा बना रहता है, चाहे उसे अंश मानें या न मानें, परमात्मा सर्वव्यापक है, उसका सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु के साथ है। यदि सम्बन्ध का अभिप्राय यह समझा जाए, कि आत्मा अपने अस्तित्व को खोकर अंशी-परमात्मा में लीन अथवा तद्रूप होजाता है, तो ऐसे अंशांशिभाव की कल्पना करना सर्वथा अप्रामाणिक है। क्योंकि ऐसी स्थिति में चेतनतत्त्व में वृद्धि क्षय एवं परिणाम का होना अनिवार्यरूप से माना जाएगा, जो शास्त्र और युक्ति दोनों के विरुद्ध है ॥७६॥

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥७७॥

[अणिमादियोगः] अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति [न] मोक्ष नहीं, [तदुच्छित्तेः] अणिमादि उच्छेद के [अवश्यंभावित्वात्] अवश्यंभावी होने से [इतरयोगवत्] अन्य ऐश्वर्य प्राप्ति के समान।

अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व, यत्रकामावसायित्व ये आठ प्रकार के ऐश्वर्य 'अष्टसिद्धि' के नाम से शास्त्र में वर्णन किए गए हैं। इन ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेना भी मुक्ति नहीं है। क्योंकि अन्य ऐश्वर्य प्राप्त होकर जैसे नष्ट होजाते हैं, इसीप्रकार इन ऐश्वर्यों का उच्छेद भी अवश्यंभावी है। ये ऐश्वर्य एक वार प्राप्त होकर निरन्तर बने रहते हों, ऐसी बात नहीं है, इसलिए मुक्ति का यह स्वरूप शास्त्रसम्मत नहीं है ॥७७॥

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥७८॥

[इन्द्रादिपदयोगः] इन्द्र आदि पदों का प्राप्त कर लेना [अपि] भी [न] मोक्ष नहीं, [तद्वत्] उसकी तरह (पूर्वसूत्रकथनानुसार)।

अणिमा आदि ऐश्वर्य के समान इन्द्रादि पद को प्राप्त कर लेना भी मुक्ति नहीं, क्योंकि उसका भी उच्छेद होजाना अवश्यंभावी है। इन्द्र पद की प्राप्ति के लिए अनेकों का प्रयत्न होनेपर परस्पर राग-द्वेष की स्थिति देखी जाती है। पूर्वभूत इन्द्र किसी अन्य को इन्द्र होने देना नहीं चाहता, उसके इन्द्रपदसाधक अनुष्ठानों में विघ्न बाधा उपस्थित करता है, जहां राग द्वेष का प्रयोग इतने उग्ररूप में उभरता है, उस स्थिति को मोक्ष कहना निरी मूर्खता है ॥७८॥

इन पूर्वोक्त स्थितियों में जब कोई मोक्ष का स्वरूप युक्त नहीं, तो कौन स्थिति ऐसी संभव होसकती है, जो उसके स्वरूप का उपयुक्त निर्देश करसके ?

सूत्रकार कहता है—

'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥७९॥

[समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु] समाधि, सुषुप्ति, मोक्ष में [ब्रह्मरूपता] ब्रह्मरूपता है।

समाधि और सुषुप्ति के समान मोक्ष में ब्रह्मरूपता प्राप्त होजाती है। ब्रह्म में त्रिविध दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति रहती है, उसीके समान अवस्था जीवात्मा को मोक्ष में प्राप्त होती है, यही उसका ब्रह्मरूप होना है। उस अवस्था का छायामात्र अनुभव समाधि और सुषुप्ति में भी होता है। यद्यपि सुषुप्ति तामस अवस्था है, क्योंकि निद्रा को तमस् का विकार माना गया है। तब आत्मज्ञान न होने पर निद्रारूप दोष या अज्ञान के कारण दुःख का अनुभव नहीं होता, केवल इतनी समानता से सुषुप्ति को इस कोटि में रक्खा गया है। इसमें यह भावना भी है, कि सुषुप्ति का अनुभव प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को होता है, उस अनुभूति का कोई अपलाप नहीं कर सकता। एक साधारण अज्ञानी व्यक्ति को मोक्ष की आनन्दरूप स्थिति का छायानुमान कराने के लिए यह एक अच्छा साधन है। जब अज्ञान अवस्था में बाह्य तथा आन्तर इन्द्रियों के किसीप्रकार का सहयोग न रहते हुए ऐसी अनुकूल अनुभूति होती रहती है, तब ज्ञान-अवस्था का तो कहना ही क्या। इसके आगे समाधि अवस्था में यद्यपि आत्मज्ञान है, पर उसमें नैरन्तर्य नहीं है, समाधि के अनन्तर वृत्तिसरूपता पुनः उपस्थित होजाती है। सुषुप्ति की अपेक्षा यह उत्कृष्ट है, क्योंकि आत्मज्ञान होने से इस अवस्था में दुःखनिवृत्ति ज्ञानपूर्वक है। मोक्ष अवस्था में वही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति निरन्तर होजाती है, उस अवस्था में फिर वृत्तिसरूपता की संभावना नहीं। इसप्रकार वह दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति की अवस्था है। ब्रह्म की वह अवस्था सार्वकालिक रहती है। इस आधार पर मोक्ष के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया जाता है। इस वर्णन से समाधि सुषुप्ति और मोक्ष को सर्वथा एक रूप नहीं समझना चाहिए। केवल दुःखनिवृत्ति के अंश में इनकी समानता प्रकट की गई है ॥७९॥

इसीकारण अगले सूत्र से उनकी विशिष्टता का प्रतिपादन सूत्रकार करता है—

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥८०॥

१. इस सूत्र से पहले ३२ सूत्र प्रक्षिप्त हैं। मुक्ति के कल्पित स्वरूपों का प्रत्याख्यान करके प्रकरणानुसार उसके अनन्तर ही वास्तविक स्वरूप बताना चाहिए। वह इस सूत्र में बताया गया है। आगे भी इसी विषय का प्रसंग है। इन सूत्रों के प्रक्षेप के सम्बन्ध में देखिए—'सांख्यदर्शन का इतिहास'—पृष्ठ २६२ से २७६ तक। इन सूत्रों की व्याख्या 'परिशिष्ट २' में देखें।

[द्वयोः] दो अवस्थाओं में [सबीजं] बीज सहित है, [अन्यत्र] अन्य में [तद्धतिः] उस (बीज) की हानि होजाती है।

पहली दो अवस्थाओं में ब्रह्मरूपत्व अर्थात् दुःख का अभाव सबीज रहता है, क्लेश, कर्म, वासना आदि जो बन्ध के बीज अर्थात् कारण हैं, वे पहली दो अवस्थाओं में बने रहते हैं। पर अन्यत्र अर्थात् मोक्ष अवस्था में सबीजता का हान होजाता है, तब किसीप्रकार के कर्म, वासना आदि का अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए वहां त्रिविध दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति होजाती है। पहली दो अवस्थाओं से मोक्ष में यही विशेषता है ॥८०॥

समाधि और सुषुप्ति का तो हम अनुभव करते हैं, उनका अस्तित्व निश्चित है। पर मोक्ष कोई अवस्था है, जो आत्मा को प्राप्त होसकती है, इसमें क्या प्रमाण है? सूत्रकार कहता है—

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥८१॥

[द्वयोः] दो की [इव] तरह [त्रयस्य] तीसरी के [अपि] भी [दृष्टत्वात्] देखे जाने (अनुभव होने) से [द्वौ तु] दो ही तो [न] नहीं।

पहली दो अवस्थाओं के समान तीसरी को भी देखा जाता है, उसका अनुभव किया जाता है, इसलिए केवल दो अवस्थाओं को मानना ठीक नहीं। मोक्ष अवस्था का अनुभव आत्मसाक्षात्कर्त्ता ऋषियों ने किया। वैदिक साहित्य में उसका वर्णन है। 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छा० ६।८।१] 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मुण्ड० ३।३] 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० १।१]।

वेद में इस अवस्था को 'अतिमृत्यु' कहकर वर्णन किया है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८], 'अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त' [यजु० ३२।१०] 'उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश [यजु० ३२।११]। इत्यादि श्रुतियों में उस अवस्था का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है ॥८१॥

समाधि और सुषुप्ति अवस्था के परस्पर भेद का संकेत करता हुआ शिष्य आशंका करता है, कि समाधि अवस्था में क्लेश वासना आदि के रहते भी उग्र वैराग्य आदि के कारण वे वासना कुण्ठित होजाती हैं, तब किसी प्रकार के बाह्यज्ञान का उद्भव नहीं होपाता, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो वैराग्य आदि का अभाव है, तब वहां क्लेश, वासना आदि, अर्थज्ञान को क्यों नहीं उत्पन्न कर दें? करने पर उसकी ब्रह्मरूपता असंगत होगी। सूत्रकार ने कहा—

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥८२॥

[दोषयोगे] निद्रारूप दोष का योग होने पर [वासनया] वासना के द्वारा [अपि] भी [अनर्थख्यापनं] अर्थ का ज्ञान नहीं होता [निमित्तस्य]वासना आदि

निमित्तका [प्रधानबाधकत्वं] मुख्य (निद्रादोष, का बाधक होना [न] संभव नहीं।

सुषुप्ति अवस्था में निद्रारूप दोष का सम्बन्ध होने पर वासना के द्वारा भी अर्थ का ख्यापन—बाह्य विषयों का बोध—नहीं होपाता। जैसे समाधि में उग्र वैराग्य आदि वासनाओं को कुण्ठित कर देता है, इसीप्रकार सुषुप्ति अवस्था में तीव्र निद्रादोप वासनाओं को उभरने नहीं देता, उनको अपने कार्य में शिथिल कर रखता है। क्योंकि अर्थबोध के निमित्त—वासना कर्माशय आदि, प्रधान अर्थात् तीव्र निद्रादोष के बाधक नहीं होसकते, प्रत्युत इसके विपरीत निद्रादोष वासना आदि को दबाकर रखता है। कारण यह है, कि वासनाओं का अस्तित्व निद्रा और अनिद्रा दोनों अवस्थाओं में बना रहता है, पर निद्रा अपनी इसी स्थिति में अवकाश पाती है, यदि वासना यहां भी निद्रा को अभिभूत करें, और अपना कार्य चालू रक्खें, तो निद्रा का अस्तित्व ही संभव न होसके। इसीलिए सूत्र में निद्रादोष को 'प्रधान' पद से निर्दिष्ट किया गया है, अपनी अवस्था में इसके अस्तित्वलाभ की दृष्टि से इसका मुख्य होना निर्बाध है। इसप्रकार सुषुप्ति अवस्था में वासनाओं के रहते भी निद्रादोष के कारण किसीप्रकार का अर्थबोध संभव नहीं, तब दुःख का बोध न होने पर दुःखनिवृत्तिरूप ब्रह्मरूपता की स्थिति बन जाती है। फलतः मोक्ष के स्वरूप को समझने में किसीप्रकार की आशंका का अवकाश नहीं होना चाहिए ॥८२॥

मोक्षस्थिति में मुक्त आत्मा के लिए प्रकृति अपना कार्य बन्द कर देती है। इसप्रकार बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृति पर अवलम्बित हैं, प्रकृति जगत् की कर्त्री अर्थात् उपादान है, फिर चैतन्य भी प्रकृति का ही एक अवस्थाविशेष या धर्मविशेष मान लेना चाहिए। तब इस आधिभौतिकवाद में किसी अतिरिक्त चेतनतत्त्व को स्वीकार करना असंगत व अनावश्यक होगा। आचार्य उपसंहार में भूतचेतनवाद के निरास के लिए प्रसंग का अवतरण करता है, मोक्षप्राप्ति आदि के अनुष्ठानों में केवलमात्र देह अपेक्षित है, ऐसा नहीं है, सूत्रकार कहता है—

[1]न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥८३॥

[देहमात्रतः] केवल देह से [कर्माधिकारित्वं] कर्मानुष्ठान में अधिकारी होना [न] संभव नहीं, [वैशिष्ट्यश्रुतेः] विशेषता के श्रुतिप्रतिपादित होने से।

मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए कर्मानुष्ठानों में अधिकार प्राप्त होना केवलमात्र देह पर आधारित नहीं है। उन अनुष्ठानों में ऐसे भाव अपेक्षित होते हैं, जो

---

१. इसके पहले चार सूत्रों को प्रक्षिप्त समझकर छोड़ दिया गया है। इन सूत्रों का पूर्वापर के साथ सामञ्जस्य स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए देखिए—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ २७७ से २७९ तक। इन सूत्रों की व्याख्या 'परिशिष्ट २' में देखें।

चेतनतत्त्व स्वीकार करने पर संभव होसकते हैं। उसप्रकार की विशेषताओं का शास्त्र में वर्णन किया गया है। मोक्षादि के अनुष्ठानों में वही व्यक्ति अधिकारी होता है, जो अर्थी हो, समर्थ हो, विद्वान् हो, श्रमशील हो, शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि में रुचि हो। ये सब भाव जड़मात्र देह में संभव नहीं। इसलिए चैतन्य के अस्तित्व की उपेक्षा करके देहमात्र से कर्मों में अधिकार का प्रतिपादन करना अप्रामाणिक है। देव मनुष्य तिर्यक् देह, मनुष्य में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के देह, ब्राह्मण आदि में बाल, युवा, वृद्ध, मूर्ख, विद्वान् पतित आदि के देह को आधार मानकर कर्माधिकार की व्यवस्था की जाती है। कोई भी देहधारी किसी भी कर्मानुष्ठान में अधिकारी हो, ऐसा संभव नहीं। अधिकारी होने के लिए देहातिरिक्त अन्य विशेषताओं को दृष्टिगत रखना होगा। कामना, सामर्थ्य, वैदुष्य, शम आदि भावों की उपेक्षा नहीं की जासकती।

देह के प्रसंग से तीन वर्गों में देहमात्र की व्यवस्था का निर्देश सूत्रकार करता है—

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ॥८४॥

[त्रयाणां] तीन का [त्रिधा] तीन प्रकार से [व्यवस्था] वर्गीकरण है, [कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः] कर्मदेह, उपभोगदेह, उभयदेह।

देव, मनुष्य और तिर्यक् इन तीनों के देहों की व्यवस्था—वर्गीकरण तीन प्रकार से हुआ देखा जाता है। वे तीन वर्ग हैं—कर्मदेह, उपभोगदेह और उभयदेह। तिर्यक् में स्थावरों का भी समावेश होजाता है। इसप्रकार देव से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त देह तीन वर्गों में विभक्त हैं। कर्मदेह उन वीतराग परमर्षियों का समझना चाहिए जो फल की अभिलाषा को छोड़कर केवल कर्मका अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करने वाले ब्रह्मचारियों और यतियों का भी इसी में समावेश समझना चाहिए। सृष्टि के आदि में जो वेदप्रवक्ता ऋषि प्रकट होते हैं, वे भी इसी कोटि में हैं। उपभोग अथवा भोगदेह उनका है, जो केवल अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए उस देह का धारण करते हैं। इस वर्ग में इन्द्र आदि देवों तथा तिर्यक् देहों का समावेश होता है। इन्द्रादि देवयोनियां केवल भोगयोनियां हैं, और पशु, पक्षी कृमि, कीट, पतंग स्थावर आदि भी। इतना विशेष है, कि इन्द्रादि पुण्यफल का भोग करते हैं, तथा तिर्यक् देहों में पापफल भोगा जाता है। उभयदेह—कर्म और भोग दोनों को प्रस्तुत करने वाले देह राजर्षियों, गृहस्थों आदि के समझने चाहिएं, जो पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त कोई ऐसा देहधारी नहीं है, जो एक क्षण भी विना कोई कार्य किए रहसकता हो। जो भोगयोनियां हैं वे भी कुछ-

न-कुछ करती रहती हैं, विना कर्म के कोई भोग सम्पन्न नहीं होपाता। जो केवल कर्मदेह हैं, वहां भी भोग सम्भव है, क्योंकि वीतराग फल-संन्यासी परमर्षियों के लिए भी अशन-पान आदि की व्यवस्था आवश्यक होती है। तथापि यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है, प्रधानरूप से वह देह जिस लिए प्राप्त है, उसी वर्ग में उसको रख दिया गया है। फिर भी शास्त्रीय व मोक्षोपयोगी कर्मों को दृष्टि में रखकर यह व्यवस्था बांधनी चाहिए। वैसे साधारणरूप से यह समझा जासकता है, कि कर्मदेहद्वारा जो कार्य किए जाते हैं, वहां उनके फल की कोई आकांक्षा नहीं रहती, इसलिए वे सब अनुष्ठान ऐसे संस्कार या वासनाओं को उत्पन्न नहीं करते, जो आगे फलोत्पादक होसकें, इसीलिए ऐसे देह केवल कर्मदेह हैं। जो केवल भोगदेह हैं, वहां जो कर्म उन देहों द्वारा किया जाता है वह केवल भोग सम्पादन के लिए होता है, उससे भी अन्य संस्कार या वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होते, जो आगे फलोत्पादक हों। फलतः यहां 'कर्म' से उन्हीं कर्मों का अभिप्राय है, जो आगे फलप्राप्ति की कामना से किए जाते हैं, इसीलिए वे कर्म, वासना संस्कार आदि को जन्म देते हैं, जो आगे फल अथवा भोग को प्रस्तुत करते हैं। भोगों के साथ जहां ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, वे केवल उभयदेह कहाते हैं ।।८४।।

उपनिषदों में पञ्चाग्नि विद्या का वर्णन है, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छान्दो० ५।३।३) पांचवीं आहुति में आपस् पुरुष नाम वाले बन जाते हैं। इसमें तृतीय आहुति की स्थिति भयावह रहती है। कर्मी आत्मा कर्मानुरूप सुखफलों को भोगकर जब पुनः इन योनियों में आते हैं, उस अन्तरालमार्ग में आत्मा की क्या स्थिति समझी जाएगी ? सूत्रकार कहता है—

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ।।८५।।

[अनुशयिनः] अनुशयी का [किञ्चित्–अपि] उपर्युक्त देहों में से कोई भी [न] नहीं होता।

उस अवस्था में वे सब आत्मा अनुशयी कहे जाते हैं। उस समय उनको कोई देह कर्मक्षम या भोगक्षम प्राप्त नहीं होता। जबतक ऐसा देह प्राप्त न हो, तब तक उनकी अनुशयी संज्ञा रहती है, क्योंकि तब वे केवल दूसरे के आधार पर शयन या निवास करते हैं, उनका अपना अभिमानी देह कोई नहीं रहता, जिसको वे अपना कहकर अहंभाव प्रकट कर सकें। आचार्य ने स्पष्ट किया, कि उस अवस्था में अनुशयी आत्माओं का कोई देह नहीं होता। वस्तुतः वह आत्मा की न तो भोग स्थिति होती है, और न उस अवस्था में कोई अनुष्ठेय कर्म संभव है, इसलिए कर्मदेह, उपभोगदेह या उभयदेह की वहां कोई संभावना नहीं।

कतिपय व्याख्याकारों ने 'अनुशयी' का अर्थ विरक्त–वीतराग किया है, और उसके लिए जडभरत आदि का उदाहरण दिया है। पर यह असंगत है, क्योंकि

जडभरत आदि का उपभोग देह था, यह निश्चित है। उसके सम्बन्ध की वर्णित घटनाओं से यह प्रमाणित होजाता है। उसके कुछ ऐसे कर्म शेष थे जिनको उस शरीर से भोगना आवश्यक था। अतः वह उपभोगदेह था, उसे 'न किञ्चित्' नहीं कहा जासकता ॥८५॥

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट किया गया, कि देह नश्वर होने से वह आत्मा का स्वरूप नहीं होसकता, आत्मा तो कोई नित्य पदार्थ होना चाहिए, जो विभिन्न देहों में सदा एकरूप बना रहता है। वादी कहता है, कि बुद्धि को ऐसा मान लिया जाए, वह नित्य तत्त्व रहे, आत्मा को अतिरिक्त मानना अनावश्यक है। सूत्रकार कहता है—

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥८६॥

[आश्रयविशेषे] आश्रयविशेष में [अपि] भी [बुद्ध्यादिनित्यत्वं] बुद्धि आदि का नित्य होना [न] संभव नहीं, [वह्निवत्] अग्नि के समान।

'बुद्धि' पद अन्तःकरण और वृत्त्यात्मकज्ञान दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब 'बुद्ध्यतेऽनया इति बुद्धिः' निर्वचन किया जाए, तो बुद्धि करण है, और 'बोधनं बुद्धिः' भाव में प्रत्यय हो, तो इसका अर्थ वृत्तिरूपज्ञान होता है। बुद्धि किसी भी स्थिति में नित्य नहीं है। आश्रयविशेष में भी उसे नित्य नहीं माना जासकता, किसी आश्रय में नित्य और किसीमें अनित्य ऐसा संभव नहीं। क्योंकि जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, प्रत्येक अवस्था में वह वैसी ही रहेगी। अग्नि का उष्ण स्वभाव है, वह वैसी ही रहेगी, चाहे उसका आश्रयभूत इन्धन कुछ भी हो। ऐसा नहीं होसकता, कि आम या कीकर (बबूल) की लकड़ी में प्रज्वलित आग उष्ण हो और चन्दन काष्ठ में शीतल हो जाए। इसप्रकार बुद्धि की स्थिति सदा अनित्य है, क्योंकि वह प्रकृति का परिणाम है, वह आत्मा का रूप संभव नहीं।

बुद्धि के समान अन्य भी कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो नित्यरूप माना जाकर आत्मा का स्थान ग्रहण कर सके। यह भाव सूत्रकार ने 'आदि' पद से प्रकट किया है। फलतः देह अथवा अन्य कोई अनात्मतत्त्व आत्मा का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता ॥८६॥

आश्रयासिद्धेश्च ॥८७॥

[च] और [आश्रयासिद्धेः] आश्रय की असिद्धि से, (अतिरिक्त आत्मा का निश्चय होता है)।

यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, तो बुद्धि आदि के आश्रय की असिद्धि प्राप्त होजाएगी। अभिप्राय यह है, कि किसी भी स्थिति में बुद्धि आदि के अस्तित्व के लिए आत्मा का अस्तित्व अवश्यंभावी अपेक्षित रहता है। बुद्धि आदि का अस्तित्व आत्मा के लिए है। यदि उसीकी उपेक्षा कर दी जाए, तो

बुद्ध्यादि का अस्तित्व ही भयग्रस्त होजाता है।

बुद्धि, प्रकृति का आद्यकार्य है, उसके अनन्तर अहंकार आदि अध्यात्म और तन्मात्र आदि अधिभूत जगत् उत्पन्न होता है। यह समस्त कार्यजगत् चेतन आत्मा के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि के लिए अस्तित्व में आता है। उसीके आश्रय से बुद्धि आदि समस्त तत्त्व अपने कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में यदि बुद्धि से अतिरिक्त चेतन आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाता, तो वे सब निराश्रित रहकर निरर्थक होजाते हैं। अतः उनके आश्रयभूत आत्मा का स्वीकार करना आवश्यक एवं युक्तियुक्त है ॥८७॥

सांसिद्धिक शरीर की व्यवस्था और अतिरिक्त आत्मास्तित्त्व की पुष्टि के लिए योगसिद्धियों के विषय में सूत्रकार कहता है—

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥८८॥

[औषधादिसिद्धिवत्] औषध आदि द्वारा प्राप्त सिद्धि के समान [योगसिद्धयः-अपि] समाधि द्वारा प्राप्त सिद्धियां भी [अपलपनीयाः] अपलाप के योग्य [न] नहीं।

हम देखते हैं, विशेष औषध आदि के सेवन से हमारे देह आदि के रोग दूर होकर एक अनुकूल अवस्था प्राप्त होजाती है, इस स्थिति की उपेक्षा नहीं की जासकती क्योंकि इसका साक्षात् अनुभव होता है। इसीप्रकार समाधि से प्राप्त होने वाली विशेष अवस्थाओं—सिद्धियों—की भी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं, क्योंकि इन अवस्थाओं का योगियों को साक्षात् अनुभव होता है। ये अनुभव केवल देहाश्रित नहीं कहे जासकते। इसप्रकार समाधिजनित सिद्धियां आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्पष्ट करती हैं।

अभिप्राय यह है—अनेक प्रकार की सिद्धि अनेक उपायों से होती है। जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि, ये पांच उपाय सिद्धि-प्राप्ति के लिए शास्त्र (पातञ्जल योगदर्शन, ४।१) में बताए जाते हैं—

जन्म—किन्हीं व्यक्तियों में जन्मकाल से सिद्धि की अवस्था पाई जाती है। यह स्थिति अनेक पूर्वजन्मों के उपार्जित पुण्य, तप आदि के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। इसीके अनुसार गीता (६।४५) में कहा गया है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। ऐसी सिद्धि-प्राप्ति के उदाहरण स्वयं परमर्षि कपिल आदि हैं, जिनके विषय में विभूतिवर्णन के अवसर पर भगवान् कृष्ण ने कहा है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः'। ऐसे महान आत्माओं के शरीर सांसिद्धिक कहे जाते हैं।

ओषधि—ओषधिजनित सिद्धि रसायन आदि के प्रयोग द्वारा प्राप्त होती है। विन्ध्यवासी माण्डव्य मुनि ने इसीप्रकार सिद्धि प्राप्त की थी। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक इसी आधार पर लोकान्तरगमन के प्रयत्न में लगे हैं।

मन्त्र—नाम गंभीर विचार का है। इस प्रक्रिया से अपनी मानसिक एवं बौद्धिक शक्ति को अत्यन्त प्रबल कर लिया जाता है। इसका प्रयोग सूक्ष्म तत्त्वों की अन्तर्हित क्रिया और प्रतिक्रियाओं को पहचानने तथा उनको कार्यरूप में परिणत करने में किया जाता है। गहन शास्त्रों का निर्माण—जिनमें अचिन्त्य तत्त्वों का विवेचन होता है—इसी सिद्धि का परिणाम है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो भूत—तत्त्वों पर प्रभुत्व प्राप्त किया है, और यान्त्रिक निर्माण को पराकाष्ठा की कोटि तक पहुंचाया है, वह भी इसीका सुफल है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धि को प्राप्त व्यक्ति किन्हीं विशेषताओं को अन्य व्यक्ति में संक्रान्त कर सकता है। आजकल ऋषिकेशनिवासी श्री ब्रह्मचारी योगानन्दजी शक्तिसंपात द्वारा किसी भी व्यक्ति की कुण्डलिनी को जागृत कर देते हैं। मैं इनको लगभग पैंतीस-चालीस वर्ष से जानता हूं। जिन सैंकड़ों व्यक्तियों ने उनसे यह प्रक्रिया सीखी और उनकी दीक्षा ली है, उनमें से अनेक व्यक्तियों के साथ मेरी घनिष्ठता एवं परिचय है। उनमें से कतिपय महानुभावों ने अभ्यास करके उस सिद्धि-अवस्था को प्राप्त कर लिया है, जब वे भी अन्य में शक्तिसंपात कर सकते हैं।

तप—नाम है नैष्ठिकरूप से ब्रह्मचर्य आदि का पालन और सुख-दुःख, शीतोष्ण, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों का व्रतरूप से सहन। इसके निरन्तर अभ्यास से अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसके उदाहरणरूप में हनुमान, भीष्म, शंकर, दयानन्द आदि के नाम लिए जासकते हैं।

समाधि—का स्वरूप योगदर्शन में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस दर्शन के विभूतिपाद में समाधिजनित सिद्धियों का विस्तृत उल्लेख है। सिद्धियों के उपर्युक्त उपायों में पारस्परिक सहयोग बराबर रहता है। एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता इनमें कभी आड़े नहीं आती। इसप्रकार सुविधानुसार एक या अनेक उपायों का अनुष्ठान करने पर कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

यद्यपि बाह्यरूप से अनेक सिद्धियों का आधार भौतिक रहता है, पर उन सबका प्रेरणास्रोत चेतन आत्मा है। जैसे अणिमा आदि सिद्धियों का बाह्यप्रदर्शन देह अथवा देहांगों के आधार पर होगा, पर यह हो तभी सकता है, जब योगांगों के अनुष्ठान द्वारा चेतन आत्मा उस शक्ति से सम्पन्न होचुका हो, अर्थात् आत्मा की वह शक्ति अन्तर्हित अवस्था से प्रादुर्भाव में आगई हो।

स्पष्ट है, सिद्धियों की प्राप्ति के लिए अतिदीर्घकाल तक निरन्तर प्रयास करना होता है, यह दीर्घकाल अनेक जन्मों में पूरा होपाता है। फलतः अनेक जन्मों के अनेक देहों के अतिरिक्त एक ऐसे तत्त्व की सिद्धि होती है, जो उन सब देहों में बराबर बना रहता है, क्योंकि एक जन्म में प्राप्त देह तो यहीं रहजाता है। एक जन्म के देह का दूसरे जन्म के देह के साथ देहरूप से कोई संपर्क स्थापित करना

सर्वथा असंभव है। इसलिए इन सिद्धियों के द्वारा देहादि से अतिरिक्त चेतन आत्मा का अस्तित्व निश्चित होता है ॥८८॥

यदि यह कहा जाए, कि औषध तथा योगजनित सिद्धियोंके आश्रयभूत बुद्धि, देह आदि है, तब उनसे अतिरिक्त चेतन आत्मा का स्वीकार करना अनावश्यक होगा। सूत्रकार प्रकरण का उपसंहार करता हुआ इसका उत्तर देता है—

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥८९॥

[भूतचैतन्यं] भूतों का चेतन होना [न] संभव नहीं, [प्रत्येकादृष्टेः] एक-एक (सूक्ष्म अणु तक में) न देखे जाने से, [अपि च] और इसीकारण [सांहत्ये] संघात में (चैतन्य नहीं)।

पृथिव्यादि भूत चेतन हैं, इनसे अतिरिक्त किसी चेतनतत्त्व का अस्तित्व अनपेक्षित हैं, ऐसा कथन संभव नहीं। कारण यह है, कि भूतों के संघात में चैतन्य कहां से आ जाएगा, जब उनमें प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है। भूतों के मूल उपादानतत्त्व सर्वथा जड़वस्तु हैं। उनमें किसी अवस्था में चैतन्य का उभरना संभव नहीं। जहां जिसका मूलतः अस्तित्व न हो, वहां वह प्रकट नहीं हुआ करता। तिल के एक दाने में तेल है, वह संघात से प्रकट होसकेगा। बालू के एक कण में स्नेह नहीं है, वह बालू की राशि से भी प्रकाश में न आएगा।

फलतः चेतन आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह अपने साधनों के साथ भोगापवर्ग के लिए प्रकृति के संपर्क में आता है। संसार का संचरण इन्हीं आधारों पर आश्रित है। आत्मा इन्हीं के द्वारा मोक्ष का लाभ करता है। आत्मा एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, वह भूतों या जड़तत्त्व का विकार अथवा परिणाम नहीं है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रंथ में हमने किया है। सूत्र में अन्तिम पदों का दुबारा पाठ अध्याय की परिसमाप्ति को प्रकट करने के लिए किया गया है। इस रीति का ग्रन्थ में सर्वत्र प्रयोग हुआ है ॥८९॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना–उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये
परपक्षनिर्जयाध्यायः पञ्चमः।

अथ षष्ठोऽध्यायः

तन्त्र के प्रथम तीन अध्यायों में सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में उन्हीं अर्थों को कतिपय आख्यायिकाओं व उदाहरणों के द्वारा पुष्ट किया गया। मूल सिद्धान्तों के विषय में उद्भावित विरोधी भावनाओं का पञ्चमाध्याय में–विरोधी भावनाओं के प्रत्याख्यान के साथ–विवेचन किया गया। अध्याय के अन्त में भूतादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का उपपादन किया है। उसी प्रसंग को उठाता हुआ सूत्रकार छठे अध्याय का प्रारम्भ करता है—

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥१॥

[अस्ति] है [आत्मा] चेतनतत्त्व जीवात्मा [नास्तित्वसाधनाभावात्] न होने के साधनों के अभाव से (अर्थात् बाधकप्रमाण के न होने से)।

किसी भी वस्तु का होना न होना उसके साधनों–प्रमाणों पर आधारित होता है। साधक प्रमाण होने पर वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, और बाधक प्रमाण होने पर वस्तु का अभाव सिद्ध होता है। आत्मा के अस्तित्व के साधक प्रमाणों का प्रथम अध्याय [सूत्र १०४ से अध्याय समाप्ति तक] में विस्तार के साथ उपपादन किया गया है। बाधक प्रमाणों के अभाव का निर्देश इस सूत्र से किया है। कोई भी बाधक प्रमाण न होने से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाना चाहिए। जिन बाधक प्रमाणों की संभावना की जासकती है, 'सांख्यसिद्धान्त' के 'पुरुष' नामक प्रकरण में सांख्यरीति पर उनका विशद विवेचन किया गया है ॥१॥

'मैं हूँ' अथवा 'मैं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को होती है, जो आत्मा के अस्तित्व की द्योतक है। इससे आत्मा के होने में कोई विवाद नहीं, पर वह आत्मा देहादि से अतिरिक्त है, इसमें सन्देह होसकता है। आचार्य इस विषय का निर्धारण करता है—

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥२॥

[देहादिव्यतिरिक्तः] देह आदि से भिन्न है [असौ] वह आत्मा [वैचित्र्यात्] विलक्षण होने से।

वह आत्मा देह इन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि से अतिरिक्त–भिन्न है, क्योंकि वह इन सबसे विचित्र–विलक्षण जाना जाता है। देह आदि समस्त पदार्थ

परिणामी जड़ एवं नश्वर हैं, परन्तु आत्मा अपरिणामी चेतन एवं नित्य रहता है। देहादि पदार्थ भोग्य अथवा भोग के साधन हैं, पर आत्मा भोक्ता रहता है। आत्मा अपरिणामी है, यह हम प्रमाण से जानते हैं। यह देखा जाता है, कि चक्षु रूप का ग्रहण करता है सन्निकर्ष समान होने पर भी वह रसादि का ग्रहण नहीं करसकता। इसप्रकार आत्मा उसी विषय की अनुभूति कर पाता है, जो बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित हुआ है। इन्द्रियद्वारा बुद्धिगत हुआ विषय आत्मा को अनुभूत होपाता है, स्वत: आत्मा अन्य किसी विषय का अनुभव नहीं कर सकता। यदि ऐसा होता, तो प्रतिक्षण प्रत्येक विषय का अनुभव आत्मा को होता रहना चाहिए था, क्योंकि प्रत्येक विषय के साथ उसका सन्निकर्ष अथवा असन्निकर्ष समान होता। इसका तात्पर्य यह है, कि इन्द्रिय द्वारा विषयाकार परिणाम बुद्धि तक पर्यवसित रहता है। इससे आत्मा का अपरिणामित्व स्पष्ट होता है। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि शब्दप्रमाण भी उसे देहादि से व्यतिरिक्त अपरिणामी सिद्ध करता है। देहादि प्राकृत पदार्थों का पारार्थ्य (दूसरे के लिए होना) भी चेतन आत्मा को इनसे अतिरिक्त सिद्ध करता है ॥२॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार व्यावहारिक दृष्टि से एक और हेतु उपस्थित करता है—

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥३॥

[षष्ठीव्यपदेशात्] छठी विभक्ति के व्यवहार से [अपि] भी।

मेरा यह शरीर है, मेरी बुद्धि अच्छी है—इत्यादि रूप में षष्ठी विभक्ति के साथ देहादि का व्यपदेश किया जाता है। 'मैं देह हूं' मैं बुद्धि हूं' ऐसा कोई नहीं कहता। यह षष्ठी विभक्ति का व्यवहार वस्तुओं का भेद होने पर घटित होता है। इसलिए 'मैं' और 'देह' का भेद होने पर वैसा व्यवहार संभव है। इस कारण से भी आत्मा को देहादिरूप नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु 'मैं स्थूल हूं' 'मैं कृश हूं' यह व्यवहार विद्वानों में भी देखा जाता है। स्थूल और कृश शरीर होसकता है, आत्मा नहीं। तब 'मैं' पद से कहा जाने वाला देह समझना चाहिए। तब क्या वही आत्मा होगा? वस्तुत: ऐसा समझना ठीक नहीं। क्योंकि शब्दप्रमाण तथा समाधिजन्य प्रत्यक्ष से भी इस अर्थ की बाधा होजाती है। देह आत्मा है, यह कथन असंगत होजाता है। उन प्रमाणों के द्वारा देहाद्यतिरिक्त चेतन आत्मा का बोध होता है। तब 'मैं स्थूल हूं' इत्यादि व्यवहार को गौणरूप समझना चाहिए, यह किसी वास्तविक अर्थ को प्रस्तुत नहीं करता। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है, जहां एक वस्तु दूसरी से सर्वथा भिन्न है, वहां भी गौण अथवा अवास्तविकरूप में अभेद व्यवहार होजाता है। देवसेन का पुत्र भद्रसेन है, दोनों पिता-पुत्र सर्वथा भिन्न हैं, पर मोहवश पिता यह व्यवहार करता है—भद्रसेन मेरी ही आत्मा है। पुत्र आदि

के मर जाने पर 'हाय ! मैं मर गया' ऐसा साधारण व्यवहार लोक में देखा सुना जाता है, जो सब अज्ञान के कारण है। इसीप्रकार अपने मकान, सम्पत्ति, खेत, पशु आदि के लिए भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है, पर वह सब किसी वास्तविक अर्थ को प्रस्तुत नहीं करता ॥३॥

पहले सूत्र में बताया, कि षष्ठी का व्यवहार भेद में होता है, पर ऐसा नहीं। अभेद में भी षष्ठीव्यवहार देखा जाता है। पुरुष स्वयं चेतन कहा जाता है, वहां प्रयोग होता है— 'पुरुषस्य चैतन्यम्—पुरुष का चैतन्य' इसीप्रकार राहु का अस्तित्व' केवल एक सिर के रूप में बताया जाता है, फिर भी प्रयोग होता है— 'राहोः शिरः—'राहु का सिर'। पत्थर का पुतला उससे अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, फिर भी कहा जाता है—'शिलापुत्रकस्य शरीरम्'। जब अभेद में भी षष्ठीव्यपदेश होता है, तो 'ममेदं शरीरम्' मेरा यह शरीर है—यहां भी अभेद में षष्ठी मान लेनी चाहिए, तब देह को ही आत्मा मान लेना होगा, उससे अतिरिक्त नहीं। आचार्य समाधान करता है—

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥

[न] नहीं [शिलापुत्रवत्] पत्थर के पुतले के समान ('मेरा यह शरीर है' यह व्यवहार), [धर्मिग्राहकमानबाधात्] धर्मी—आत्मा के साक्षात् जाननेरूप प्रमाण के द्वारा बाधा होने से।

'शिलापुत्रकस्य शरीरम्, राहोः शिरः' इत्यादि प्रयोगों के समान 'मेरा यह शरीर है' (ममेदं शरीरम्) यहां पर भी 'मैं' और 'शरीर' को एकरूप प्रतिपादित करना संगत नहीं है। क्योंकि 'मैं'-धर्मी का साक्षात्कार होने पर उस 'मैं' के ग्राहक प्रमाण से उस अवस्था में 'शरीर आत्मा है' इसकी बाधा होजाती है। आत्मा का बोध होने पर शरीर उसकी बराबरी में नहीं आपाता। उस समय आत्मा और शरीर का स्पष्ट भेद प्रतीत होता है। इसलिए वहां (ममेदं शरीरम्—में) अभेद में षष्ठी का माना जाना संगत नहीं कहा जासकता। स्पष्ट है, कि 'मेरा देह' यह व्यवहार स्वस्वामिभाव को लेकर होता है, वह स्वाम्य भी नश्वर है, तब देह को आत्मा कहना तो दूर की बात है। इसप्रकार देहादि से अतिरिक्त अपरिणामी नित्य चेतन आत्मा सिद्ध होता है ॥४॥

देहादि से अतिरिक्त चेतन आत्मा की मुक्ति का अवधारण करता है—

अत्यन्तदुःखनिवृत्या कृतकृत्यता ॥५॥

[अत्यन्तदुःखनिवृत्या] अत्यन्तदुःखनिवृत्ति के द्वारा [कृतकृत्यता] पूर्ण-सफलता—मुक्ति होजाती है।

त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति से आत्मा की कृतकृत्यता सम्पन्न हो-जाती है। आत्मा का प्रकृति के सम्पर्क में आना देहादि का धारण करना भोग और

अपवर्ग के लिए होता है। कर्मानुरूप भोगों को भोगता हुआ आत्मा अध्यात्मदिशा में प्रवृत्ति होने पर जब स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब यह कृतार्थ होजाता है, अपने लक्ष्य को पूरा कर लेता है। अनेक प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तो भोग-काल में भी होती रहती है, पर दूसरे दुःख फिर सामने आजाते हैं। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर प्रकृति के साथ संपर्क आत्मा का नहीं रहता, तब दुःखों का क्रम अतिकाल के लिए समाप्त होजाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। यह पूर्ण पुरुषार्थ है ॥५॥

दुःखनिवृत्ति के साथ सुख भी चला जाता है, तब तो यह सौदा कुछ अच्छा नहीं रहा। तब दुःख की निवृत्ति को मुक्ति न मानकर सुख की प्राप्ति को मुक्ति क्यों न माना जाए ? दुःख सुख दोनों की निवृत्ति तो पुरुषार्थ नहीं होना चाहिए ? आचार्य समझाता है—

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥

[पुरुषस्य] पुरुष की [यथा] जैसे [दुःखात्] दुःख के विषय में [क्लेशः] कष्ट या द्वेष (की भावना रहती है) [न तथा] वैसे नहीं रहती [सुखात्] सुख के विषय में [अभिलाषः] अभिलाषा।

सूत्र में 'दुःखात्' और 'सुखात्' पञ्चमी विभक्ति विषय अर्थ में समझनी चाहिए। 'क्लेश' पद का अर्थ द्वेष है। जिसप्रकार पुरुष को दुःखविषयक प्रबल द्वेष होता है, वैसा सुखविषयक अभिलाष नहीं होता। चारों ओर दुःख का प्रसार होने से उसके प्रति प्रतिकूल भावना पुरुष में प्रबलता से जागृत होती है। इसलिए दुःख-मात्र की निवृत्ति में पुरुषार्थ की वास्तविकता है। दुःखनिवृत्ति होजाने पर आगे कुछ हो या न हो, इसमें उसकी भावना नहीं रहती। सांख्य में 'सुख' पद वैषयिक अनुकूलताओं का बोध कराता है, उनका प्राप्त होना 'भोग' रूप पुरुषार्थ में अन्तर्हित रहता है, मोक्ष में नहीं। फलतः मोक्षरूप परमपुरुषार्थ दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति में पर्यवसित है, वहां सुख की अभिलाषा होना मोक्ष की स्थिति को दूर हटाना है ॥६॥

फिर भोग के रूप में सुख की मात्रा संसार में अत्यल्प है—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥७॥

[कुत्र-अपि] कहीं ही [कः-अपि] कोई ही [सुखी-इति] सुखी देखा जाता है।

कहीं कोई ही सुखी होता है। भोग की दृष्टि से सुख का साधन 'अर्थ' (—धन सम्पत्ति) समझा जाता है। अर्थ की प्राप्ति में क्लेशों का पुञ्ज सदा सामने उपस्थित रहता है। किसी कवि ने कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।

आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान् ।।

अर्थ के संग्रह, रक्षा, आय-व्यय आदि प्रत्येक अवस्था में कष्ट का सामना करना पड़ता है। सुखलाभ की भावना से अर्थ के पीछे दौड़ते हुए संसार के समस्त संघर्षों का मूल आधार इसीको समझना चाहिए। इसलिए दुःखनिवृत्ति की भावना के साथ मुमुक्षु के लिए ऐसे सुख के प्रति हेय भावना ही अपेक्षित रहती है। दुःखों की अनन्तराशि में वह सुख की बूंद कभी किसीको मिल कहां पाती है। प्रत्येक संसारी व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में अपने-आपको दुःखी ही कहता सुनता देखा जाता है।

अनिरुद्ध की व्याख्या में सूत्र के 'सुखीति' पाठ के स्थान पर 'सुखी न' पाठ मिलता है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। पहले अर्थ में भाव यही है, कि संसार में सुख की मात्रा बहुत न्यून है। 'न' घटित पाठ में स्पष्ट ही सुख के अधिक अस्तित्व का निषेध है। सूत्र का 'इति' पद हेतु अर्थ में है, उसका सम्बन्ध आगे के साथ होजाता है ।।७।।

क्योंकि संसार में कहीं कोई सुखी देखा जाता है, इसलिए—

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।।८।।

[तत्-अपि] वह सुख भी [दुःखशबलं–इति] दुःखों से घिरा रहता है, इसलिए उसको [दुःखपक्षे] दुःख पक्ष में [निःक्षिपन्ते] डाल देते हैं [विवेचकाः] विवेकी पुरुष।

वह सुख भी सदा दुःखों से संमिश्रित रहता है, विवेकी पुरुष दुःखपक्ष में उसका समावेश करते हैं। कोई सुख की मात्रा संसार में दुःख से सर्वथा अलग रहकर शुद्धरूप में प्राप्त नहीं होपाती, क्योंकि वह सुख का कण अपने साथ दुःखों के विशाल राशिपुञ्ज को लेकर आता है, इसलिए विवेकी पुरुष उस सुखकणिका की गणना दुःख में करते हैं। इसप्रकार दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति में मोक्षरूप पुरुषार्थ का स्वारस्य है। अनिरुद्धवृत्ति में 'निक्षिपन्ते' क्रियापदपाठ है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं ।।८।।

केवल दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष को पुरुषार्थ नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को जहां 'मैं दुःखी न होऊं' यह भावना रहती है, वहां 'मैं सुखी होऊं' यह भावना भी बराबर रहती है। इस रूप में मोक्षस्थिति को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने कहा —

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ।।९।।

[सुखलाभाभावात्] सुख प्राप्ति के अभाव से [अपुरुषार्थत्वं] अपुरुषार्थ है (मोक्ष) [इति चेत्] ऐसा कहे, तो वह [न] ठीक नहीं, [द्वैविध्यात्] दोनों प्रकार होने से।

मोक्ष में सुख का लाभ न होने से उसे अपुरुषार्थ कहना युक्त नहीं है। वस्तुतः 'सुख' पद विषयों से प्राप्त होनेवाली आपाततः प्रतीयमान अनुकूलताओं का बोध कराता है। मोक्ष में भी वैषयिक अनुकूलताओं की प्राप्ति मानी जाए, तो वह मोक्ष न रहकर भोग की अवस्था होगी। यद्यपि भोग भी पुरुषार्थ है, पर परमपुरुषार्थ मोक्ष ही है। वहां वैषयिक सुखभोग न होने पर भी वह अपुरुषार्थ क्यों नहीं है? आचार्य ने बताया—मोक्ष में द्वैविध्य–दोनों प्रकारों का अस्तित्व है। दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति के साथ-साथ जीवात्माओं को परब्रह्म परमात्मा के आनन्दरूप का साक्षात् अनुभव होता है। उस आनन्दानुभव की समता कोटि-कोटि वैषयिक सुखों के राशिपुञ्ज भी नहीं कर सकते। मोक्षरूप पुरुषार्थ में उसका नाम लेकर गणना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति होने पर उसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। उस अवस्था में ब्रह्मानन्दानुभव को कोई शक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती। इसलिए मोक्षरूप पुरुषार्थ का स्वरूप केवल दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति कह दिया गया है।

अथवा सूत्र का यह अर्थ भी किया जासकता है–मोक्ष में सुख की प्राप्ति न होने से मोक्ष अपुरुषार्थ है, ऐसा कहना ठीक न होगा; क्योंकि पुरुषार्थ दो प्रकार का कहा गया है–भोग और मोक्ष। वैषयिक सुखों का प्राप्त होना भोगरूप पुरुषार्थ है, जो आत्मा की संसारअवस्था अथवा बन्धअवस्था बताई गई है। इसके अतिरिक्त वह अत्यन्तपुरुषार्थ है, जहां सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति होजाती है, वह मोक्षरूप पुरुषार्थ कहा जाता है। इसप्रकार दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति की अवस्था भी पुरुषार्थ अवश्य है, भले ही वहां वैषयिक सुखों की प्राप्ति न हो ॥९॥

सांख्य में आत्मा को निर्गुण माना गया है, फिर उसकी दुःखनिवत्ति का क्या अभिप्राय? इस भावना से आशंका करता है—

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः ॥१०॥

[निर्गुणत्वं] निर्गुण होना स्पष्ट होता है [आत्मनः] आत्मा का [असंगत्वादिश्रुतेः] असंग है आत्मा, इत्यादि श्रुति से।

'असंगो ह्ययं पुरुषः' 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि आर्षवाक्यों के अनुसार आत्मा को निर्गुण माना जाता है। सुख-दुःख-मोहरूप सत्त्व, रजस्, तमस् सांख्य में गुण हैं। आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न है। वह स्वभावतः सुख-दुःख से रहित है, फिर उसके लिए दुःख की निवृत्ति का तात्पर्य क्या होसकता है? इसलिए पुरुषार्थ का स्वरूप दुःखनिवृत्ति कहना असंगत होगा ॥१०॥

आचार्य समाधान करता है—

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥११॥

[परधर्मत्वे–अपि] अन्य का धर्म होने पर भी [तत्सिद्धिः] सुखादि

की अनुभूति होती है (आत्मा को) [अविवेकात्] अविवेक के कारण।

सुख-दुःख आदि विकार सत्त्व, रजस् के हैं, यह ठीक है, परधर्म होने पर भी अर्थात् सत्त्व, रजस् का विकार होने पर भी उनकी अनुभूति (तत्सिद्धिः) आत्मा को होती है। इसका कारण अविवेक है। आत्मा को जबतक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, वह प्रकृति के संपर्क में बना रहता है, यह उसकी अविवेक अवस्था है। यह भी पुरुषार्थ का एक रूप है, और यह भोग-स्थिति है। इसमें सब प्रकार के सुख-दुःख आदि की अनुभूति आत्मा को होती रहती है। परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए इस अविवेक की अवस्था को हटाकर आत्मसाक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त करना होता है। स्वभावतः गुणातीत आत्मा की यही अवस्था दुःखों से अत्यन्त-निवृत्ति की कही जाती है। इसी अभिप्राय से परमपुरुषार्थ का स्वरूप दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति माना गया है॥११॥

आत्मा के साथ गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) का सम्बन्ध अविवेकमूलक है, पर आत्मा को अविवेक होने का मूल क्या है ? सूत्रकार ने कहा—

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः॥१२॥

[अनादिः] अनादि है [अविवेकः] अविवेक [अन्यथा] ऐसा न मानने पर [दोषद्वयप्रसक्तेः] दो प्रकार के दोष प्राप्त होजाने से।

आत्मा के साथ अविवेक का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आता है। यदि ऐसा न माना जाए, और यह समझा जाए कि अविवेक का आरम्भ किसी विशेष काल से हुआ है, तो इसमें दो दोषों की प्राप्ति होजाती है। प्रथम इसको विना कारण के कहीं से प्रारम्भ हुआ माना जाए, तो मुक्त अवस्था में रहते हुए आत्माओं को भी अविवेक की प्राप्ति होकर बन्ध अवस्था में आजाना चाहिए, जो प्रामाणिक नहीं है। दूसरे यदि अविवेक के कारण की खोज करते हुए इसे कर्मजन्य माना जाता है, तो उस कर्म का कोई कारण बताना होगा, और वह अविवेकरूप होगा, फिर उसके भी किसी अन्य कारण की खोज करनी होगी, इसप्रकार अनवस्था दोष स्पष्ट सामने आजाएगा, फलतः अविवेक को अनादि मानना युक्ति-युक्त है।

अविवेक कोई एक व्यक्तिरूप अनादि तत्त्व है, ऐसी बात नहीं है। जड़ और चेतन के अथवा प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार न होना ही अविवेक है। पर वस्तुतः यह ज्ञान का अभाव नहीं, प्रत्युत यह एक प्रकार का वृत्तिरूप ज्ञान ही है, जिसमें चेतनाचेतन के असंसर्ग का अग्रहण भासित होता है। अर्थात् जड़-चेतन के वास्तविक असंसर्ग का न जानना, उस ज्ञान का विषय रहता है। यह अविवेक इसप्रकार व्यक्तिरूप से अनादि न होकर प्रवाह से अनादि है। आत्मा के साथ इसका प्रवाह अनादिकाल से चला आरहा है। जबतक आत्मज्ञान न होजाए, इसकी

स्थिति बराबर बनी रहती है, प्रलयकाल में भी आत्मा के साथ वासनारूप से यह अवस्थित रहता है॥१२॥

यह अविवेक आत्मा के समान एक व्यक्तिरूप से अनादि मानाजाकर नित्यरूप नहीं है, इस वास्तविकता को सूत्रकार स्पष्ट करता है—

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥१३॥

[न नित्यः स्यात्] नित्य नहीं है अविवेक [आत्मवत्] आत्मा के समान (जैसा आत्मा नित्य है वैसा यह नहीं है) [अन्यथा] यदि ऐसा न मानें तो इसका [अनुच्छित्तिः] उच्छेद न हो।

आत्मा के समान अविवेक अनादि अनन्त एकरूप रहता हुआ नित्य नहीं है। जैसा आत्मा अनादि अनन्त एक व्यक्तिरूप नित्य है, वैसा अविवेक नहीं है। यदि अविवेक को वैसा माना जाए, तो उसका फिर कभी उच्छेद न होगा। आत्मा फिर सदा बन्धन में बना रहेगा, किसी भी अवस्था में उसका मोक्ष होना संभव नहीं। सूत्र में 'आत्मवत्' दृष्टान्त प्रकृति का उपलक्षण है। प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त सब पदार्थों को सांख्य में अनित्य माना गया है। आत्मा कूटस्थ-नित्य है, प्रकृति परिणामि-नित्य है। अविवेक की नित्यता प्रकृति के समान भी नहीं है। अभिप्राय यह है, कि अविवेक न कूटस्थ-नित्य है, न परिणामि-नित्य, वह अनित्य समझना चाहिए। पर उसका प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। जबतक आत्मज्ञान न होजाएगा, चलता रहेगा ॥१३॥

बन्धकारण अविवेक का नाश कैसे होता है? सूत्रकार ने बताया—

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥१४॥

[प्रतिनियतकारणनाश्यत्वं] विरोधी नियत कारण से नाश होता है [अस्य] इस अविवेक का [ध्वान्तवत्] अन्धकार के समान।

अपने विरोधी नियत कारण से अविवेक का नाश होता है। अन्धकार के समान, जैसे अन्धकार का नाश अपने विरोधी नियत कारण प्रकाश के द्वारा होता है, इसीप्रकार अविवेक का नाश अपने विरोधी विवेक के द्वारा होता है। प्रकृति-पुरुष अथवा जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार ज्ञान होजाना विवेक है, उसके होनेपर अविवेक निवृत्त होजाता है। तमःप्रकाश का नाश्यनाशकभाव जिसप्रकार अन्वयव्यतिरेक से जाना जाता है, इसीप्रकार अविवेक और विवेक का भी ॥१४॥

इसी बात को सूत्रकार ने कहा—

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥१५॥

[अत्र-अपि] यहां पर (अविवेक-विवेक में) भी [प्रतिनियमः] नियत विरोधी भाव—नाश्यनाशकभाव जाना जाता है [अन्वयव्यतिरेकात्] अन्वय-व्यतिरेक से।

ध्वान्त और आलोक के समान अविवेक और विवेक का भी नाश्यनाशक-भाव अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध होता है। शुक्तिरजतादिस्थल में उस अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण देखा जाता है। जब शुक्ति में रजत का ज्ञान होजाता है, वह अविवेक है। अनन्तर यह ज्ञान होजाने पर कि 'यह रजत नहीं, प्रत्युत शुक्ति है' पहले अविवेकरूप रजतज्ञान का नाश होजाता है। इसीप्रकार देहादि में आत्मा का ज्ञान अविवेक है, अनन्तर यम नियमादि साधनों द्वारा समाधिलाभ होजाने पर आत्म-साक्षात्काररूप विवेक से अविवेक का नाश होजाता है।

सूत्र की व्याख्या इसप्रकार भी की जाती है—जैसे अविवेकनाश का कारण विवेक है, वैसे विवेक का कारण क्या होगा? सूत्रकार ने बताया, विवेक का निश्चित कारण अन्वयव्यतिरेक से जान लेना चाहिए। उसके कारण हैं—आत्म-विषयक श्रवण मनन निदिध्यासन यम नियमादि के पालन द्वारा समाधिलाभ, इसके होने पर आत्मानात्मविवेक होता है, न होने पर नहीं होता ॥१५॥

आत्मा के बन्ध का कारण केवल अविवेक है, इस अर्थ को दृढ़ करने के लिए ऋषि ने कहा—

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः ॥१६॥

[प्रकारान्तरासंभवात्] अन्य किसी प्रकार के संभव न होने से [अविवेक-एव] अविवेक ही [बन्धः] बन्ध है अर्थात् बन्ध का कारण है।

प्रथम अध्याय के प्रारम्भ [१।७-१८] में बन्ध के कतिपय सम्भावित निमित्तों का उल्लेख किया गया है। उन सब विभिन्न प्रकारों के—बन्ध के कारण रूप में—संभव न होने से केवल अविवेक बन्ध का कारण समझना चाहिए। सूत्र में 'अविवेके' यह सप्तम्यन्त पद होने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है। प्रथमान्त पद मानने पर कार्यकारण की अभेद भावना से—अविवेक ही बन्ध है—ऐसा कहना होगा। यह केवल कहने की रीति का भेद है। अर्थ-प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं ॥१६॥

मुक्ति विवेकसाध्य होने के कारण वह अवस्था सत्वर परिवर्त्तनशील होनी चाहिए, तब मुक्त पुरुष भी सतत बन्धन में आजाएगा। सूत्रकार ने कहा—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥१७॥

[न] नहीं होना [मुक्तस्य] मुक्त आत्मा का [पुनः] फिर उस अवस्था में [बन्धयोगः अपि] बन्धयोग भी [अनावृत्तिश्रुतेः] अनावृत्तिश्रुति से।

मुक्त आत्मा का उस अवस्था में पुनः बन्ध के साथ योग नहीं होता। आत्म-साक्षात्कार न होने पर केवल अविवेक अवस्था में आत्मा देहादि के साथ सम्बन्ध या असम्बन्धरूप जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर घूमता रहता है, पर विवेक हो-जाने पर यह अवस्था नहीं रहती। तब आत्मा ब्रह्मानन्द में लीन रहकर सत्वर

जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। 'न च पुनरावर्त्तते' [छा० ८।१५] आदि शब्दप्रमाण के आधार पर उस अवस्था में जन्म-मरण का चक्र आवर्त्तित नहीं होता ॥१७॥

व्यतिरेकी रूप से उसी अर्थ को दृढ़ करता है—

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥१८॥

[अन्यथा] नहीं तो [अपुरुषार्थत्वं] मोक्ष अपुरुषार्थ होजाएगा।

यदि उस अवस्था में भी जन्म-मरण का क्रम प्रवर्त्तित रहता है, तो मोक्ष परमपुरुषार्थ ही न रहेगा। वह चालू संसार के समान होजाएगा, फिर उसके लिए शम दम आदि साधन यम नियम आदि का अनुष्ठान तथा समाधिलाभ आदि सब व्यर्थ हैं। अतः वह अवस्था संसार से अत्यन्त विशिष्ट होती है ॥१८॥

मोक्ष को भी संसार के समान मानने से अपुरुषार्थ होने पर—

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥१६॥

[उभयोः] बन्ध और मोक्ष दोनों में [अविशेषापत्तिः] समानरूपता प्राप्त होजाएगी।

बद्ध और मुक्त आत्माओं की अवस्था में किसीप्रकार की विशेषता न रहेगी। तब उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय विधान सब व्यर्थ होंगे, और शास्त्र भी निष्फल। विविधता और आपातरमणीय आकर्षणों से परिपूर्ण इस संसार में आत्मा का अपने आपको पहचान लेना परमपुरुषार्थ है। वह उसे प्राप्त-कर एक असाधारण अवस्था में चला जाता है, जहां संसार की पहुंच नहीं। यह उन अवस्थाओं की परस्पर विशेषता है, जो आवश्यक है ॥१६॥

यदि बद्ध और मुक्त अवस्था में ऐसी विशेषता मानी जाती है, तो आत्मा को सांख्य में नित्यमुक्त कैसे कहा गया है ? दोनों अवस्थाओं में उसे तो एकरूप रहना चाहिए। सूत्रकार ने कहा—

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥२०॥

[मुक्तिः] मोक्ष, [अन्तरायध्वस्तेः] अन्तरायों के ध्वंस होने से [परः] अतिरिक्त अन्य कुछ [न] नहीं।

विघ्न-बाधाओं का नाम अन्तराय है। उनका ध्वंस—विनाश होजाने से परे और कोई मुक्ति नहीं है। नित्यमुक्त आत्मा के स्वरूपसाक्षात्कार में जो विघ्न बाधा हैं, उन्हीं को यहां अन्तराय पद से कहा है। ऐसा महान अन्तराय अविवेक है। यद्यपि योगदर्शन में व्याधि,स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि अनेक अन्त-रायों का उल्लेख किया है, पर वह सब अविवेक का विस्तार—फैलाव है। मुख्य आधारभूत अन्तराय अविवेक है। इसका बने रहना आत्मा का बन्ध और इसका हटजाना आत्मा का मोक्ष है। वस्तुतः बन्ध और मोक्ष व्यवहार की वस्तु है, अथवा

एक अवस्थामात्र है। आत्मा का स्वरूप तो सदा एकरूप रहता है, उसमें किसी तरह के विकार या परिवर्त्तन की सभावना अशक्य है। इसलिए आत्मा को नित्य-मुक्त कहना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं। उसके लिए बन्ध और मोक्ष का व्यवहार अविवेक एवं विवेक के कारण होता है। जपाकुसुम (गुड़हल का फूल) के सहयोग से लाल प्रतीत होता हुआ स्फटिक वस्तुतः श्वेत बना रहता है, इसीप्रकार दुःखाद्यनुभूतिकाल में बद्ध भी आत्मा के वास्तविक चैतन्य–दुःखादि से असंश्लिष्ट स्वरूप–में कोई अन्तर नहीं आता। बन्ध अवस्था का बाह्य आवरण अविवेक हटजाता है, तब उसे मुक्त कहाजाने लगता है। वस्तुतः वह सदा मुक्त है। बन्ध और मोक्ष अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी आत्मा में किसीप्रकार का अन्तर नहीं आता ।।२०।।

पहले दुःखध्वंस का नाम पुरुषार्थ या मोक्ष कहा है, यहां अन्तरायध्वंस को मोक्ष बतारहे हैं, क्या इसमें विरोध नहीं ? अथवा यदि बन्ध-मोक्ष व्यवहारमात्र होने से मिथ्या हैं, तो मोक्ष की पुरुषार्थता कैसे ? सूत्रकार इस आशंकित विरोध का परिहार करता है—

तत्राप्यविरोधः ।।२१।।

[तत्र-अपि] वैसा मानने पर भी [अविरोधः] कोई विरोध नहीं है।

दुःखध्वंस अथवा अन्तरायध्वंस मोक्ष मानने में कोई विरोध नहीं है। अन्तराय अविवेक का नाम है, जो दुःख का कारण है। अतः कार्यध्वंस अथवा कारण-ध्वंस किसी रूप में भी कहकर मोक्ष का वर्णन किया जासकता है। बन्ध-मोक्ष व्यवस्था के व्यावहारिक होने पर भी उसके अस्तित्व से नकार नहीं किया जा-सकता। जब उसका (बन्ध का) अस्तित्व माना गया तो उसका ध्वंस–विनाश या हटाया जाना अवश्य पुरुषार्थ होगा। पुरुषार्थ तो बन्ध अथवा भोग भी है, पर उस अवस्था का न रहना अत्यन्तपुरुषार्थ अथवा परमपुरुषार्थ है। इसलिए इनको व्यवहाररूप मानने पर भी इनकी पुरुषार्थता में किसी तरह के विरोध की आशंका करना व्यर्थ है ।।२१।।

यदि अन्तराय या अविवेक का नाश मुक्ति है, तो वह आत्मज्ञान के श्रवण-मात्र से सम्पन्न होजाना चाहिए। जैसे गले में बंधा हुआ अज्ञात सुवर्ण का कण्ठा कथनमात्र से अवगत होजाता है। आत्मज्ञान के लिए मनन निदिध्यासन आदि की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। आचार्य ने बताया—

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।२२।।

[अधिकारित्रैविध्यात्] तीन प्रकार के अधिकारी होने से [नियमः] नियम [न] नहीं है।

आत्मज्ञान के अधिकारी तीन प्रकार के बताए गए हैं—उत्तम, मध्यम और

अधम, अथवा मन्द, मध्य और तीव्र। यह नियम नहीं, कि प्रत्येक अधिकारी को श्रवणमात्र से आत्मज्ञान होजाए। जो जन्मान्तर के आत्मसंस्कारों से युक्त हैं, ऐसे उत्तम अथवा तीव्र संस्कारी व्यक्तियों को श्रवणमात्र से आत्मज्ञान होजाता है। अन्यों को ऐसा नहीं होता, उन्हें मनन निदिध्यासन, यम नियमादि का पालन समाधिलाभ के लिए अन्य आवश्यक साधनों का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान अपेक्षित रहता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं, कि प्रत्येक अधिकारी को श्रवण-मात्र से आत्मज्ञान होजाए। इससे आत्मज्ञान के प्रति श्रवण का असामर्थ्य द्योतित नहीं होता ॥२२॥

श्रवणमात्र से जिनको विवेकज्ञान दृढ़ नहीं हुआ, उन्हें उसकी दृढ़ता के लिए क्या करना चाहिए ? आचार्य ने बताया—

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥२३॥

[दाढर्चार्थं] दृढ़ता के लिए [उत्तरेषां] श्रवण से अगले मनन निदिध्या-सन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

केवल श्रवण से विवेकज्ञान होने पर और अन्तरायों का ध्वंस होने पर यह संभव होसकता है, कि कोई संस्कारशेष अन्तराय फिर उभर आवे, और अविवेक को बढ़ने का अवसर देदे, इसलिए अन्तराय अथवा अविवेक के ध्वंस की दृढ़ता के लिए मनन निदिध्यासन आदि का अभ्यास व प्रयोग करते हुए समाधि का लाभ करना चाहिए। अधिकारी के मध्य व मन्द होनेके अनुसार उसे दृढ़ समाधिलाभ के लिए पूर्ण प्रयत्न करना आवश्यक होता है ॥२३॥

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमें यदि आसन का अभ्यास न हो, तो ध्यान आदि लगाने में सुविधा नहीं होसकती, इसलिए आसन के विषय में कहा—

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥२४॥

[स्थिरसुखं] स्थिर होने पर सुविधा हो जिसमें वह [आसनं] आसन है [इति] इसलिए [न नियमः] कोई नियम नहीं (आसन के विषय में)।

अभ्यासी को जिस आसन के स्थिर अर्थात् अभ्यस्त होजाने पर सुख-सुविधा का अनुभव हो, वही आसन ठीक समझना चाहिए। पद्मासन लगाकर ही ध्यान करे, अथवा स्वस्तिकासन ही योग के लिए उपयुक्त होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस किसी आसन में स्थिरता की सुविधा हो, उसीका आश्रय कर लेना चाहिए, जिससे ध्यान या समाधि के समय शरीर में रक्तसंचार आदि की किसी-प्रकार की बाधा न हो, देह के सब अंग सुस्थ बने रहें ॥२४॥

ध्यान का स्वरूप क्या है ? सूत्रकार ने बताया—

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥२५॥

[ध्यानं] ध्यान है [निर्विषयं] विषय रहित होजाना [मनः] मन।

आसन की स्थिरता होने पर वाह्य इन्द्रियां अपने विषयों में प्रचरित होने से अवरुद्ध होजाती हैं, अब मन के अवरोध का अवसर आता है। विषयों में अनुराग होने से मन उसी तरह चञ्चल वना रहता है। इन्द्रियां अपने विषयों में प्रवृत्त न भी हों, पर मन की गति उस समय भी विषयों के स्मरण में संलग्न रहती है। अभ्यासी को आवश्यक है, कि मन को विषयानुराग से हटाकर आत्मा के चिन्तन में लगाए, केवल आत्मा के चिन्तन में। जब आत्मा के अतिरिक्त समस्त विषयों से हटकर मन आत्मा में एकतानता की स्थिति को बनाता है, योगी की उसी अवस्था का नाम ध्यान है। इसमें मन बाह्य विषयों से सर्वथा रहित होजाता है, वहां केवल आत्मचिन्तन निरन्तर निर्बाध चलता है ॥२५॥

आत्मा प्रत्येक अवस्था में जब असंग एकरस है, तब ध्यान आदि के लिए प्रयत्नशील होने का क्या प्रयोजन ? सूत्रकार आशंकापूर्वक समाधान करता है—

उभयथाप्यविशेषश्चे न्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥२६॥

[उभयथा-अपि] ध्यान लगने या न लगने दोनों अवस्थाओं में भी [अविशेषः] आत्मा समान है [चेत्] यदि ऐसा कहो, तो यह कहना [न] ठीक नहीं, [एवं] इसप्रकार ध्यान आदि द्वारा [उपरागनिरोधात्] क्लेश आदि के निरोध से [विशेषः] विशेष अवस्था का अनुभव होता है।

ध्यान आदि की अवस्था प्राप्त हो या न हो, दोनों स्थितियों में आत्मा की कोई विशेषता नहीं देखी जाती, वह असंग होने के कारण प्रत्येक अवस्था में समानरूप रहता है, फिर ध्यान या समाधि आदि की क्या आवश्यकता है ? ऐसी आशंका यदि कोई करे, तो सूत्रकार समाधान करता है, कि उसका यह आशंका करना ठीक नहीं, क्योंकि क्लेश कर्म आदि अनेकविध विषयोपराग एवं वासनाओं के निरोध होजाने से आत्मा की विशेष स्थिति का स्वतः अनुभव होता है। यह ठीक है, कि आत्मा सदा असंग एकसमान है, उसमें किसी तरह के विकार या परिणाम की संभावना नहीं, परन्तु अविवेक के कारण जब वह प्रकृति के संपर्क में रहता है, तो विविध क्लेश आदि का अनुभव करता है। यह स्थिति विवेक के होजाने पर नहीं रहती। वह विवेक समाधि आदि के लाभ से प्राप्त होता है, इसलिए ध्यान या समाधि के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। भोग अवस्था में आत्मा के जिस साक्षात्कार का अनुभव नहीं होता, वह ध्यान अथवा समाधि अवस्था में होजाता है, यही उस अवस्था की विशेषता है ॥२६॥

असंग आत्मा में विषयोपराग कैसे होजाता है ? यह बताता है—

निःसङ्गे ऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥२७॥

[निःसंगे-अपि] असंग आत्मा में भी [उपरागः] क्लेशादि विषयों का

सम्बन्ध होजाता है [अविवेकात्] अविवेक से।

निःसंग आत्मा में विषयोपराग अविवेक के कारण होता है। आत्मा अविवेक से प्रकृति के संपर्क में आता है, यही आत्मा का विषयोपराग या भोग अवस्था है। जब प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार होजाता है, तब यह अवस्था नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वरूप में स्थित होता है, वह मोक्ष अवस्था है ॥२७॥

उपराग का स्वरूप क्या है, सूत्रकार स्पष्ट करता है—

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥२८॥

[जवास्फटिकयोः-इव] जवा और स्फटिक के समान (बुद्धि का आत्मा में) [न-उपरागः] उपराग नहीं होता, [किन्तु] परन्तु [अभिमानः] अनुभूतिरूप बोध होता है।

जवा अथवा जपा गुड़हल का नाम है, उसका फूल गहरे लाल रंग का होता है। स्फटिक श्वेत बिल्लौर पत्थर को कहते हैं। जपा का फूल जब बिल्लौर के साथ रख दिया जाता है, तो श्वेत बिल्लौर भी लाल रंग का प्रतीत होता है। यहां जपाकुसुम और स्फटिक के परस्पर संसर्ग से स्फटिक में जपा के वर्ण का जैसा उपराग पड़ता है, वैसा उपराग सत्त्व और पुरुष के संसर्ग से पुरुष में सत्त्व (बुद्धि) का नहीं पड़ता, किन्तु बुद्धि के राग-द्वेष वासना आदि धर्मों का आत्मा को अभिमान होता है। इन्द्रिय और अन्तःकरण साधनों के द्वारा आत्मा बाह्यविषयों की अनुभूति करता है, यही आत्मा में बाह्य का उपराग है। इससे आत्मा के वास्तविक स्वरूप में किसीप्रकार का अन्तर नहीं आता। उसका शुद्ध चैतन्यस्वरूप सदा निर्बाध रहता है, वह केवल बाह्यविषयों का अनुभव करता रहता है। अनिरुद्ध ने सूत्र का पाठ 'जपास्फटिक०' दिया है, अर्थ दोनों का एक है ॥२८॥

उपराग-निरोध का उपाय सूत्रकार बताता है—

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥२९॥

[ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः] ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदि के द्वारा [तत्-निरोधः] उस क्लेशादि उपराग का निरोध होजाता है।

सूत्र में आदि पद से यम नियम आदि साधन तथा विषयों में दोषदर्शन आदि का संग्रह कर लेना चाहिए। सूत्र में निर्दिष्ट पदों की विपरीत क्रम से व्याख्या करनी अपेक्षित है। सूत्रार्थ यह होगा—यम नियम आदि का ततत अनुष्ठान करने से विषयों में दोषदर्शन अर्थात् दोषभावना उत्पन्न होगी। उससे विषयों के प्रति वैराग्य का उदय होगा। विरक्त पुरुष प्राणायामादि का निरन्तर अभ्यास करते हुए, किसी एक देश में चित्त को अवरुद्ध करने का यत्न करता है। जब अन्तःकरण किसी एक देश में निरन्तर रुद्ध होजाता है, उस अन्तराल में अन्य किसी वृत्ति का उदय नहीं होता, उसे धारणा कहते हैं। योगी जब इस अवस्था में पहुंच जाता

है, तब अपने अन्तःकरण को सर्वथा निर्विषय करने का वह यत्न करता है। जब अन्तःकरण में आत्मचिन्तन के अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं उभर पाती, वह ध्यान है। ध्यान अवस्था प्राप्त होने पर समाधिलाभ समीप रहता है। इन उपायों से आत्मा के उपराग का निरोध होजाता है ॥२९॥

क्या ध्यान आदि से सीधा ही उपराग का निरोध होजाता है, अथवा अन्तराल में अन्य किन्हीं स्थितियों के द्वारा ऐसा होता है? सूत्रकार ने बताया—

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥३०॥

[लयविक्षेपयोः] लय और विक्षेप में वृत्तियों की [व्यावृत्त्या] व्यावृत्ति-निराकरण के द्वारा (उपरागनिरोध होता है) [इति-आचार्याः] ऐसा आचार्य मानते हैं।

निद्रावृत्ति का नाम लय है, इसमें समस्त वासना अज्ञान में लीन होजाती हैं। शेष चार प्रकार की वृत्तियां—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति—विक्षेप हैं। ध्यान आदि की अवस्था प्राप्त होजाने पर लय तथा विक्षेप के रूप में जो समस्त वृत्तियां हैं, उनकी व्यावृत्ति के द्वारा पुरुष के उपराग का निरोध होजाता है। अभिप्राय यह है, कि योगी को समाधि का लाभ होने पर पहले समस्त वृत्तियों की व्यावृत्ति होजाती है, उसके अनन्तर पुरुष के उपराग का नाश होता है। यह सांख्याचार्यों का सिद्धान्त है। कपिल का कहना है, कि योगप्रक्रिया के पारंगत आचार्यों का समाधि के विषय में यही विचार प्राचीन काल से चला आया है। और हमारा अर्थात् कपिल का भी वही विचार है ॥३०॥

क्या ध्यान आदि का अभ्यास समाधि प्राप्ति के लिए कहीं स्थानविशेष में करना चाहिए? आचार्य ने बताया—

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥३१॥

[न स्थाननियमः] समाधिलाभ में स्थान का नियम नहीं, वह [चित्तप्रसादात्] चित्तप्रसाद से होता है।

समाधि की प्राप्ति के लिए स्थान का कोई नियम नहीं है, कि अमुक प्रकार के स्थान में ही अभ्यास करने से वैसी अवस्था प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है, कि समाधिलाभ में स्थान कारण नहीं है। प्रत्युत चित्तप्रसाद अर्थात् अन्तःकरण के स्वच्छ निर्दोष होने से समाधिलाभ होता है। यदि चित्त सदोष है, तो कैसा भी स्थान अभ्यास करने का हो, समाधि अवस्था प्राप्त न होगी। यदि अन्तःकरण सर्वथा दोषरहित होचुका है, तो अनायास समाधिलाभ होता है, स्थान चाहे कोई हो। अरण्य-गुहा पुलिन नदीतट आदि का जो वैदिक तथा अन्य साहित्य में अभ्यास आदि के लिए उल्लेख आता है, वह साधारणरूप में एकान्त एवं निर्बाध प्रदेश की भावना से कहा गया है। यह केवल अभ्यास में थोड़ा उपयोगी होता है ॥३१॥

मोक्षविचार यहां तक समाप्त होगया। जिन बुद्धि आदि के संसर्ग से आत्मा को भोगापवर्ग की प्राप्ति होती है, उनके मूलकारण का विचार प्रस्तुत किया जाता है—

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥३२॥

[प्रकृतेः] प्रकृति की [आद्योपादानता] प्रथम उपादानकारणता निश्चित होती है, [अन्येषां] अन्य पदार्थों के [कार्यत्वश्रुतेः] कार्य होने के वेदप्रमाण से।

सब पदार्थों का आद्य उपादान अर्थात् प्रथम मूलकारण प्रकृति है, क्योंकि सब पदार्थ प्रकृति के कार्य हैं, यह शब्दप्रमाण के आधार पर निश्चित होता है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। [श्वे०४।५]
आनीदवातं स्वधया तदेकं। [ऋ० १०।१२९।२]
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् [ऋ० १०।१२९।३]
ब्रह्मणस्पतिरेता संकर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ [ऋ० १०।७२।२]
अदितिर्ह्यजनिष्ट। [ऋ० १०।७२।५]

सत्त्व-रजस्-तमस्रूप प्रकृति से यह संसार उसीरूप में बनाया जाता है। प्रलयकाल में स्वधा—प्रकृति के साथ वह एक अचिन्त्य चेतनसत्ता विद्यमान थी। उस समय सर्वत्र अन्धकार था और समस्त कार्य अपने कारण में लीन थे। आदि सर्ग में उस ब्रह्मणस्पति परमात्मा ने एक शिल्पी के समान उस अदिति—प्रकृति से इस जगत् को उत्पन्न किया, जो पहले कार्यरूप में असत् था वह अब सत् होगया, अथवा अव्यक्त से व्यक्तरूप में आगया। वह अदिति—प्रकृति ही इस जगत् के रूप में परिणत होजाती है। इन आधारों पर प्रकृति सबका मूल उपादान है, यह सिद्ध होता है।

एक अन्य प्रकार से इस सूत्र की व्याख्या की जाती है—प्रकृति का 'आद्य' कार्य महत्तत्व अथवा बुद्धि है [१।३६]। उत्पत्ति के उस क्रम को स्पष्ट और दृढ़ करने के लिए यह सूत्र है। आद्य अर्थात् प्रथम कार्य बुद्धि अथवा महत्तत्व के प्रति प्रकृति की उपादानता है। कारण यह है, कि आद्यकार्य उसी वस्तु से उत्पन्न होसकता है, जो स्वयं किसीका कार्य न हो। क्योंकि प्रकृति के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ कार्य हैं, इसलिए आद्यकार्य के वे उपादान नहीं होसकते। इसप्रकार आद्यकार्य का उपादान प्रकृति होसकता है। आगे के सब कार्य बुद्धिद्वारा उत्पन्न होपाते हैं। बुद्धि से अहंकार एवं अहंकार से मन इन्द्रिय तन्मात्र आदि। समस्त कार्यों का मूल उपादान प्रकृति है, पर प्रकृति को किसी कार्यरूप तक आने के लिए कार्यक्रम को पूरा निभाना पड़ता है। यह संभव नहीं, कि सत्त्व-रजस्-तमस् मूल उपादान से सीधा ही तन्मात्र उत्पन्न होजाएं। तात्पर्य यह है, कि तत्त्वों के प्रादु-

भाव के क्रम में व्यतिक्रम संभव नहीं ॥३२॥

यदि आद्यकार्य महत्तत्त्व का उपादान प्रकृति इसीकारण है, कि वह किसी का कार्य नहीं, तो आत्मा को आद्यकार्य का उपादान क्यों न मान लिया जाए, वह भी तो किसी का कार्य नहीं। सूत्रकार कहता है—

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥३३॥

[नित्यत्वे-अपि] नित्य होने पर भी [न-आत्मनः] आत्मा की उपादानता संभव नहीं [योग्यत्वाभावात्] आत्मा में उपादान होने की योग्यता न होने से।

आत्मा नित्य होने पर भी किसी कार्य का उपादान नहीं होसकता, क्योंकि उसमें उपादान होने की योग्यता नहीं है। उपादानयोग्यता के लिए केवल नित्य होना अर्थात् किसी का कार्य न होना अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत उसका 'गुण' होना एवं सङ्गी होना अर्थात् अन्योन्यमिथुनस्वभाव होना भी आवश्यक है। सत्त्व, रजस्, तमस् में यह सब संभव है, आत्मा में नहीं, वह तो निर्गुण—गुणातीत एवं अपरिणामी है। त्रिगुणात्मक प्रकृति नित्य होने पर भी परिणामस्वभावा है। इसप्रकार कूटस्थ नित्य आत्मा अपेक्षित योग्यता न होने से किसी कार्य का उपादान नहीं होसकता ॥३३॥

प्रकृति के सम्पर्क में आए विना आत्मा स्वतः कर्त्ता व भोक्ता रहता है, अथवा आत्मा में स्वतः उपादानता की योग्यता न रहने पर भी अविद्या आदि के सहयोग से उसमें जगत् के उपादान होने की संभावना होसकती है, इत्यादि विचार आत्मा के विषय में कुतर्क होने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप तक नहीं पहुंचने देते, यह इस सूत्र से बताया—

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥३४॥

[श्रुतिविरोधात्] वेदविरुद्ध होने के कारण [कुतर्कापसदस्य] कुतर्क से अभिभूत व्यक्ति को [आत्मलाभः] आत्मदर्शन [न] नहीं होता।

आत्मा के स्वरूप के विषय में उक्त विचार वेद के विरुद्ध हैं, इसलिए ये सब कुतर्क हैं, सर्वथा निन्दित विचार हैं। जो व्यक्ति इसप्रकार के विचारों से प्रभावित हैं, उन्हें कभी आत्मलाभ नहीं होता, वे आत्मा के वास्तविक स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। वस्तुतः चेतन आत्मा के समस्त भोग और अपवर्ग प्राप्ति के साधन प्रकृति के संपर्क में संभव होसकते हैं। यदि स्वतः उसे यह स्थिति प्राप्त हो, तो सर्गरचना अनावश्यक होजाती है। आत्मा स्वतः गुणातीत है। यह स्थिति भोगरूप संभव नहीं, उसके लिए प्रकृति का संपर्क आवश्यक है। इसीप्रकार आत्मा अविद्या, माया या अन्य किसीके सहयोग अथवा असहयोग से जगत् का उपादान संभव नहीं होसकता, चेतन आत्मा को किसी रूप में उपादान मानने पर वह परि-

णामी होने से बचाया नहीं जासकता। यदि परिणामी माना गया, तो जड़ के समान होजाएगा, तब वह न चेतन रहेगा न गुणातीत। आत्मा का अचेतन या परिणामी स्वरूप कदापि नहीं है। जो आत्मा का ऐसा स्वरूप मानेगा, वह कभी आत्मा की वास्तविकता तक पहुंच नहीं सकता, निस्सन्देह वह आत्मज्ञान के लाभ से सदा वञ्चित रहेगा ॥३४॥

लोक में जितनी रचना देखी जाती है, वह सब पृथिवी आदि भूतों से होती देखी जाती है। तब सब जगत् का कारण प्रधान (प्रकृति) को बताना कहां तक युक्त है? सूत्रकार ने कहा—

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥३५॥

[पारम्पर्ये-अपि] कार्यकारण की परम्परा होने पर भी [प्रधानानुवृत्तिः] प्रधान तक उसकी अनुवृत्ति रहती है [अणुवत्] अणु के समान।

यह ठीक है, कि लोक में जो रचना देखने में आती हैं, उन सबके उपादान पृथिवी आदि भूत तथा अन्य तत्त्व हैं। परन्तु वे सब किसीके कार्य हैं, यह प्रमाणित होता है। तब उनके उपादान कोई अन्य तत्त्व होने चाहिएं। यह कारण की परम्परा प्रधानपर्यन्त अनुवृत्त होती है। तात्पर्य यह है, कि दृश्यादृश्य जगत् की कार्यकारणपरम्परा के जान लेने पर यह आवश्यक है, कि इसका कहीं पर्यवसान हो। यदि ऐसा न माना जाए, तो मेरुपर्वत और सरसों के एक दाने का परिमाण समान होजाना या माना जाना चाहिए, क्योंकि उन दोनों की कारणपरम्परा का कहीं पर्यवसान न होने से दोनों इस बात में एकसमान होंगे। पर यह संभव नहीं, इसलिए कारणपरम्परा का पर्यवसान युक्तियुक्त है। जहां यह पर्यवसान होता है, वह समस्त जगत् का मूल उपादान प्रधान अथवा प्रकृति है। वह अणु के समान कारण की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है। यद्यपि सांख्यदृष्टि से अणु एक कार्यरूप परिणामी तत्त्व है, परन्तु स्थूल जगत् की तुलना से वह अत्यन्त सूक्ष्म और उस स्थूल का उपादान है, इसप्रकार स्थूल जगत् के सूक्ष्म उपादान को पहचानने का यह एक मार्ग है, उसको दृष्टान्तरूप में उपस्थित किया गया। उसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म-स्थिति जो मूल उपादान की है, उसका हम अनुमान कर सकते हैं।

पृथिवी आदि स्थूल कार्यों के सूक्ष्म कारण पृथिव्यादि परमाणुओं को शास्त्रज्ञों द्वारा स्वीकार किया जाता है। पृथिवी-परमाणु एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है जिसमें स्थूल पृथिवी की विशेषताओं को उसीतरह माना जाता है और उसको पृथिवी कहा जाता है। परन्तु सांख्यविचार के अनुसार उसका भी कारण है, या यह कहना चाहिए कि उसका विश्लेषण होसकता है, और वह जिन कारणों से प्रकट में आता है उन्हें जाना जासकता है। योगसूत्र [१।४४] व्यासभाष्य की व्याख्या करते हुए निर्विचारा सविचारा समापत्ति के वर्णनप्रसंग में वाचस्पतिमिश्र ने

तत्त्ववैशारदी में लिखा है—

'पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः। एवमाप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रवर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः। एवं तैजसस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्रप्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः। एवं वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादितन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्याम्। एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मा । तदिदं निमित्तं भूतसूक्ष्माणाम्।'

पार्थिव परमाणु का मुख्य उपादान कारण गन्धतन्मात्र है, और साधारण सहयोगी निमित्त रसतन्मात्र आदि रहते हैं। इसीप्रकार जलीय परमाणु का उपादान रसतन्मात्र है और गन्ध को छोड़कर अन्य रूपतन्मात्र आदि सहयोगी रहते हैं। ऐसे ही आग्नेय अथवा तैजस परमाणुओं की उत्पत्ति गन्धतन्मात्र और रसतन्मात्र को छोड़कर स्पर्शतन्मात्र तथा शब्दतन्मात्र के सहयोग द्वारा रूपतन्मात्र से होती है। इसप्रकार पांचों तरह के परमाणु अपने विभिन्न कारणों से प्रादुर्भाव में आते हैं।

इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि जैसे स्थूलपृथिवी आदि तत्त्व अपने सूक्ष्म उपादानरूप परमाणु तत्त्वों से प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे ही वे सूक्ष्म परमाणुरूप तत्त्व भी अपने अन्य उपादानतत्त्वों से प्रादुर्भाव में आते हैं। स्थूलपृथिवी से सूक्ष्म पार्थिव परमाणु में सूक्ष्मता की विलक्षणता होने पर भी गन्धादिरूप पृथिवी की विशेषता दोनों में समान रहती है, पर इससे आगे और सूक्ष्म की ओर बढ़ने पर इसकी यह बाह्यविशेषता (गन्धादियुक्त होना रूप विशेषता) समाप्त होजाती है। तब वह उपादानतत्त्व केवल 'तन्मात्र रहता है, उसके साथ गन्ध आदि पद उसके कार्य अथवा परिणाम की दृष्टि से लगाए जाते हैं, जिससे एक तन्मात्र का दूसरे से भेद व्यवहार में प्रकट किया जासके। अन्त में यह कारणपरम्परा 'प्रधान'पर जाकर रुक जाती है।योगदर्शन में इसे [१।४५] 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' सूत्र से स्पष्ट किया है। फलतः हम स्थूलकार्य से सूक्ष्मपरमाणु और परमाणु से मूल उपादान प्रधान तक पहुंच जाते हैं। इस रीति पर मूल उपादान प्रधान का निश्चय होता है, जो सत्त्व, रजस्, तमस्-रूप है ॥३५॥

यदि मूल उपादान त्रिगुणात्मक है, तब उसके विभु कहे जाने का क्या कारण है? आचार्य ने बताया—

सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम् ॥३६॥

[सर्वत्र] सब जगह [कार्यदर्शनाद्] कार्य देखे जाने से [विभुत्वं] विभु होना कहा जाता है (मूल उपादान का)।

यद्यपि मूल उपादान तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म परम अणुरूप अथवा तरंगरूप में

कल्पना किए जासकते हैं। परन्तु सर्वत्र कार्यवस्तु के देखे जाने से मूल उपादान को विभु कहा जाता है। कार्य का अस्तित्व कारण के अस्तित्व के विना संभव नहीं। जब कार्य सर्वत्र है, तो कारण को सर्वत्र कहना ही होगा। इसी दृष्टि से मूल उपादानकारण को विभु कह दिया जाता है। मूल उपादान एक व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्याप्त है, ऐसी भावना उसके विभु कहने में नहीं है। सांख्य का यह सिद्धांत गंभीरता पूर्वक विचारयोग्य है ॥३६॥

मूल उपादान में इसप्रकार की विभुता मानने पर उसमें क्रिया आदि का होना असंगत नहीं, यह बताता है—

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥३७॥

[गतियोगे-अपि] क्रिया का सम्बन्ध होने पर भी [आद्यकारणताऽहानिः] मूल उपादानता की हानि नहीं [अणुवत्] अणु के समान।

सर्गादि काल में भगवान् की प्रेरणा से सत्त्व, रजस्, तमस् मूल उपादानों में सर्गोन्मुख क्रिया के होने पर भी उनमें मूल उपादानता की कोई हानि नहीं होती। क्रियायोग मूल उपादानता का विरोधी या बाधक नहीं है। प्रयोग से यह देखा जाता है, कि स्थूल जगत् सूक्ष्म का परिणाम है। पर जहां तक हमारे प्रयोगों की गति है, और हम जिन तत्त्वों को सूक्ष्म समझते हैं, वे भी एकप्रकार से स्थूल हैं, और उनके भी अन्य अधिक सूक्ष्म कारण अनुमान किए जाते हैं। सूत्र के 'अणुवत्' पद से इसी स्थिति को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। सक्रिय भी सूक्ष्म की जिसप्रकार स्थूल के प्रति कारणता अबाधित रहती है, इसीप्रकार मूलकारण में सक्रियता रहते भी उसकी कारणता में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए ॥३७॥

जो पृथिव्यादितत्त्व हमको दृष्टिगोचर होते हैं, क्या मूल उपादान उन्हीं का स्वरूप हैं, या उनसें कुछ विशेषरूप हैं ? सूत्रकार ने बताया—

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥३८॥

[प्रसिद्धाधिक्यं] ज्ञात से कुछ वैशिष्ट्य होता है [प्रधानस्य] प्रधान का [न नियमः] यह नियम नहीं (कि ठीक देखे जैसा ही मूल उपादान हो)।

प्रसिद्ध—दृष्टिगोचर पृथिव्यादि से प्रधान--मूल उपादान का आधिक्य—वैशिष्ट्य ज्ञात होता है। यह नियम नहीं है, कि जैसे पृथिव्यादि तत्त्व इन्द्रियादि द्वारा अवगत होते हैं, ठीक वैसा ही मूल उपादान तत्त्व हो। जगद्रचना के प्रारम्भिक काल में मूल उपादान तत्त्वों से परिणाम की अनेक भूमिकाओं को लांघकर पृथिव्यादिमूलतत्त्व प्रादुर्भाव में आते हैं। इसलिए इन्द्रियगोचर पृथिव्यादि के साथ मूल उपादान की सर्वात्मना समानता संभव नहीं। कार्यकारण में केवल त्रिगुणात्मता की समानता रहती है। कार्यमात्र त्रैगुण्य से बाहर नहीं, जो कारण का रूप है। प्रस्तुत प्रसंग में आशंका की जासकती है, कि यदि कार्य और कारण में इसप्रकार

का वैलक्षण्य स्वीकार किया जाता है, तो चेतनब्रह्म के अचेतन जगत् के विलक्षण परिणाम मान लेने में क्या आपत्ति है ? जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रकृति का स्वीकार करना अनावश्यक है। वस्तुतः चेतन और अचेतन, प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर सर्वथा विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्व हैं, उनमें से किसी भी एक का दूसरे के रूप में परिणत होना संभव नहीं। इसलिए कार्यकारण के वैलक्षण्य के आधार पर अचेतन जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम मानना अप्रामाणिक है।

यदि अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त जगत् के रूप में परिणाम माना जाता है, तो चेतन ब्रह्म का अचेतन परिणाम भी क्यों नहीं होसकता ? चेतन और अचेतन के समान, अव्यक्त और व्यक्त भी परस्पर विरुद्धस्वभाव रखते हैं। यह कथन भी प्रमाण की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। कारण यह है, कि अव्यक्त और व्यक्त का होना एक ही तत्त्व की दो विभिन्न अवस्था हैं, वही तत्त्व प्रकट होने की अवस्था में व्यक्त और अप्रकट होने की अवस्था में अव्यक्त कहा जाता है, परन्तु चेतन और जड़ (अचेतन) के स्वभाव में ऐसी स्थिति नहीं है। यदि इनको भी व्यक्त-अव्यक्त के समान एक ही तत्त्व की दो अवस्था अथवा दो विभिन्न धर्म मान लिया जाए, तो भूतचैतनिकवाद और ब्रह्मैक्य अथवा आत्मैक्यवाद में कोई अन्तर नहीं रहता। चेतनवाद और जड़वाद दोनों एक ही स्तर पर आखड़े होते हैं। तात्पर्य यह है, कि उस अवस्था में—मूलतत्त्व चेतनमात्र है—ऐसा नियमन नहीं किया जासकता। जैसे चेतन के जड़ता व चैतन्य दो धर्म अथवा दो अवस्था मानते हैं, उसीप्रकार जड़तत्त्व के चैतन्य व जड़ता दो धर्म माने जासकते हैं। यदि चेतन का जड़-परिणाम संभव है, तो जड़ का भी चेतन-परिणाम क्यों संभव न होगा। फलतः उक्त व्यवस्था (ब्रह्म से जगत् परिणाम होना) किसी निर्विवाद वास्तविक परिणाम पर पहुंचाने में असमर्थ है, इसलिए कार्य-कारण की विलक्षणता के आधार पर उसे मान्य करना अप्रामाणिक होगा। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि चेतन और अचेतन-स्वभाव के परस्पर सर्वथा विलक्षण दो तत्त्व हैं, जो कभी एक दूसरे के रूप में परिणत नहीं होसकते। इनमें त्रिगुणात्मक अचेतन तत्त्व परिणामी है, चेतन तत्त्व परिणामी नहीं ॥३८॥

क्या सत्त्व रजस् तमस् तीन गुण मूल उपादान के धर्म हैं, अथवा ये मूल उपादानरूप हैं ? सूत्रकार कहता है—

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥३६॥

[सत्त्वादीनां] सत्त्व आदि का [अतद्धर्मत्वं] मूल उपादान के धर्म होना युक्त नहीं [तद्रूपत्वात्] उपादानरूप होने से।

सत्त्व, रजस्, तमस् भूल उपादान के धर्म नहीं हैं, अपितु मूल उपादान-

रूप हैं। ऐसा नहीं है, कि मूल उपादान नाम का कोई अन्य तत्त्व हो, और सत्त्व, रजस्, तमस् नामक उसके तीन धर्म हों। वस्तुतः मूल उपादानतत्त्व जिन तीन वर्ग अथवा तीन प्रकारों में विभक्त हैं, उन्हीं का नाम सत्त्व, रजस्, तमस् है। अतः ये स्वरूपतः मूल उपादानतत्त्व हैं। सांख्य में इनको 'गुण' नाम दिया गया है, जो इनके स्वरूप की विशेषता पर आधारित है। वह विशेषता भोगापवर्ग के प्रति इनके हेतु होने में अन्तर्हित है। ये तीनों मूलतत्त्व अन्योन्यमिथुन होकर जगद्रचना अथवा आत्मा के भोगादि सम्पादन के लिए समर्थ होते हैं। रस्सी के समान इनकी अन्योन्यमिथुनवृत्तिता 'गुण' नामकरण का कारण कही जासकती है ॥३९॥

सूत्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् से जगद्रचना का प्रयोजन बताता है—

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥४०॥

[अनुपभोगे-अपि] स्वयं उपभोग न करने पर भी [पुमर्थं] चेतन पुरुष के लिए [सृष्टिः] सर्ग-रचना होती है [प्रधानस्य] प्रधान की, [उष्ट्रकुंकुमवहनवत्] ऊंट केसर को जैसे अन्यों के लिए ढोता है।

प्रधान से जगत् की रचना उसके अपने उपभोग के लिए नहीं होती, प्रत्युत यह समस्त सृष्टि पुरुष अर्थात् आत्मा के लिए होती है। चेतन आत्मा इसमें भोक्ता-रूप से उपस्थित रहता है। उसीके भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करने के लिए यह जगत् की रचना है। इसका प्रतिपादन पहले [२।१ तथा ३।५८ में] किया गया है। सूत्रकार ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है—उष्ट्रकुंकुम-वहनवत्। जिसप्रकार ऊंट अपने ऊपर केसर ढोकर लेजाता है, वह उस केसर का स्वयं कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, यह सब कार्य वह दूसरों के उपभोग के लिए करता है। इसीप्रकार प्रकृति का यह सब कार्य केवल चेतन आत्मा के लिए होता है। यह दृष्टान्त केसर की ऐतिहासिक स्थिति पर भी प्रकाश डालता है ॥४०॥

सत्त्व, रजस्, तमस् जब समस्त जगत् के मूल उपादान हैं, तो इस जगत् में विचित्रता अथवा विविधता कैसे आजाती है? आचार्य ने कहा—

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥४१॥

[कर्मवैचित्र्यात्] कर्मों की विचित्रता से [सृष्टिवैचित्र्यम्] सृष्टि की विविधता होती है।

आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों अर्थात् धर्म और अधर्म की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है। नानाविध कर्मों के यथायथ उपभोग के लिए उन्हींके अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती और उपभोग में आती है। इसके अतिरिक्त सत्त्व, रजस्, तमस् की विविध क्रियाओं का अर्थात् अन्योन्यमिथुनता का विविध रूपों में उपस्थित होना भी जगत् की विचित्रता का निमित्त है। ये उपादानतत्त्व एक दूसरे के साथ जितने रूपों में मिथुनीभूत होते हैं,

उनकी गणना की जानी अशक्य है। इसलिए उन अनन्त प्रकार के मिथुन के आधार पर जो कार्य उभार में आते हैं, वे अनन्तरूप संभव होसकते हैं। फलतः जगत् की विचित्रता आवश्यक है, एवं इन निमित्तों पर आधारित है ॥४१॥

सर्गकाल और प्रलयकाल की विशेषता बतलाता है—

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥४२॥

[साम्यवैषम्याभ्यां] साम्य–वैषम्यरूप से मूल उपादान का [कार्यद्वयम्] कार्य दो प्रकार का होता है।

सत्त्व रजस् तमस् मूल उपादान तत्त्वों से सरूप और विरूप दो प्रकार के कार्य अथवा परिणाम हुआ करते हैं। जब सरूप परिणाम होता रहता है, वह मूल उपादान की साम्य अवस्था है, उसको प्रलयकाल कहा जाता है। जब त्रिगुण के परस्पर मिथुन से विलक्षण परिणाम होते हैं, यह सर्गकाल है। इसीको विरूप विसदृश अथवा विषम परिणाम कहा जाता है। पहली अवस्था में समस्त कार्य केवल कारणरूप में अवस्थित रहते हैं, और दूसरी अवस्था में कार्य अपने रूप में भी उभार ले लेते हैं ॥४२॥

प्रकृति के इस अनादि अनन्त प्रवाह में क्या कभी कोई ऐसा अवसर आता है, जब प्रकृति किसी आत्मा के लिए अपना कार्य रोक देती है ? सूत्रकार ने बताया—

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

[विमुक्तबोधात्] विमुक्त को बोध (आत्मसाक्षात्कार) होजाने से उसके लिए [न सृष्टिः] नहीं सृष्टि होती [प्रधानस्य] प्रधान की, [लोकवत्] लोक के समान।

विवेक के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए पुरुष के लिए आत्मसाक्षात्कार होजाने के कारण प्रधान की सर्गरचना नहीं होती। भोग के अतिरिक्त पुरुष के आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रधान से जगत् की रचना होती है। जब वह प्रयोजन पूरा होजाता है, अर्थात् पुरुष को विवेक व आत्मसाक्षात्कार होजाता है, तो वह प्रकृति के सम्पर्क में नहीं रहता, बन्धन से छुटकारा पाजाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति को सांख्य में इसप्रकार वर्णन किया जाता है, कि उस पुरुष के लिए प्रकृति अपना कार्य करना छोड़ देती है। लोक में यह देखा जाता है, कि जब कोई पुरुष बन्धन में पड़े हुए किसीके छुटकारे के लिए यत्न करता है, और उसे छुट-कारा मिल जाता है, तो फिर वह उस कार्य से विरत होजाता है। अथवा एक भृत्य अपने स्वामी के प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, पर जब वह प्रयोजन पूर्ण होजाता है, तो वह भृत्य भी कृतकृत्य होकर उस कार्य से उपरत होजाता है। मुक्त पुरुष के लिए यही स्थिति प्रकृति की है ॥४३॥

वस्तुतः प्रकृति अपना कार्य करना कभी नहीं छोड़ती, किसीको आत्मज्ञान होजाने पर भी अज्ञों के लिए संसार बराबर चलता रहता है। पर मुक्त आत्मा उस अवस्था में संसारी नहीं होता, क्योंकि—

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

[अन्योपसर्पणे-अपि] दूसरों के लिए कार्यसंचालन होते रहने पर भी [न मुक्तोपभोगः] नहीं होता मुक्त को उपभोग [निमित्ताभावात्] निमित्त न होने से।

अन्य—अज्ञानियों के लिए निर्बाध संसार के चलते रहने पर भी मुक्त आत्मा को उन वैषयिक वृत्तियों का उपभोग नहीं होता, क्योंकि उपभोग का निमित्त अविवेक उस अवस्था में नहीं रहता। अविवेक आत्मा को प्रकृति के संपर्क में लाता है, और यह संपर्क होनेपर भोग संभव है। जब मूलनिमित्त अविवेक न रहा, तो भोग कैसे होगा ? फलतः प्रकृति के कार्यक्रम का प्रवाह निरन्तर निर्बाध बहते रहने पर भी विवेकी आत्मा अपने आपको उससे बचा लेता है ॥४४॥

यह व्यवस्था उसी समय संभव होसकती है, जब आत्मा को अनेक माना जाए। एकमात्र चेतन आत्मा के स्वीकार करने पर तो एक की मुक्ति होने पर संसार का सर्वथा उच्छेद होजाना चाहिए। इसीलिए ऋषि ने बताया—

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥४५॥

[पुरुषबहुत्वं] पुरुष बहुत हैं [व्यवस्थातः] व्यवस्था के कारण।

संसार के नानाप्रकार के सुख-दुःख, जन्म-मरण और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था से यह निर्धारित होता है, कि आत्मा बहुत हैं। संसार की इस अनिवार्य व्यवस्था को देखने से एक आत्मा के सिद्ध न होसकने की दशा में जब उसकी संख्या आगे बढ़ती है, तो वह अनन्त पर जाकर रुक पाती है। तात्पर्य यह है, कि आत्मा के एक न माने जासकने पर यही कहा जासकता है, कि वह अनेक है, बहुत है। उसकी संख्या की इयत्ता या सीमा निर्धारित नहीं की जासकती। प्रथम अध्याय में ११४वें सूत्र से लेकर अध्याय की समाप्ति तक इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन किया है। प्रसंगागत अपेक्षित विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया है ॥४५॥

चेतनतत्त्व आत्मा के एकमात्र माने जाने पर जन्म-मरण आदि की व्यवस्था उपाधिभेद से सम्पन्न होजाएगी। तब आत्मा को स्वरूपतः अनेक मानना व्यर्थ है। सूत्रकार समाधान करता है—

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

[उपाधिः-चेत्] यदि उपाधि, उक्त व्यवस्था का नियामक माना जाए, तो [तत्सिद्धौ] उसकी सत्यता सिद्ध होने पर [पुनः-द्वैतम्] फिर अनेकता हो-जाती है।

उपाधि सत्य है, अथवा असत्य ? यदि असत्य है, तो उपाधि के न रहने

पर जन्म-मरण आदि की व्यवस्था का आधार क्या रहेगा ? अभिप्राय यह है, कि उपाधि को यदि आप जन्मादि-व्यवस्था का आधार मानते हैं, और उपाधि असत्य है, अवास्तविक अथवा तुच्छ है, तो उसके अभाव से जन्मादि-व्यवस्था निराधार होगी। यदि उपाधि को सत्य कहा जाता है, तो वही आत्मस्थानीय सिद्ध होजाता है, और वह प्रत्येक भिन्न है, इसलिए आत्मा द्वैत– अनेकरूप मानना पड़ता है। इससे केवल नामभेद होता है, वस्तु वही रहती है, जो सिद्धान्त में कही गई। खाली उपाधि नाम अलग रख देने से वस्तु की (आत्म-भेद की) मान्यता में किसीप्रकार का अन्तर नहीं आता ॥४६॥

उपाधि को आविद्यक–अविद्याजन्य अर्थात् असत्य मानने पर सूत्रकार स्वयं उसका प्रतिषेध करता है—

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥

[द्वाभ्यां-अपि] दो तत्त्वों (अविद्या और पुरुष) के माने जाने पर भी [प्रमाण-विरोधः] तुम्हारे ही कहे प्रमाण से इसका विरोध होता है।

यदि उपाधि अविद्याजन्य है, तो अविद्या का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करते हो, या नहीं ? यदि नहीं, तो जन्मादिव्यवस्था पुनः निराधार होगी, यदि अविद्या सत्य है, वास्तविक है, तो तुम्हारे अपने विचार से अविद्या और पुरुष इन दो का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस कथन का तुम्हारे उस प्रमाण के साथ विरोध होगा,जिसके आधार पर तुम एकमात्र वस्तु को सत्य बताते हो। अब तुम्हारे कथन के अनुसार अविद्या और आत्मा दोनों सत्य सिद्ध होते हैं। इन दोनों को सत्य सिद्ध मानने पर, लोक एवं प्रमाणसिद्ध जन्म-मरण आदि की व्यवस्था आत्मा को नाना माने विना सम्पन्न नहीं. होसकती। इसलिए आत्मा की अनेकता स्वीकार करनी चाहिए ॥४७॥

यदि अविद्या और आत्मा को सत्य मानते हो, तो—

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥४८॥

[द्वाभ्यां-अपि] दोनों के अस्तित्व से (हमारा) भी [अविरोधात्] विरोध न होने के कारण [न पूर्वं-उत्तरं-च] पहला कथन और अगला कथन ठीक नहीं [साधकाभावात्] साधकप्रमाण के न होने से।

उस अवस्था में इन दोनों से हमारा कोई विरोध नहीं, जब अविद्या को प्रकृति और आत्मा को चेतनपुरुष स्वीकार किया जाता है। सत्त्वरजस्तमोरूप मूल उपादानतत्त्व का अनेक नामों से व्यवहार होता है, प्रकृति अविद्या, अजा, प्रसव-धर्मिणी,अदिति,स्वधा आदि विविध नामों से मूल उपादानतत्त्व का वर्णन साहित्य में किया गया है। इसीप्रकार भोक्ता पुरुष का आत्मा ज्ञ चेतन अधिष्ठाता आदि नामों से वर्णन किया जाता है। इसप्रकार सांख्यसिद्धान्त में मूल उपादान जड़तत्त्व

और भोक्ता अधिष्ठाता चेतनतत्त्व को स्वतन्त्र पृथक्रूप में स्वीकार किया गया है। संसार की प्रमाणसिद्ध वास्तविक व्यवस्था के संचालन के लिए यह आवश्यक है, कि भोक्ता चेतन को अनेक माना जाए। इन विचारों को निश्चित युक्तियुक्त माननेपर पूर्वपक्षी अथवा आशंकावादी का पहला कथन कि—जन्म-मरण आदि की व्यवस्था उपाधिद्वारा सम्पन्न होजाएगी—संगत नहीं रहता, और अगला यह कथन भी संगत नहीं रहता, कि आत्मा अथवा पुरुष एक ही मान लेना चाहिए। क्योंकि इन दोनों (उपाधि द्वारा जन्म-मरण की व्यवस्था और आत्मा का एकत्व) मान्यताओं में कोई साधकप्रमाण उपलब्ध नहीं होता ॥४८॥

यदि कहा जाए, कि स्वप्रकाश आत्मा अपने एकत्व में स्वतः साधन होजाएगा, अन्य साधक की क्या आवश्यकता है ? सूत्रकार कहता है—

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृ विरोधः ॥४९॥

[प्रकाशतः] स्वप्रकाश होने से [तत्सिद्धौ] आत्मैकत्व की सिद्धि मानने पर [कर्मकर्तृ विरोधः] कर्म-कर्तृ विरोध प्राप्त होगा।

यदि स्वप्रकाश होने से आत्मा अपने एकमात्र अस्तित्व में स्वयं साधक माना जाता है, तो कर्म-कर्तृ विरोध प्राप्त होगा। स्वयं कोई एक, कर्म और कर्त्ता दोनों नहीं होसकता। जब कोई एक कर्म है, तो वह स्वयं उसी समय में कर्त्ता नहीं होसकता, यदि वह कर्त्ता है, तो कर्म नहीं होसकता। कोई भी एक व्यक्ति एक काल में एक ही क्रिया के प्रति कर्म और कर्त्ता उभय नहीं होसकता। अत्यन्त निपुण भी नट स्वयं अपने कन्धे पर सवार नहीं होसकता। इसलिए स्वप्रकाश भी एकमात्र आत्मा स्वयं प्रकाशक और स्वयं प्रकाश्य हो, यह प्रमाणसंगत नहीं कहा जासकता। सांख्यसिद्धान्त में आत्मा के स्वप्रकाश होने पर भी उसका साक्षात्कार बुद्धि के सहयोग से होपाता है। एकत्र आत्मा का साक्षात्कार सर्वत्र उसका आपादक नहीं होता, अतः आत्मा का नानात्व अनिवार्यतः निश्चित होता है ॥४९॥

प्रकाश आत्मा का धर्म नहीं है, जिसका आश्रय मानने के द्वारा आत्मा को प्रकट किया जाए, प्रत्युत वह प्रकाशस्वरूप है यह सूत्रकार बताता है—

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥५०॥

[जडव्यावृत्तः] जड़तत्त्व से सर्वथा अतिरिक्त [चिद्रूपः] चेतन (प्रकाश) स्वरूप आत्मा [जडं] जड़ तत्त्व को [प्रकाशयति] प्रकाशित (प्रेरित) करता है।

जड़तत्त्व से सर्वथा अतिरिक्त चित्स्वरूप—चेतन आत्मा जड़पदार्थ को प्रकाशित किया करता है। आत्मा को प्रकाशस्वरूप कहने का यह अभिप्राय नहीं है, कि वह प्रकाश सूर्य आदि के समान है। यद्यपि शास्त्रों में जब उस प्रकाश का वर्णन किया जाता है, तो सूर्य आदि प्रकाश के साथ उसकी समता दिखाई जाती है, अथवा उससे शतसहस्राधिक प्रकाशरूप में उसका वर्णन किया जाता है, अथवा यह

कहा जाता है, कि सूर्य नक्षत्र आदि सब उसीके प्रकाश से प्रकाशित हैं, अथवा उस प्रकाश के सन्मुख ये सब फीके पड़ जाते है। तथापि इन सब वर्णनों में अन्तर्भावना यही है, कि सूर्य आदि लोक-लोकान्तरों का अस्तित्व उसी पर आधारित है। वह इन सबका नियन्ता व अधिष्ठाता है। यह सब उसके चैतन्यस्वरूप के कारण है। प्रकाशरूप में उसके चैतन्यस्वरूप का वर्णन किया जाता है। यह स्वरूप प्रकृति का नहीं है, वह जड़ है। आत्मतत्त्व उससे सर्वथा व्यावृत्त होकर रहता है। पर प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों का संचालन व नियन्त्रण आत्मतत्त्व पर निर्भर रहता है; जो उसके चैतन्य स्वरूप को स्पष्ट करता है।

सांख्य में यह स्वीकार किया जाता है, कि आत्मसाक्षात्कार बुद्धि के सहयोग से होता है। यह कथन प्रस्तुत वर्णन के विपरीत जाता है, क्योंकि यहां जड़ बुद्धि चेतन आत्मतत्त्व को साक्षात् कराकर उसे प्रकाशित करती है, यही अभिप्राय निकलता है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं, वस्तुतः बुद्धि में आत्मसाक्षात्कार के लिए सहयोग देने का सामर्थ्य आत्मतत्त्व के सम्पर्क से आपाता है। चेतनसहकृत बुद्धितत्त्व अपने समस्त कार्य करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। फलतः बुद्धि केवल साधन है नियन्ता नहीं। कहीं सूत्र में 'जडव्यावृत्तौ' ऐसा सप्तमीपाठ उपलब्ध होता है, पर उससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं ॥५०॥

इसप्रकार आत्मा की अनेकता सिद्ध होजाती है, तब जिन शास्त्रीय वाक्यों में आत्मा की एकता का वर्णन प्रतीत होता है, उनका क्या समाधान होगा? सूत्रकार ने बताया—

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥

[न श्रुतिविरोधः] आत्मनानात्व का श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं, [रागिणां] रागी जनों के [वैराग्याय] वैराग्य के लिए [तत्सिद्धेः] एकत्व कथन की सिद्धि से।

आत्मा की अनेकता का निश्चय उन शास्त्रीय वाक्यों से कोई विरोध नहीं रखता, जिनमें आपाततः आत्मा की एकता का वर्णन प्रतीत होता है। क्योंकि रागी—विषयासक्त पुरुषों में वैराग्य की भावना जागृत करने के लिए उसप्रकार के वर्णनों का किया जाना सिद्ध होता है। एकत्व की भावना अर्थात् सब कुछ आत्मा ही है, वही सत्य तत्त्व है, उसके अतिरिक्त सब असत्य है, इसप्रकार का आत्मवर्णन या आत्मविषयक बोध पुरुष में संसार के प्रति वैराग्य की भावना को उत्पन्न करता है, जो आत्मज्ञान के मार्ग में सहायक होता है। जहां-तहां आत्मा के एकत्व और जगत् के निषेध अथवा मिथ्यात्व का वर्णन इसी आशय से हुआ है ॥५१॥

वैराग्य की भावना के लिए आत्मैकत्वमात्र के वर्णन से जगत् को वस्तुतः मिथ्या नहीं मानना चाहिए, अपितु वह सत्य है, इस अर्थ को स्वयं सूत्रकार स्पष्ट

करता है—

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात् ।।५२।।

[जगत्सत्यत्वं] जगत् का सत्य होना निश्चित है, [अदुष्टकारणजन्यत्वात्] दोषरहित कारणों से जन्य होने से तथा सत्य होने में [बाधकाभावात्] कोई बाधकप्रमाण न होने से।

किसी भी वस्तु का सच्चा होना अर्थात् उसका वास्तविक अस्तित्व, उसके साधकप्रमाणों के होने और बाधकप्रमाणों के न होने पर अवलम्बित रहता है। इस रूप में हम देखते हैं, कि जगत् एक सत्य पदार्थ है, उसे मिथ्या कहना असंगत है, क्योंकि वह दोषरहित सच्चे कारणों से उत्पन्न होता है, और कोई उसके बाधकप्रमाण उपलब्ध नहीं होते। त्रिगुणात्मक जगत्, सत्त्व, रजस्, तमस्—इन तीन प्रकार के मूल उपादानतत्त्वों से प्रादुर्भाव में आता है। विकार की नश्वरता को प्रकट करते हुए शास्त्र में जहां 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' आदि वर्णन उपलब्ध होता है, वह मूल उपादानतत्त्व की सत्यता का स्पष्ट उद्घोष करता है। जब उपादान सत्य एवं दोषरहित है, तो उसका विकार नश्वर भले हो, पर वह तुच्छ या मिथ्या एवं कल्पित नहीं कहा जासकता। वेद व वैदिक साहित्य में अदिति, स्वधा, त्रिधातु आदि के रूप में मूल उपादान की सत्यता का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। जगत्के लिए भी 'यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते' [तैत्ति० आर० ८।६] इत्यादि वाक्य सच्चा होने की दुहाई देरहे हैं ।।५२।।

न केवल इस समय, प्रत्युत सदा ही जगत् सत्य है, क्योंकि—

प्रकारान्तरासंभवात् सदुत्पत्तिः ।।५३।।

[प्रकारान्तरासंभवात्] अन्य किसीप्रकार के संभव न होने से [सदुत्पत्तिः] सत् से सत् की उत्पत्ति होती है, (यही मानना अभीष्ट है)।

अन्य किसी प्रकार के संभव न होने से जगत् सत् रूप में सत् से उत्पन्न होता है, यह निश्चित है। सांख्यसिद्धान्त में न असत् का प्रादुर्भाव होता है और न असत् से प्रादुर्भाव होता है, और न अन्य कोई ऐसा प्रकार संभव है, जिससे जगत् के प्रादुर्भाव का विधान प्रतिपादित किया जासके। फलतः सत् से सत् का प्रादुर्भाव होता है, यह मान्य होना चाहिए ।।५३।।

आत्मा में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व आदि का उपपादन किस रूप में किया जाता है, सूत्रकार ने बताया—

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ।।५४।।

[अहंकारः] अहंकार [कर्त्ता] कर्त्तृत्व आदि की भावना का प्रयोजक है [न पुरुषः] केवल पुरुष नहीं।

कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखी आदि भावना पुरुष में—अहंकार का अस्तित्व

होने पर—उभरती हैं, केवल पुरुष में नहीं । बुद्धि अथवा अहंकार अन्तःकरण के सम्पर्क से पुरुष कर्त्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, इन साधनों के अभाव में केवल पुरुष स्वानुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का अनुभव नहीं कर सकता । वह भी केवल उस अवस्था में होता है, जब उसे आत्मसाक्षात्कार होजाता है । इसलिए केवल पुरुष में कर्त्तृत्व की उद्भावना नहीं कीजाती । पुरुष की बद्ध अवस्था अथवा सूक्ष्मशरीर से परिवेष्टित अवस्था में कर्त्तृत्व मानने से आत्मा में कोई विकार आजाता हो, ऐसी कल्पना करना सर्वथा असंगत है । जब आत्मा को भोक्ता मानने पर कोई विकार नहीं आता, तो कर्त्ता मानने पर क्यों आएगा । अगले सूत्र से यह बात अधिक स्पष्ट होजाती है ।।५४।।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।।५५।।

[चिदवसाना] चेतनपर्यन्त है [भुक्तिः] भोग, [तत्कर्मार्जितत्वात्] चेतनकृत कर्मों के द्वारा अर्जित होने से ।

भोग का पर्यवसान चेतन पर होता है, क्योंकि वह चेतन के कर्मों से अर्जित होता है । 'तत्कर्मार्जितत्वात्' पद में 'तत्' सर्वनाम से 'चित्' का ग्रहण किया जासकता है, अन्यथा सूत्र की पदार्थसंगति संभव न होगी । इससे स्पष्ट होता है, कि सांख्य में फलों का भोक्ता, वास्तव में कर्मों का कर्त्ता माना गया है । क्योंकि भोक्ता चित्—चेतन आत्मा है, तब वही कर्त्ता होगा । कर्त्तृ पद सांख्य में दो विभिन्न पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होता है, एक परिणाम अर्थ में दूसरा अधिष्ठाता व नियन्ता अर्थ में । पहले अर्थ में प्रयुक्त 'कर्त्तृ' पद प्रकृति का निर्देश करता है, और दूसरे अर्थ में चेतन आत्मा का । अर्थ की इस विशेषता का ध्यान न रखने के कारण इस पद के प्रयोग में बहुत घोटाला हुआ है । पहले अर्थ की भावना से सांख्य में पुरुष को अकर्त्ता कहा गया है । दूसरे अर्थ की दृष्टि से वह कर्त्ता निश्चित है । पुरुष को भोक्ता मानने में जब किसी को आपत्ति नहीं है, तो कर्त्ता मानने में क्यों होनी चाहिए ? आत्मा का भोक्ता होने के समान कर्त्ता होना भी सामञ्जस्यपूर्ण है, क्योंकि भोक्ता भी भोग का कर्त्ता ही है । अन्यथा कृतहानि अकृताभ्यागम दोष की प्रसक्ति अवश्य होगी ।।५५।।

विभिन्न कर्मानुष्ठान से उनके फलों को भोगने के लिए आत्मा की जो विविध योन्यन्तरों अथवा लोक-लोकान्तरों में संभावित गति मानी गई हैं, वह आत्मा के बन्ध की अवस्था है । उस गति को प्राप्त होकर भी आत्मा जन्म-मरणादि के अनुक्रम से छुटकारा नहीं पाता । इसी विषय को सूत्रकार ने कहा—

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ।।५६।।

[चन्द्रादिलोके-अपि] चन्द्र आदि लोक में प्राप्त होजाने पर भी [आवृत्तिः] वापस आना होता है [निमित्तसद्भावात्] आवृत्ति का कारण (अविवेक) बना

रहने से।

कर्मानुसार फलों को भोगने के लिए चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों अथवा अवस्थाओं में प्राप्त हुए भी आत्माओं को उस लोक के उचित कर्मफलों को भोगने के अनन्तर पुन: इस लोक में लौट आना होता है, क्योंकि पुन:-पुन: जन्म-मरण आदि के बन्धन में आवृत्ति का निमित्त अविवेक अभी तक बना रहता है। प्रकृति-पुरुष के विवेक द्वारा जबतक अविवेक का नाश नहीं होजाता, तबतक आत्मा इस आवर्त्तन के चक्र में बन्धा रहता है। कर्मानुसार कर्मफलों को भोगने के लिए चाहे भूलोक में जन्म ले अथवा अन्य लोक-लोकान्तरों में, अविवेक की अवस्था में जन्म-मरण आदि के अनुक्रमिक बन्धन से छुटकारा पाना संभव नहीं ॥५६॥

लोकान्तर में निवास करने वाले किसी पुरुष के उपदेश से अविवेक का नाश होने पर पुन: इस लोक अथवा जन्मादि के चक्र में आवृत्ति न होना संभव होसकता है, इस विषय में सूत्रकार ने कहा—

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥५७॥

[लोकस्य] किसी भी लोकनिवासी के [न-उपदेशात् सिद्धि:] उपदेश-मात्र से विवेक की सिद्धि नहीं [पूर्ववत्] पहले लोक के समान।

पूर्वलोक के समान अर्थात् जैसे मर्त्यलोक में केवल उपदेश से विवेक की सिद्धि नहीं होती, इसीप्रकार अन्य चन्द्रादिलोक के निवासी पुरुष के उपदेशमात्र से विवेक का सिद्ध होना संभव नहीं। कर्मफलों का उपभोग आत्मा चाहे किसी भी अवस्था या लोक में करे और विवेकसम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करे अथवा उपदेश सुने, पर जबतक फलोपभोग या विषयों में आसक्ति बनी रहेगी, तबतक आत्मसाक्षात्काररूप विवेक की प्राप्ति संभव नहीं, और उस अवस्था में आत्मा फलोपभोग चाहे किसी अवस्था या लोक में करे, वह भव के बन्धन व आवर्त्तन के घेरे से बाहर नहीं जापाता ॥५७॥

उस भवचक्र से यह कैसे छुटकारा पाएगा, सूत्रकार बताता है—

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥५८॥

[पारम्पर्येण] परम्परा से [तत्सिद्धौ] विवेक की सिद्धि होने पर [विमुक्तिश्रुति:] विमुक्ति—मोक्ष वेदप्रमाणित है।

इस लोक—जन्म या अन्य लोक—जन्मान्तर में आत्मसम्बन्धी शास्त्रों के अध्ययन अथवा उपदेश आदि के द्वारा किसीप्रकार विषयों की ओर से दृढ़ वैराग्य होजाने पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के अभ्यास की परम्परा से विवेक की सिद्धि होजाती है, तब भवचक्र के बन्धन से विमुक्ति संभव होती है, यह वेदशास्त्रों में बताया गया है। केवल फलोपभोग की भावना को लेकर लोकान्तर या जन्मान्तर में जानेमात्र से मुक्ति संभव नहीं। विषयासक्ति सब ही लोकों अवस्थाओं

अथवा जन्मान्तरों में समानरूप से बन्धन की अवस्था है। वेदादि में आत्मज्ञान से मोक्ष का होना बताया है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति (यजु० ३१।१८) 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृह० ४।४।१२) 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्व-मिच्छन्' (कठ० २।१।१) 'यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति' (कठ० २।३।८) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्डक० २।२।८) इत्यादि। इन प्रमाणों में आत्मा के ज्ञान अथवा पर–अवर अर्थात् चेतन-अचेतन के दर्शन को बन्धन से छूटने का कारण बताया गया है। वह दर्शन, ब्रह्मचर्य, यम-नियम आदि का पालन वैराग्य प्राणायाम तथा ध्यान आदि के निरन्तर अभ्यास द्वारा होपाता है ।।५८।।

सांख्यमत में अणु आत्मा कूटस्थ-नित्य होने से साधनों के विना गति-आगति में असमर्थ रहता है। उसकी गति और फलोपभोग कैसे संभव होते हैं ? यह प्रति-पादन करता है—

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्
भोगदेशकाललाभो व्योमवत् ।।५६।।

[गतिश्रुतेः-च] और गतिश्रुति से आत्मा के [व्यापकत्वे-अपि] विविध प्रदेशों में पहुंचने वाला होने पर भी उसे [भोगदेशकाललाभः] भोगदेश की प्राप्ति और भोगकाल की प्राप्ति [उपाधियोगात्] सहयोगियों के संपर्क से होती है, [व्योमवत्] आकाश के समान।

गतिश्रुति से यह ज्ञान होने पर कि आत्मा विविध प्रदेशों में पहुंच जाने की योग्यता रखता है, उसका भोगदेश अथवा भोगकाल में प्राप्त होना उपाधि के सहयोग से संभव होपाता है। उपाधि का अभिप्राय–सहयोगी अथव साधन-भूत तत्त्व हैं। आत्मा के भोग आदि के साधन–सूक्ष्म तथा स्थूल देह आदि हैं। इन्हीं के सम्पर्क में वह भोगों को भोगता है, और लोकान्तर अथवा योन्यन्तरों में गति करता है। यद्यपि उपनिषद् आदि में आत्मा की गति का वर्णन है, पर वह अपने साधनों के सहयोग में गति करपाता है। जैसे आकाश का कार्य प्रत्येक वस्तु को अवकाश देना है, पर केवल इतने से प्रत्येक वस्तु आकाश में निर्बाध गति कर नहीं सकती, जबतक कि उसकी गति के साधन उपस्थित न हों।

कतिपय व्याख्याकारों ने इस सूत्र की व्याख्या की है–आत्मा के व्यापक होने पर भी उसको जो एक देशविशेष अथवा कालविशेष में भोग की प्राप्ति होती है, वह देह आदि उपाधि के योग से समझनी चाहिए। जब किसी देशकाल में आत्मा भोग के लिए जाता है, वह आत्मा नहीं, वस्तुतः देह जाता है, वह देह का जाना आत्मा का जाना समझ लिया जाता है। जिन उपनिषद् आदि में आत्मा की गति का वर्णन है, उसका यही अभिप्राय समझना चाहिए, कि वह देह की गति

का आत्मा की गति में वर्णन किया है। जैसे आकाश व्यापक है, उसके उपाधि घट आदि हैं, घट आदि की गति का आकाश में व्यवहार कर दिया जाता है।

इस व्याख्यान के अनुसार शास्त्रीय आत्मसम्बन्धी गति का वर्णन साक्षात् आत्मा का निश्चित होता है। कपिल की इस धारणा की—जो सूत्र से स्पष्ट है—व्याख्याकार उपेक्षा नहीं कर सके। आत्मा को विभु मानने वाले विद्वान् भी आत्मा के भोग, सुख-दुःख आदि की अनुभूति, विषयज्ञान आदि सब कुछ देह प्रदेश में होना मानते हैं देह से अन्यत्र किसी तरह इनके होने की संभावना नहीं। तब साधारण रूप से यह प्रश्न होता है, कि ऐसी स्थिति में देह से अन्यत्र आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण ही क्या? जिन साधनों से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वे देह से अन्यत्र स्थल में जब आत्मा के अस्तित्व का अनुमान कराने में असमर्थ हैं, तब देह से अन्यत्र आत्मा के अस्तित्व को किस आधार पर माना जाए? अतः आत्मा की विभुता अस्पष्ट रहजाती है।

इसके अतिरिक्त जब आत्मा व्यापक है, तो—'भोगदेश' की प्राप्ति उसे उपाधियोग से होती है—यह कथन असंगत है। व्यापक आत्मा भोगदेश में सदा वर्त्तमान है, व्यापक तत्त्व का उपाधियोग से किसी देशविशेष में प्राप्ति का कथन करना कैसे संभव होसकता है? हां! यह कहा जासकता है, कि व्यापक आत्मा को भोग का लाभ उपाधियोग से होता है। यदि उपाधियोग ही भोगदेश का लाभ है, और उपाधि ही 'भोगदेश' है, तो इसके साथ आत्मा की गतिश्रुति का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। आत्मा की गति कहकर उसे उपाधि की क्यों मान लिया जाए? फिर यह भी है, कि उपाधि—'भोगदेश' स्थूल देह से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, और वह मृत्यु के साथ यहीं रहजाता है, तब यह उपाधि आत्मा की गति-श्रुति का आधार कैसे? लोकान्तर या योन्यन्तर में इसका जाना संभव नहीं। यह उपाधि यदि सूक्ष्मदेह मानी जाती है, तो वह 'भोगदेश' नहीं, क्योंकि सूक्ष्मदेह में आत्मा का भोग असंभव है। 'संसरति निरुपभोगम्' सूक्ष्मशरीर भोगरहित रहकर संसरण करता है। यदि सूक्ष्मदेह आत्मा के 'भोगदेश' के रूप में संभव हो, तो भोग के लिए स्थूलदेह की आवश्यकता ही नहीं रहती, फिर स्थूल देहादि जगत् की रचना सब व्यर्थ होजाती है।

सूत्र में 'व्योमवत्' दृष्टान्त विचारणीय है। अन्य व्याख्याकारों के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में दृष्टान्त का सामञ्जस्य नहीं बैठता। उदाहरण 'घटाकाश' दिया जाता है। घट के इधर-उधर हटाए जाने पर वह गति घट में होती है, घटसंवृत आकाश में नहीं, पर उसका व्यवहार आकाश में किया जाता है।

यहां देखना यह है, कि घट किस वस्तु का नाम है। मिट्टी की पतली पर्त्त गोल आकार में सन्निविष्ट घट है। आकाश प्रत्येक स्थूल वस्तु के संचरण के लिए

अवकाश प्रदान करता है। घट जब इधर-उधर हटाया जाता है, उस समय केवल वह मिट्टी की पर्त्त गति का आधार है। यहां आकाश की गति का प्रश्न नहीं उठता। घट जो वस्तु है, उसका कोई अंश आकाश नहीं, तब घट की गति का आकाश से क्या संपर्क ? यह कथन सर्वथा निराधार और भ्रम में डालने वाला है, कि घट से आकाश घिरा रहता है, प्रत्युत इससे विपरीत यह कहना युक्त है, कि आकाश से घट घिरा रहता है। यदि ऐसा न हो, तो घट में गति असंभव है। घट से जो वस्तु घिरी रहती है, वह घट के इधर-उधर होने पर घट का साथ छोड़ नहीं सकती। आकाश में यह बात नहीं, इसलिए वह घट-संवृत नहीं है। घट में भरा हुआ जल या अन्न घट-संवृत है, उस समय घट में दूसरी वस्तु नहीं भरी जासकती। वादी कहेगा—जहां अन्न या जल भरा है, वह आकाश ही तो है। यह ठीक है—वह आकाश है, आकाश का कार्य प्रत्येक वस्तु को अवकाश देना है। पर घट-संवृत वस्तुतः वह जल या अन्न ही है, इसलिए—घट में भरा है—यही कहना होगा। यदि घट के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो, और वह केवल आकाश में है, ऐसा ही समझा जाए, तो घट के इधर-उधर हटाने पर वह अन्न या जल वहीं रह जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं, वह घट के साथ ही रहता है, तब निश्चित है, कि वही वस्तु घट से संवृत है। इसलिए घट की गति के साथ आकाश का सम्बन्ध जोड़ना भ्रान्तिजनक है, और प्रस्तुत प्रसंग में इस रूप से यह उदाहरण वादी के अभिमत अर्थ की पुष्टि नहीं करता ॥५९॥

पुरुष के उपभोग के लिए प्रथम जो लोकरचना कीजाती है, उसमें वे लोक-देह जैसे पुरुष से अधिष्ठित नहीं रहते, वैसे ही भोगायतन देह भी पुरुष से अनधिष्ठित सिद्ध हुआ क्यों न माना जाए ? सूत्रकार करता है—

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥६०॥

[अनधिष्ठितस्य] पुरुष से अनधिष्ठित देह के [पूतिभावप्रसंगात्] सड़ जाने या बिगड़ जाने की स्थिति से [न तत्सिद्धिः] आत्मा से अनधिष्ठित देह की रचना संभव नहीं।

भोक्ता पुरुष से अधिष्ठित हुए विना भोगायतन देह की सिद्धि—रचना संभव नहीं होसकती, क्योंकि ऐसी अवस्था में भोगायतन शरीर के बीजभूत शुक्र-शोणित निश्चित रूप से दूषित होजाएंगे। संतानकामना से जैसे ही स्त्री-पुरुष का संपर्क होता है, शुक्र के गर्भाशय में पहुंचने पर जीवित शुक्र-शोणित अणु परस्पर मिलने के लिए तीव्र गति से चक्कर लगाते हैं। उनके तात्कालिक जीवन का समय अत्यन्त सीमित होता है। यदि उतने समय में कोई जीवित अणु परस्पर मिल जाते हैं, तो गर्भस्थिति होकर भोगायतन देह की रचना प्रारम्भ होजाती है। यदि उतने समय में उनका मेल न होसके, तो वे मर जाते हैं, नष्ट होजाते हैं। मेल उन्हीं

अणुओं का संभव है, जो जीवित होते हैं, अर्थात् भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित। इसकी विशेष जानकारी के लिए औपनिषदिक पञ्चाग्निविद्या का अध्ययन करना चाहिए। जो शुक्राणु भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित न होंगे, वे स्वतः दूषित होकर नष्ट होजाएंगे ऐसे अणुओं से गर्भस्थिति कदापि संभव नहीं। देह के अतिरिक्त लोक-लोकान्तर या अन्य लौकिक वस्तु, जो आत्मा के भोग आदि का साधन हैं, उनके उसी भोक्ता आत्मा के द्वारा अधिष्ठित होने की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि वे वस्तु भोग के केवल साधन हैं, आयतन नहीं। देह आयतन है, वहां रहकर उसमें अधिष्ठित होकर आत्मा भोगों की प्राप्ति में समर्थ होता है। सुख दुःख की अनुभूति का आधारभूत साधन और अन्य अन्तरंग साधन जिस भोक्ता आत्मा के जहां उपस्थित हैं, वही देह भोक्ता आत्मा का आयतन एवं अधिष्ठान कहा जाता है। फलतः अन्य भोग के साधन लोक अथवा भोग्य वस्तु उस भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित हों, यह अपेक्षित नहीं ॥६०॥

भोक्ता के अदृष्ट द्वारा भोगायतन देह का निर्माण होजाएगा, देह के मूल उपादान शुक्र आदि में भोक्ता के अधिष्ठित होकर बैठने की क्या आवश्यकता है? सूत्रकार ने बताया—

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदङ्कुरे ॥६१॥

[अदृष्टद्वारा चेत्] अदृष्टद्वारा (आत्मा से अधिष्ठित हुए विना) यदि देह-रचना मानी जाए, तो [असम्बद्धस्य] आत्मा से सम्बन्धरहित तत्त्वों का [तद-सम्भवात्] देहरचना के प्रति कारणत्व संभव न होने से (उक्त कथन संगत नहीं] [जलादिवत्-अङ्कुरे] अङ्कुर की रचना में जल आदि के समान।

जब बीज से अङ्कुर आदि उत्पन्न होने लगते हैं, तब बीज के साथ जलादि का सम्पर्क आवश्यक है। सीमित आर्द्रता और ऊष्मा आदि का बीज से सम्बन्ध न रहने पर अङ्कुर का जनन जिसप्रकार संभव नहीं होपाता, इसीप्रकार विना भोक्ता चेतन आत्मा के सम्बन्ध के केवल अदृष्ट द्वारा देह का निर्माण संभव नहीं। पुरुष भोक्ता के पहले किए हुए धर्माधर्म का नाम अदृष्ट है। वे भोक्ता के उप-भोग के लिए प्रत्येक रचना में निमित्त रहते हैं। भोगायतन देह की रचना में भी वे निमित्त हैं, पर मूल उपादान से सम्बन्ध विना उसका निमित्त होना संभव नहीं। सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक है, कि मूल उपादान भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित हो। इसलिए भोगायतन देह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है, कि देह के मूल उपादान शुक्राणु आदि भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित रहें। यह रचनाक्रम बड़ा अद्भुत है। देहादि की रचना में मूल उपादान के साथ भोक्ता चेतन आत्मा बरा-बर उपस्थित रहते हैं। आज का आधिभौतिक वैज्ञानिक इस रहस्य को न जानता हुआ समझता है, कि मैंने अचेतन से चेतन को बना लिया है। इस अन्तर्हित रहस्य

को समझने का यत्न करना चाहिए ।।६१।।

प्रसंगवश सूत्रकार बताता है, कि धर्माधर्म आदि का प्रादुर्भाव आत्मा के साथ किस अवस्था में संभव होता है—

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ।।६२।।

[निर्गुणत्वात्] आत्मा के निर्गुण होने से [तदसम्भवात्] उसमें संभव न होने के कारण [हि-एते] निश्चयपूर्वक ये धर्माधर्म आदि [अहंकारधर्माः] अहंकार के सहयोग से होने वाले धर्म हैं।

आत्मा के निर्गुण होने से विशुद्ध आत्मा के साथ धर्माधर्म आदि का प्रादुर्भाव संभव नहीं। अहंभावना के रहने पर उन कर्मों का अनुष्ठान होपाता है, जो धर्माधर्म आदि को प्रादुर्भाव में लाते हैं। इसलिए इन्हें अहंकार का धर्म कहा जाए, तो अनुपयुक्त न होगा। सांख्य में 'गुण' पद से सत्त्व-रजस्-तमस् का बोध होता है। आत्मा उनसे अतिरिक्त होने के कारण निर्गुण कहा जाता है। प्रकृति के संपर्क में आने से आत्मा वृत्तिसरूप होता है। बुद्धि, अहंकार आदि प्राकृत तत्त्व आत्मा की इस स्थिति के लिए साधन होते हैं ।।६२।।

बुद्धि आदि के संपर्क में आत्मा 'जीव' कहा जाता है। यह बताता है—

विशिष्टस्य जीवत्त्वमन्वयव्यतिरेकात् ।।६३।।

[विशिष्टस्य] बुद्धि आदि सहित आत्मा का [जीवत्त्वं] जीव होना कहा जाता है, [अन्वयव्यतिरेकात्] अन्वय-व्यतिरेक से।

'जीव बलप्राणधारणयोः' इस धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति करने से जीव का अर्थ प्राणी होता है। प्राण अन्तःकरण एवं बाह्यकरण समस्त करणों की साधारण वृत्ति है। इसलिए आत्मा उसी अवस्था में 'जीव' कहा जाता है, जब वह इन करणों के संपर्क में रहता है। ये करण सूक्ष्मशरीर के घटक होते हैं, और सूक्ष्मशरीर आत्मा का एक ऐसा आवेष्टन है, जो उस समय तक आत्मा को आबद्ध रखता है, जब तक उसे प्रकृति-पुरुष के विवेक का साक्षात्कार न होजाए। इसप्रकार संसारकाल में यह आत्मा 'जीवात्मा' ही बना रहता है। अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध है, कि सूक्ष्मशरीर से विशिष्ट आत्मा की 'जीव' संज्ञा होती है। पर साधारण व्यवहार में आत्मा और जीव पद पर्यायरूप में प्रयुक्त होते रहते हैं। समस्त इन्द्रियों का वृत्तिलाभ स्थूलदेह के साथ संपर्क होने पर संभव होता है, अन्यथा नहीं ।।६३।।

लौकिक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान क्या शुद्ध आत्मा के अधीन रहता है, या अन्य किसी उत्कृष्ट शक्ति के अधीन ? सूत्रकार ने बताया—

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ।।६४।।

[अहङ्कारकर्त्रधीना] अहंकारादियुक्त कर्त्ता के अधीन [कार्यसिद्धिः]

क्रिया की सिद्धि होती है [न-ईश्वराधीना] ईश्वर के अधीन नहीं, [प्रमाणाभावात्] इसमें प्रमाण न होने से।

अहंकारयुक्त कर्त्ता के अधीन कार्य की सिद्धि रहती है, अन्य किसी ईश्वर आदि के अधीन नहीं। लौकिक वैदिक आदि समस्त कार्यों का संपादन अहंकार-विशिष्ट कर्त्ता अर्थात् जीवात्मा के अधीन रहता है। इन कार्यों में आत्मा की प्रवृत्ति तभी संभव होसकती है, जब वह अहंभावनाओं से युक्त रहता है, भोगों के प्रति उसका आकर्षण बना रहता है। 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' [कौषी० ब्रा० ३।८] इत्यादि वाक्यों के आधार पर यदि कोई ऐसा कहे, कि ये सब प्रवृत्तियां ईश्वर के अधीन हैं, वह जैसा चाहता है कराता है, तो वह असंगत होगा। यदि ये सब प्रवृत्तियां ईश्वर के अधीन हों, तो जीवात्मा इनके फलों को भोगने के लिए बाध्य नहीं होसकता। यदि ऐसा होगा, तो वह अन्याय होगा, जो परमात्मा के न्याय को उच्छिन्न करने वाला कहा जासकता है। उक्त उपनिषद्वाक्य का तात्पर्य इतने में ही है, कि परमात्मा ने दोनों प्रकार के साधन जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दिए हैं, चाहे वह विषयों की ओर प्रवृत्त हो, और संसार में फंसा रहे, चाहे अध्यात्म की ओर जावे, यह उसकी अपनी इच्छा और प्रवृत्तियों पर निर्भर है। इसलिए इन कार्यों के ईश्वराधीन होने में कोई प्रमाण नहीं कहे जासकते।

सूत्र की व्याख्या इसप्रकार भी की जासकती है—सर्ग की रचना और संहार आदि कार्यों में जीवात्मा के धर्माधर्म को भी निमित्त माना जाना चाहिए, यह रचना आदि केवल ईश्वर के अधीन हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि संसार के सर्ग और संहार आदि ईश्वर की प्रेरणा व नियन्त्रण के विना नहीं, पर फलदानोन्मुख विविध रचना में जीवात्माओं के धर्माधर्म की अपेक्षा अवश्य रहती है, उनकी उपेक्षा करके ईश्वर जैसा चाहे कर दे, यह कथन अप्रामाणिक है। ऐसा होने से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता में कोई बाधा आती हो, यह नहीं है, क्योंकि सर्गरचना की व्यवस्था इसीप्रकार की है। जिनके लिए यह समस्त रचना है, उनकी उसमें सर्वथा उपेक्षा हो, यह संभव नहीं ॥६४॥

सर्गरचना में पहले पुरुषार्थ को निमित्त कहा है [२।३६॥३।१६], और यहां जीवात्मा के धर्माधर्म को। क्या इनमें कोई विरोध नहीं? सूत्रकार कहता है—

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥६५॥

[अदृष्टोद्भूतिवत्] अदृष्ट से उद्भव की तरह [समानत्वम्] पुरुषार्थ से उद्भव कहना समानता रखता है।

जीवात्मा के अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म से उद्भूति—सर्गरचना का जिसप्रकार

कथन है, उसके समान ही यह कथन है, कि पुरुषार्थ निमित्त से यह सर्ग है। यह सर्ग पुरुषार्थनिमित्तक है, पुरुष के प्रयोजन को पूरा करने के लिए इसकी रचना होती है, इसलिए वह इसमें निमित्त है, और पुरुष के किए धर्माधर्म इस रचना में निमित्त हैं, इन दोनों कथनों में कोई भेद नहीं है। पुरुष का प्रयोजन निमित्त हो अथवा पुरुष के धर्माधर्म, यह एक ही भाव को प्रकट करते हैं, तात्पर्य यह है, कि सर्गरचना में पुरुषकार या पुरुषकृत की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

अथवा सूत्र की अवतरणिका होगी—यदि कर्मानुष्ठान ईश्वराधीन नहीं है, तो अहंभावनायुक्त आत्मा के भी अधीन न हो, प्रत्युत जीव के अदृष्ट के अधीन मान लिया जाए। सूत्रकार समाधान करता है—जीव के अदृष्ट के अनुसार उद्भूति—कर्मों का अनुष्ठान होता है, इस कथन के समान ही यह कथन है, कि अहंभावना-युक्त आत्मा से कर्मानुष्ठान होता है। अदृष्ट—धर्माधर्म का आधार जीवात्मा है, और अहंभावना से युक्त आत्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। अब जीवात्मा के अधीन कर्मानुष्ठान कहा जाए अथवा जीवात्मा के धर्माधर्म के अनुसार कहा जाए, इसमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों प्रकार से अनुष्ठान जीवात्म-कृत ही सिद्ध होता है ॥६५॥

लौकिक वैदिक कर्मानुष्ठानों में प्रवृत्ति के लिए जैसे अहंभावना निमित्त है, वैसे ही प्रकृति-पुरुषविवेकरूप स्थिति की प्राप्ति के लिए क्या निमित्त होगा? सूत्रकार ने बताया—

महतोऽन्यत् ॥६६॥

[महतः] शुद्ध बुद्धितत्त्व से—[अन्यत्] (क्रियानुष्ठान से) अन्य—प्रकृति-पुरुषविवेकज्ञान होता है।

लौकिक वैदिक कर्मों से अन्य—विलक्षण जो यह प्रकृति-पुरुषविवेक की स्थिति है, वह 'महतः'—महत्—शुद्धसत्त्वमय अत्यन्तसूक्ष्म बुद्धितत्त्व से प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति-पुरुषविवेक का निमित्त शुद्ध बुद्धितत्त्व है, जो उत्कट वैराग्य और जन्मजन्मान्तर के पटु अभ्यास द्वारा मलादिदोषरहित कर लिया गया है। जबतक बुद्धितत्त्व मलिन रहता है, और विषयों की ओर आसक्ति बनी रहती है, तबतक परमपुरुषार्थ प्रकृति-पुरुषविवेक का लाभ नहीं होपाता। इसलिए मुमुक्षु को वह स्थिति प्राप्त करने के लिए तीव्र वैराग्य के साथ यम-नियम आदि का यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए, जिससे बुद्धि शुद्ध होसके, और विवेकरूप परमपुरुषार्थ का लाभ हो ॥६६॥

शास्त्र ने उपदेश किया, कि प्रकृतिपुरुष के विवेकज्ञान से ज्ञानीपुरुष के लिए त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति होजाती है, परन्तु पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध किस निमित्त से होता है? एकदेशिमत से आचार्य समाधान करता है—

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत् ।।६७।।

[प्रकृतेः] प्रकृति का [स्वस्वामिभावः] स्वस्वामिभाव [कर्मनिमित्तः] कर्मरूप कारण से होता हुआ [अपि] भी [अनादिः] अनादि है, [बीजांकुरवत्] बीज और अंकुर के समान।

प्रकृति का पुरुष के साथ स्वस्वामिभाव कर्मनिमित्तक होता हुआ भी बीजांकुर के समान अनादि है। प्रकृति भोग्य 'स्व' है, आत्मा भोक्ता 'स्वामी' है। प्रकृति विविधरूप में पुरुष के लिए भोग्यपदार्थ और भोगसाधनों को उपस्थित करती है। यह सब संसार पुरुष के कर्मों के कारण होता है। कर्मनिमित्तक होते हुए भी यह बीजांकुर के समान अनादि समझना चाहिए। जैसे बीज और अंकुर में यह कहना कठिन है, कि कौन पहले और कौन पीछे, अथवा कौन निमित्त और कौन कार्य है, बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह प्रवाह अनादिकाल से चला आता है, इसीप्रकार कर्मों से भोगसाधनों का संग्रह और भोगसाधन होने पर कर्म होना संभव होता है, यह परस्पर आपेक्षिक स्थिति अनादिकाल से चली आरही है। इस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो कर्म किन्हीं भोगसाधनों को जुटाने में समर्थ होता है, वे भोगसाधन उन्हीं कर्मों के प्रादुर्भाव में निमित्त नहीं बनते, प्रत्युत वे कर्मान्तरों को प्रकट में लाते हैं। और वे कर्म उन्हीं भोगसाधनों के निमित्त नहीं बनते, जिनसे वे प्रकट में आए हैं, प्रत्युत वे उनसे अतिरिक्त भोगसाधन व भोगसामग्री के जुटाने में निमित्त होते हैं। इसप्रकार किन्हीं कर्मों से कोई भोगसाधन या सामग्री और उस साधनसामग्री से अन्य कर्म, उनसे फिर अन्य सामग्री उनसे फिर कोई कर्म–यह अनादि प्रवाह चला आरहा है। इसकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं।

प्रकृति के साथ आत्मा का सम्पर्क होने में कर्म को निमित्त मानने पर पुनः यह आशंका रहजाती है, कि नित्यशुद्धमुक्त आत्मा कर्म के लिए प्रेरित क्यों होता है? परमर्षि कपिल अपने प्रिय प्रशिष्य पञ्चशिखमुख से समाधान करते हैं—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ।।६८।।

[अविवेकनिमित्तः-वा] अथवा अविवेकरूप कारण से आत्मा प्रकृति के संपर्क में आता है [पञ्चशिखः] ऐसा पञ्चशिख कहता है।

प्रकृति के संपर्क में आत्मा के आने का मुख्य निमित्त अविवेक है, यह अविवेक भी अनादि है। बात यह है, कि आत्मा जब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करपाता, तबतक उसकी प्रकृति के साथ संपर्क की स्थिति बनी रहती है। कारण यह है, कि आत्मसाक्षात्कार का साधन भी प्रकृति के साथ संपर्क है। यह संपर्क भोग और अपवर्ग दोनों अवस्थाओं को आत्मा के लिए जुटाता है। इसलिए आत्मा की इस स्थिति का मुख्य आधार अविवेक समझना चाहिए। अविवेक है–प्रकृति

और पुरुष के भेद का असाक्षात्कार। यह स्थिति पुरुष को विविध कर्मों के लिए प्रेरित करती है, और वह इस प्रवाह में बहता चला जाता है। इस प्रवाह का विश्रामस्थल विवेक अथवा आत्मज्ञान है।

सूत्र में 'पञ्चशिख' का उल्लेख होने से कतिपय विद्वानों का विचार है, कि यह रचना कपिल की नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पञ्चशिख कपिल का पश्चाद्वर्त्ती आचार्य है, उसका उल्लेख कपिल के द्वारा किया जाना संभव नहीं। परन्तु यह विचार निराधार है। इतिहास से यह सिद्ध है, कि पञ्चशिख कपिल के शिष्य आसुरि के शिष्य थे। आसुरि को कपिल ने अपने सिद्धान्त व विचारों की दीक्षामात्र दी थी, स्वयं आसुरि प्रथमतः प्रकाण्ड कर्मकाण्डी और महाविद्वान् थे। उन्होंने अपने प्रधानशिष्य पञ्चशिख को सांख्यशास्त्र पढ़ाया। कपिल के जीवनकाल में ही पञ्चशिख प्रखर वैदुष्य प्राप्त कर चुका था। कपिल ने स्वयं संपर्क में आकर उसकी विद्वत्ता का अभिनन्दन किया, और अनुपम वात्सल्य भावना से अपने ग्रन्थ में स्वाभिमत को उसके नाम पर अंकित कर दिया, यह एक साधारण स्वाभाविक बात है। अध्ययनाध्यापन परम्परा में गुरु-शिष्यों की तीन-चार पीढ़ी तक का समकाल में होजाना सर्वथा असंभावित नहीं कहा जासकता ॥६८॥

आचार्य सनन्दन कपिल के समकालीन परमस्नेही सुहृद् थे, प्रस्तुत विषय में सूत्रकार ने उनके विचार को अङ्कित किया है—

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥६९॥

[लिङ्गशरीरनिमत्तकः] लिङ्गशरीरनिमित्त से प्रकृतिपुरुष का संपर्क होता है [इति सनन्दाचार्यः] यह आचार्य सनन्दन का कहना है।

आचार्य सनन्दन का विचार है, प्रकृति-पुरुष का स्वस्वामिभाव लिङ्गशरीर के कारण होता है। अविवेक रहते भी कर्मानुष्ठान की स्थिति उस समय तक असंभव है, जबतक कि आत्मा लिङ्गशरीर से आबद्ध नहीं होजाता। अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध है, कि प्रकृति-पुरुष का भोग्य-भोक्तृभाव लिङ्गशरीर की उपस्थिति में संभव होपाता है, इसलिए उसे निमित्त माना जाना चाहिए। सूक्ष्मशरीर का अपर नाम लिङ्गशरीर है। अठारह घटक अवयवों से बने सूक्ष्मशरीर के दो भाग किए जाते हैं—एक आधार दूसरा आधेय। इसमें आधारभूत तत्त्व पांच तन्मात्र हैं, और आधेय हैं—त्रयोदश करण। तेरह करणों में पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण हैं। इन तेरह करणों को 'लिङ्ग' भी कहा जाता है, क्योंकि इनके आधार पर अन्तर्हित अतीन्द्रिय आत्मा का बोध या अनुमान होता है। सूक्ष्मशरीर के आधारभूत तत्त्वों की प्रधानता का जब विचार किया जाए, तो इसी शरीर को 'कारणशरीर' कह दिया जाता है, क्योंकि ये तन्मात्र इस शरीर के आधार होते हैं, और अन्य समस्त स्थूल जगत् के कारण। जब आधेय तत्त्वों को प्रधानता दी जाती

है, तो उसी सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्गशरीर' कह दिया जाता है। इस शरीर के आधार पर स्थूलशरीर के सहयोग से आत्मा के समस्त भोग और अपवर्ग की प्राप्ति अवलम्बित है ॥६९॥

वस्तुत: कर्म अथवा लिङ्गशरीर की–प्रकृतिपुरुष के भोग्यभोक्तृभाव के प्रति–निमित्तता अनन्तर भूमिका में आती है। इस स्थिति का मुख्य निमित्त अविवेक समझना चाहिए। पर कथित अन्य निमित्त भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक महत्त्व रखते हैं। इनमें परस्पर किसी प्रकार के विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसीलिए शास्त्र का उपसंहार करते हुए परमर्षि ने कहा—

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥७०॥

[यद्वा तद्वा] जो कोई भी निमित्त हो [तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः] उसका उच्छेद होना पुरुषार्थ है ।

शास्त्र का आरम्भ आचार्य ने त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हुए किया है। विस्तृत शास्त्र में प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन तथा दुःखनिवृत्ति के उपायों का निरूपण किया गया। दुःखों का अस्तित्व प्रकृति-पुरुष के संपर्क में उभरता है, पर उस संपर्क को टाला नहीं जासकता, वह अनिवार्य है। उसका सदुपयोग लेना ही श्रेयस्कर है। इसलिए वह संपर्क चाहे किसी निमित्त से हो, उसका उच्छेद करना लक्ष्य होना चाहिए। उसी स्थिति में परमपुरुषार्थ का लाभ है। सूत्र मे पदों की वीप्सा अध्याय और शास्त्र की समाप्ति की द्योतक है ॥७०॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—'बनैल'—ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना–उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
कापिलसांख्यसूत्राणां'विद्योदय'भाष्ये
तन्त्राध्यायः षष्ठः ।

सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः

परिशिष्ट १

सांख्यदर्शन—विषयानुक्रमणिका

[अकारादिक्रमानुसार]

परिशिष्ट २

प्रथमाध्याय के प्रक्षिप्त ३५ सूत्रों की व्याख्या

(प्रचलित सूत्रक्रमानुसार २०—५४ संख्या तक)

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ।

अविद्या से भी आत्मा का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जो स्वयं वस्तु नहीं है उसके द्वारा बन्ध कैसे होगा। अद्वैतवादी नवीन वेदान्तियों का मत है, कि यह जगत् अविद्या (माया-अज्ञान) का परिणाम है। अविद्या स्वयं वस्तुरूप नहीं, इसलिए जगत् का अस्तित्व भी वास्तविक नहीं। जो स्वयं अवस्तु है, वह बन्ध का कारण नहीं माना जासकता। स्वप्न में दृष्टिगोचर होती हुई रस्सी किसीको भी बांधने में असमर्थ होती है, वही अवस्था अविद्या द्वारा आत्मा के बन्धन में समझनी चाहिए॥

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ।

अविद्या के वस्तु होने पर सिद्धान्त की हानि है। यदि अविद्या को वस्तुभूत तत्त्व माना जाता है, और फिर उसे आत्मा के बन्ध का कारण स्वीकार किया जाता है, तो नवीन वेदान्तियों के अभिमत अद्वैत सिद्धान्त की हानि होजाती है। ब्रह्म के अतिरिक्त एक और वस्तुभूत तत्त्व 'अविद्या' नामक मान लिया जाता है, तब अद्वैत न रहकर द्वैत की प्राप्ति होजाती है।

इन्हीं सूत्रों के आधार पर प्रक्षेप्ता, बौद्धमत का भी प्रत्याख्यान करना चाहता है, क्योंकि नवीन वेदान्त का मायावाद बौद्धमत से पर्याप्त समानता रखता है। विज्ञानवादी बौद्ध और नवीन वेदान्त मत में केवल इतना अन्तर है कि पहला केवल विज्ञान को क्षणिक और दूसरा नित्य मानता है। उनके दर्शन की शेष अर्थ-प्रतिपादन प्रक्रिया प्रायः समान है। इसप्रकार बौद्धमतानुसार भी अवस्तुभूत अविद्या बन्ध का कारण संभव नहीं। यदि उसे वस्तुभूत माना जाए, तो क्षणिक विज्ञान ही एक तत्त्व है, इस बौद्ध सिद्धान्त की हानि होती है॥

इसके अतिरिक्त—

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।

विजातीय द्वैत की आपत्ति—प्रसक्ति होजाती है। विज्ञान से विजातीय अर्थात् विलक्षण तत्त्व है अविद्या, उसको वास्तविक तत्त्व मानने पर विज्ञान से भिन्न

जातिवाला एक और तत्त्व स्वीकार कर लिया जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध क्योंकि विज्ञान को क्षणिक मानता है, इसलिए प्रतिक्षण परिवर्त्तमान विज्ञान में सजातीय द्वैत तो है, पर अब विज्ञान से विलक्षण अविद्या को भी वस्तुतत्त्व मान लेने से विजातीय द्वैत की भी प्राप्ति होजाएगी। इस आपत्तिके कारण अविद्या को आत्मा के बन्ध का निमित्त नहीं माना जासकता।

नवीन वेदान्तमत में तो सजातीय या विजातीय किसीप्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं किया गया। क्योंकि वहां एकमात्र ब्रह्म सत्य तत्त्व हैं, न उसके समकक्ष कोई अन्य सजातीय तत्त्व और न विजातीय। फलतः इन सूत्रों के आधार पर इतने अंश में नवीन वेदान्त मत का भी प्रत्याख्यान होजाता है ॥

अविद्या का स्वरूप बतलाता है—

विरुद्धोभयरूपा चेत्।

सत् और असत् ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, और इन दोनों से विरुद्ध सद-सद्विलक्षण, ऐसा रूप अविद्या का है। अभिप्राय यह है कि अविद्या न सत् है न असत् है, न सदसत् है और न सदसदुभयविलक्षण है, पर वह है अवश्य। अविद्या का ऐसा स्वरूप मान लेने पर—अद्वैत मत अथवा विज्ञानवादी बौद्धमत में सजातीय या विजातीयरूप द्वैत की आपत्ति का कोई दोष नहीं आता। क्योंकि ऐसी अविद्या को ब्रह्म या विज्ञान का न सजातीय कहा जासकता और न विजातीय।

अविद्या के ऐसे स्वरूप का परिहार करता है—

न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः।

आशंकावादी की ओर से प्रथम सूत्र में जो अविद्या का स्वरूप बताया गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे पदार्थ की कहीं प्रतीति नहीं होती, और न ऐसा पदार्थ होना संभव है। साधारण रूप से अविद्या अज्ञान का नाम है, जो बन्ध का कारण समझा जाता है, ज्ञान होजाने पर अज्ञान नहीं रहता, और तब आत्मा भी बन्ध से छूट जाता है।

अविद्या को अतिरिक्त पदार्थ क्यों न मान लिया जाए, क्योंकि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।

हम वैशेषिक आदि के समान नियत पदार्थवादी नहीं हैं, पदार्थ छह ही होते हैं, अथवा नैयायिक सोलह ही पदार्थ मानते हैं, हम इसप्रकार पदार्थों की नियत संख्या नही मानते, ऐसी अवस्था में यदि अविद्या कोई ऐसा पदार्थ सिद्ध होता है जो विलक्षणस्वरूप है, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं ॥

इसका समाधान करता है—

अनियतत्त्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्।

अनियत पदार्थवादी होने पर भी जो पदार्थ युक्ति प्रमाण आदि से सिद्ध

नहीं होता, उसका संग्रह करना अर्थात् उसे स्वीकार करना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर अर्थात् विना युक्ति प्रमाण के ही किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार करने पर वह कथन बालकों अर्थात् मूर्खों और उन्मत्त अर्थात् पागलों के कथन के समान माना जाएगा। फलतः आत्मा के बन्ध का कारणभूत कोई अविद्या नाम का विलक्षण तत्त्व स्वीकार किया जाना युक्ति प्रमाण के अनुकूल नहीं है ।।

विज्ञानभिक्षु का विचार है कि अगले सूत्र आत्मबन्ध के विषय में अन्य नास्तिक मतों के प्रत्याख्यान के लिए लिखे गए हैं। अनिरुद्ध ने स्पष्ट ही बौद्धमत के निरास में इनका निर्देश किया है। नास्तिक अथवा बौद्ध कहता है, कि क्षणिक बाह्यविषयों की वासना का संपर्क आत्मा के बन्ध का कारण है, इस मत में दूषण देने के लिए सूत्र लिखा गया—

नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ।

न, अनादिविषयोपरागनिमित्तकः, अपि, अस्य। [अस्य] इस आत्मा का बन्ध [अनादिविषयोपरागनिमित्तकः] अनादि विषय वासनाओं के संपर्क से होने वाला [अपि] भी [न] नहीं हैं। बौद्ध मत में विषय बाह्य कहे जाते हैं और विज्ञान-रूप आत्मा आन्तर, बाह्य और आन्तर का परस्पर संपर्क संभव न होने से आत्म-बन्ध का उपर्युक्त निमित्त युक्तियुक्त नहीं है ।।

अगले सूत्र से इसी हेतु को स्पष्ट किया—

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्
स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ।

बौद्धमत में विज्ञानरूप परिच्छिन्न आत्मा देह के अन्दर स्थित माना जाता है, उसका बाह्य विषय के साथ उपरञ्ज्य-उपरञ्जकभाव संभव नहीं, इन दोनों की स्थिति में देश का व्यवधान होने से, परस्पर व्यवहित वस्तुओं में से कोई भी एक दूसरी को अपने धर्मों से उपरक्त नहीं कर सकती। जैसे स्रुघ्न[1] नगर में स्थित स्फटिक पर पाटलिपुत्र में स्थित जपाकुसुम का उपराग नहीं पड़ सकता। इसी-प्रकार बाह्य विषयों का उपराग आन्तर आत्मा (विज्ञान) पर न होने से विषयोप-

१. अब से लगभग २००० वर्ष से पहले कुरुक्षेत्र (थानेसर) से पूर्व-उत्तर की ओर प्रायः ५० मील की दूरी पर यह एक प्रसिद्ध एवं उन्नत नगर था। उसके शीघ्र अनन्तर ही यह नगर ध्वस्तप्राय होगया। बादशाही समय में यमुना की पश्चिमी नहर इस प्रदेश से होकर निकाली गई। अब भी यहां पर ध्वस्त खेड़ा पड़ा हुआ है, और 'सुग' नाम का गांव विद्यमान है। पाटलिपुत्र अब पटना नाम से प्रसिद्ध है। यह विक्रम संवत् से लगभग ५००-६०० वर्ष पूर्व बसाया गया था। इसके अनन्तर प्रायः पांचसौ वर्ष का ऐसा समय था, जिस अन्तराल में ये दोनों नगर अपनी उन्नत अवस्था में विद्यमान रहे। यही समय था,

राग आत्मा के बन्ध का कारण नहीं माना जासकता ॥

बौद्ध कहता है, जैसे अन्य मतों में इन्द्रियां विषयदेश में जाकर अन्तःकरण द्वारा आत्मा के साथ विषयों का संपर्क स्थापित करती हैं, वैसे हमारे मत में विज्ञान-रूप आत्मा ही विषयदेश में उपस्थित होकर उनके साथ संपर्क स्थापित कर लेता है, इसप्रकार विषयों के साथ यह संपर्क आत्मा के बन्ध का कारण संभव होसकता है। इसके समाधान के लिए सूत्र लिखा—

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ।

यदि यह माना जाए, कि विज्ञानरूप आन्तर आत्मा किसी एक विषय के साथ संपर्क प्राप्त कर बन्धन में आजाता है, तो मुक्त आत्मा का भी विषय के साथ संपर्क संभव होने से वह भी बन्ध में आजाएगा। यह स्थिति बद्ध और मुक्त दोनों के लिए समान होने से इस विषय में कोई एक व्यवस्था नहीं बनाई जासकती। फलतः आत्मा के बन्ध का उपर्युक्त कारण बताए जाने पर बद्ध और मुक्त की कोई व्यवस्था नहीं रहती, अतः आत्मा के बन्ध का यह कारण अयुक्त है ॥

इस विषय में बौद्ध पुनः कहता है—

अदृष्टवशाच्चेत् ।

बन्ध और मुक्त की व्यवस्था अदृष्ट के कारण होजाएगी। अदृष्ट धर्म-विशेष बद्ध आत्मा का संपर्क विषय के साथ होने देगा, मुक्त का नहीं, क्योंकि मुक्त के साथ अदृष्ट का संबन्ध नहीं रहता ॥

इसप्रकार यदि अदृष्ट कारण के आधार पर व्यवस्था को ठीक रखने का प्रयत्न किया जाए, तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि—

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ।

विज्ञानरूप आत्मा बौद्धमत में क्षणिक माना जाता है, जिस क्षण में विज्ञान में धर्म का उद्भव होता है, उसी क्षण में उपभोग नहीं होसकता, धर्म स्वरूप का लाभ करने पर ही भोग को पैदा करेगा। अतः अदृष्टयुक्त विज्ञान कर्त्ता तथा भोग-युक्त विज्ञान भोक्ता रहता है, इन दोनों कर्त्ता और भोक्तारूप विज्ञानों की एक क्षण में अवस्थिति संभव नहीं। इसलिए पहला कर्त्ता विज्ञान अगले क्षण में होने वाले भोक्ता विज्ञान का उपकार करेगा, यह बात बन नहीं सकती, अर्थात् कर्त्ता में रहने वाले अदृष्ट से भोक्ता में विषयोपराग नहीं होसकता। क्योंकि वे दोनों विज्ञान एक दूसरे से सर्वथा पृथक् क्षणों में अपना अस्तित्व रखते हैं। फलतः विज्ञान-वाद में विषयोपराग को आत्मा के बन्ध का कारण बताना युक्तिसंगत नहीं है ॥

जब इन सूत्रों का प्रक्षेप सांख्यषडध्यायी में बौद्धादि मतों के निरास के लिए किया गया। देशव्यवधान बताने के लिए अपने समय के प्रसिद्ध नगरों का नामोल्लेख युक्तिसंगत है।

बौद्ध पुनः कहता है, कि इस युक्ति का इतना ही तात्पर्य है, कि एक अधिकरण में रहने वाले अदृष्ट के द्वारा भिन्न अधिकरण में कोई भोग अथवा उपकार नहीं किया जासकता। परन्तु इसके विपरीत देखा जाता है कि पुत्र की कामना करने वाला पुरुष पुत्रेष्टि का अनुष्ठान करता है और उस अनुष्ठान से होने वाला पुत्र उपकृत होता है, इसी भाव को सूत्र से कहा—

पुत्रकर्मवदिति चेत्।

जैसे पुत्रविषयक कर्म का अनुष्ठान पिता करता है, पर उससे पुत्र का उपकार होता है, इसीप्रकार भिन्न अधिकरण में रहने वाले अदृष्ट के द्वारा अन्य अधिकरण में भी विषयोपराग संभव होसकेगा, और वह आत्मा के बन्ध का कारण बन सकता है, यदि ऐसा कहा जाए, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पुत्रेष्टि का उदाहरण बौद्ध मत में कसौटी पर ठीक नहीं उतरता॥

इसी अर्थ को सूत्रद्वारा कहा—

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना[1] संस्क्रियते।

क्योंकि बौद्धमत में कोई एक स्थिर आत्मा नहीं है, जो पुत्रेष्टि द्वारा गर्भाधानादिविपयक अनुष्ठानों से संस्कारयुक्त किया जावे। जिन मतों में आत्मा क्षणिक नहीं है नित्य है, वहां वह आत्मा विद्यमान है जो पिता द्वारा अनुष्ठित पुत्रेष्टि से संस्कारयुक्त किया जाता है और पुत्ररूप में प्राप्त होता है। इसलिए नित्यात्मपक्ष में दृष्टान्त की असिद्धि नहीं है। क्योंकि बौद्धमत में विज्ञानरूप आत्मा क्षणिक है, अतः पुत्रेष्टि का दृष्टान्त इस मत में असिद्ध है। फलतः एक अधिकरण में रहने वाले अदृष्ट से अन्य अधिकरण में विषयोपराग संभव नहीं होसकता, इसलिए बाह्य अनादि विषयोपराग को आत्मा के बन्ध का कारण मानना असंगत है॥

आत्मा की स्थिरता को सहन न करता हुआ बौद्ध कहता है, कि न केवल आत्मा प्रत्युत वस्तुमात्र क्षणिक हैं, इसलिए जैसे आत्मा क्षणिक है, उसका बन्ध भी क्षणिक है, इसका कारण चाहे कोई भी हो अथवा न हो, प्रत्येक वस्तु को क्षणिक स्वीकार करना ही चाहिए। इसी अर्थ को सूत्र से कहा—

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम्।

कोई भी तत्त्व स्थिर नहीं होता। स्थिर वस्तु के सिद्ध न होने के कारण प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, बन्ध आदि भी सब क्षणिक हैं। घट, पट, पृथ्वी, जल आदि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उनमें प्रतिक्षण बराबर परिवर्त्तन होता रहता है, यदि ऐसा न हो, तो उनका कभी अन्त समय न आना चाहिए, पर ऐसा संभव नहीं, इसलिए क्षणिकसिद्धान्त का निश्चय होता है। बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्येक सद्वस्तु क्षणिक

१. अनिरुद्ध ने 'गर्भाधानकर्मणा' ऐसा पाठ दिया है। अर्थ में कोई भेद नहीं है।

है, जैसे दीपशिखा (दीपक की लौ) देखने में एक प्रतीत होती है, परन्तु प्रत्येक क्षण में अन्य-अन्य नई लौ निकलती रहती है, ऐसे ही प्रत्येक स्थिर जैसी दीखने वाली वस्तु वस्तुतः क्षणिक एवं परिणामी है, फलतः स्थिर वस्तु संभव न होने से प्रत्येक पदार्थ क्षणिक माना जाना चाहिए ।।

प्रक्षेप्ता सूत्रकार समाधान करता है—

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।

पूर्वसूत्र से 'क्षणिकत्वम्' पद की यहां अनुवृत्ति आती है। पहले अनुभूत पदार्थ का जो पुनः कालान्तर में अनुभव होता है, उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जिस देवदत्त को मैंने वाराणसी में गतवर्ष देखा था, उसीको आज मथुरा में देख रहा हूं, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। यदि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण में बदलती रहती है, तो प्रत्यभिज्ञा की बाधा होजाएगी, अर्थात् ऐसा ज्ञान किसीको न होना चाहिए, क्योंकि वाराणसी में गतवर्ष विद्यमान देवदत्त इतने कालान्तर में क्षणिकवाद के अनुसार वही देवदत्त नहीं रह सकता। परन्तु प्रत्येक वस्तु के विषय में इसप्रकार का यथार्थज्ञान बराबर होता रहता है, इसलिए क्षणिकवाद प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध जा पड़ता है, अतः अमान्य है। ऐसी अवस्था में आत्मा का बन्ध और उसके कारण, क्षणिक नहीं माने जासकते। वस्तुतः दीपशिखा आदि में भी क्षणिक होने का भ्रम होजाता है, क्योंकि एक दीपशिखा के परिणत होने और बने रहने तक कितने अनेक क्षण लग जाते हैं, इसका परिगणन नहीं होपाता, सूक्ष्मकाल होने से उसके क्षणिक होने की भ्रान्ति होजाती है ।।

वस्तु के क्षणिक माने जाने पर प्रत्यभिज्ञा सादृश्य के आधार पर मानली जावे, तब क्षणिकवाद में कोई बाधा न होनी चाहिए। प्रक्षेप्ता सूत्रकार दोषान्तर उपस्थित करता है—

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।

'न' और 'क्षणिकत्व' पदों की पूर्वसूत्रों से अनुवृत्ति आती है। प्रत्यभिज्ञा का आधार सादृश्य नहीं कहा जासकता, क्योंक श्रुतिप्रतिपादित युक्तियों से इसका विरोध होजाता है। उपनिषद् में कहा है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ६।२।२) अपने प्रादुर्भाव से पहले भी जगत् सत् अवस्था में रहता है, क्योंकि असत् से सत् उत्पन्न नहीं होसकता। सत् असत् रूप में और असत् सत् रूप में कभी परिणत नहीं होता, यह एक निर्बाध व्यवस्था है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक कहना अयुक्त है। इसी कारण प्रत्यभिज्ञा का आधार सादृश्य नहीं कहा जासकता, सादृश्य आधार तभी संभव हो-सकता है, जब प्रत्येक सत् पदार्थ का क्षणिकत्व प्रमाणित होजाए। प्रत्यभिज्ञा का आधार सादृश्य अनुभव के भी विरुद्ध है। यह किसीको अनुभव नहीं होता, कि

जिस देवदत्त को मैंने काशी में देखा था, उसके सदृश देवदत्त को मैं मथुरा में देख रहा हूं, प्रत्युत अनुभव यह होता है, कि मैं उसी देवदत्त को मथुरा में देख रहा हूँ ।।

दृष्टान्तासिद्धेश्च ।

'न' और 'क्षणिकत्त्व' पदों की अनुवृत्ति यहां भी है । दृष्टान्त की असिद्धि से भी पदार्थों का क्षणिक होना अयुक्त है । दीपशिखा आदि की क्षणिकता किसी हेतु से सिद्ध नहीं है, अतः क्षणिकता की सिद्धि के लिये यह दृष्टान्त असंगत है ।।

क्षणिकवाद में कार्यकारणभाव भी नहीं बनता । प्रत्येक वस्तु क्षणिक होने से जिस क्षण में स्वयं उत्पन्न होती है, उसी क्षण में कार्य को उत्पन्न करेगी, अथवा स्वयं उत्पन्न होकर क्रमशः अनन्तरकाल में करेगी ? पहला विकल्प संगत नहीं क्योंकि—

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ।

जो वस्तु युगपत् अर्थात् एककाल में उत्पन्न होती हैं, उनका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं होता । जैसे बछड़े आदि के सिर पर एक साथ दोनों सींग निकलते हैं, उनमें से कोई एक दूसरे का कार्य या कारण होना संभव नहीं ।।

अन्तिम विकल्प भी असंगत है, क्योंकि—

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ।

क्षणिकवाद में वस्तु जिस क्षण में उत्पन्न होती है, उसी क्षण में नष्ट भी होजाती है, तब उत्पत्तिक्षण में ही उसका अपाय अर्थात् विनाश होजाने पर आगे उत्पद्यमान वस्तु के साथ उसका अयोग अर्थात् सम्बन्ध न होने से, उन दोनों का परस्पर कार्यकारणभाव संभव नहीं । यदि कारणवस्तु कार्योत्पत्तिक्षण तक ठहर जाती है, तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त नष्ट होजाता है ।।

कार्यकारणभाव के आधार पर अन्य दोष उपस्थित करता है—

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।

प्रत्येक वस्तु क्षणिक होने से जिस क्षण में कारणवस्तु की विद्यमानता है, उस क्षण में कार्यवस्तु अविद्यमान रहती है, जब कार्यवस्तु प्रकट में आती है, उस क्षण में कारणवस्तु का अस्तित्व नहीं रहता । इसप्रकार इन दोनों का सर्वथा अयोग अर्थात् असम्बन्ध बना रहता है । किसी तरह इन दोनों का सम्बन्ध न होने की अवस्था में इनका अन्वय-व्यतिरेक स्थापित नहीं किया जासकता, जो कार्यकारण-भाव का प्रयोजक है । कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय तथा कारण के न होने पर कार्य का न होना व्यतिरेक कहाता है । क्षणिकवाद में इन दोनों का व्यभि-चार होने से यह वाद असंगत है । क्योंकि यहां कारण के न रहने पर कार्य का होना माना जाता है, और कारण के रहने पर कार्य नहीं होता ।।

निमित्तकारण के समान उपादान कारण का भी पहले होनामात्र कार-

णता का प्रयोजक माना जाए, इस विषय में कहता है—

पूर्वभावमात्रे न नियमः ।

कार्य के प्रादुर्भाव से पूर्व विद्यमान होना ही यदि उपादानता का प्रयोजक हो, तो तन्तु से ही पट का प्रादुर्भाव हो, मट्टी से न हो, अथवा मट्टी से ही घट का प्रादुर्भाव हो, तन्तु से न हो; इसप्रकार का कोई नियम, कोई व्यवस्था बनाई नहीं जासकती, फिर तो किसी भी कार्य का कोई भी उपादानकारण होजाए, जो कार्य से पहले विद्यमान हो । पर उपादान कारण और निमित्त आदि कारण का भेद सब साधारण जन भी जानते पहचानते हैं ।।

अन्य नास्तिक कहता है–विज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं, बन्ध भी विज्ञान है । उसके निरास के लिए कहा—

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ।

केवल विज्ञान एकमात्र तत्त्व है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह कथन असंगत है, क्योंकि बाह्य अर्थों की स्पष्ट प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को होती है । इस-लिए एकमात्र विज्ञान को तत्त्व मानना असंगत है ।।

स्वप्नप्रतीति के समान बाह्यप्रतीति को मिथ्या भ्रमपूर्ण मान लिया जाए-गा; प्रक्षेप्ता सूत्रकार समाधान करता है—

तदभावे तदभावाच्छून्यन्तर्हि ।

प्रतीयमान बाह्य पदार्थों को स्वप्न के समान भ्रान्त होने से वास्तविकरूप में उनका अभाव मानने पर, विज्ञान का भी अभाव मानना होगा; क्योंकि विज्ञान किसी विषय के आधार पर ही आत्म-लाभ कर पाता है । तब तो शून्य में ही सबका पर्यवसान होगा । तात्पर्य यह है, कि बाह्य अर्थ के अभाव में विज्ञान के भी न होने से शून्यमात्र तत्त्व रह जाएगा, अर्थात् वस्तुमात्र का ही अभाव मानना होगा । फलतः बाह्य अर्थ को स्वप्न के समान भ्रान्त अथवा मिथ्या समझना असंगत है ।।

यदि शून्य ही तत्त्व हो, तो क्या हानि है ? तब न आत्मा होगा, न उसके बन्धकारणों की खोज करना आवश्यक होगा । सब कुछ विनाशशील तुच्छ है, यही कहता है—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ।

केवल शून्य वस्तुभूत तत्त्व है, क्योंकि जिस वस्तु का भाव समझा जाता है, जिसको कहा जाता है कि 'यह है', वह सब वस्तुसमूह विनाश को प्राप्त होने वाला है । कारण यह है, कि विनाश होजाना वस्तुमात्र का धर्म है । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि आज जो वस्तु है, कल नहीं रहती; होने से पहले भी नहीं थी, इसीतरह आज जो नहीं है, कल होगी, वह भी आगे न रहेगी । प्रत्येक वस्तु अभाव से होकर अभाव में लीन होजाती है, फलतः अभाव ही वास्तविक तत्त्व है, उसी

का नाम शून्य है। तब आत्मा और उसके बन्ध के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस विचार का परिहार करता है—

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।

प्रत्येक वस्तु का धर्म है–विनाश होना, यह केवल मूर्खों, अज्ञानियों की बकवाद है, सर्वथा मिथ्याकथन। जो वस्तु निरवयव हैं, जिनके विनाश या उत्पाद का कोई कारण उपलब्ध नहीं, उनका विनाश कहना सर्वथा निराधार है। कोई घटना विना कारण होजाना संभव नहीं, और प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता रहती है। शून्यमात्र तत्त्व है, इसकी सिद्धि के लिए यदि प्रमाण उपस्थित किया जाता है, तो इससे ही शून्यतावाद का खण्डन होजाता है, क्योंकि जो प्रमाण साधक है, वह शून्य नहीं कहा जासकता। यदि कोई प्रमाण शून्य की सिद्धि में नहीं है, तो शून्य स्वतः असिद्ध होगा। यदि शून्य को स्वतः सिद्ध मानते हो, तो जो वस्तु स्वतः सिद्ध है, उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया, वह विनाशशील अभाव या शून्य कैसे होगा। इसलिए यह कहना, कि अभाव से भाव होजाता है, या सब शून्य है, सर्वथा अप्रामाणिक एवं निराधार है ॥

शून्यवाद में अन्य दोष उपस्थित करता है—

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ।

शून्यवाद के साथ अन्य दो बौद्धपक्षों की समानता होने से उन वादों के खण्डन में जो हेतु दिए गए हैं, वे शून्यवाद में भी लागू होते हैं। बौद्धों का एक बाह्य क्षणिकवाद है, जो सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा क्षणिक विज्ञानवाद है, जिसको योगाचार नाम से कहा जाता है। पहले वाद में प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं होसकती, और दूसरे वाद में बाह्य अर्थ के सद्भाव की प्रतीति संभव नहीं। ये दोष शून्यवाद में भी उसी तरह हैं ॥

बौद्ध कहता है, दुःखनिवृत्ति दुःखों का शून्य होना है, अथवा दुःखों की शून्यता अर्थात् उनका अभाव दुःखनिवृत्ति का प्रयोजक है। इसप्रकार दुःखनिवृत्तिरूप होने अथवा दुःखनिवृत्तिका हेतुरूप होने से शून्यवाद का विरोध क्यों करते हो? क्योंकि तुमने दुःखनिवृत्ति को ही पुरुषार्थ कहा है। सूत्रकार समाधान करता है—

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ।

दुःखनिवृत्तिरूप होने अथवा दुःखनिवृत्ति का हेतु होने–इन दोनों प्रकारों से शून्यतत्त्व पुरुषार्थ होना संभव नहीं। क्योंकि बौद्धमत में कोई स्थिर पुरुष नाम का तत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता, तब शून्य के किसी रूप को पुरुषार्थ कहना संगत न होगा। फलतः आत्म-बन्ध के प्रसंग में कोई भी बौद्ध-वाद उपयुक्त व प्रामाणिक न होने से मान्य नहीं कहा जासकता ॥

बौद्धमत के अनुसार आत्म-बन्ध के निमित्तों का उपपादन न हो, परन्तु

शरीर में आत्मा के प्रवेशरूप गतिविशेष के कारण आत्मा का बन्ध संभव हो-सकता है। प्रक्षेप्ता सूत्रकार समाधान करता है—

न गतिविशेषात्।

आत्मा की गति शब्दप्रमाण से जानी जाती है। 'पापेन नरकं याति, पुण्येन स्वर्गं याति' पाप करके आत्मा नरक में जाता है, और पुण्य करके स्वर्ग में। 'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' यमराज ने अंगुष्ठपरिमित पुरुष (आत्मा) को बलपूर्वक खींच लिया। इन प्रमाणों के अनुसार परिच्छिन्न आत्मा का दिव्य एवं अदिव्य शरीरों में प्रवेश करना जो उसके बन्ध का कारण कहा जाता है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है॥

कारण प्रस्तुत करता है—

निष्क्रियस्य तदसम्भवात्।

आत्मा निष्क्रिय है, उसमें गति आदि क्रिया का होना संभव नहीं। इसलिए गति के कारण शरीरों में प्रवेश कर जाना आत्मा के बन्ध का कारण नहीं कहा जासकता॥

यहां आत्मा का जाना आना प्रत्यक्ष देखने में आता है, और शब्दप्रमाण से परलोक में जाना और वहां से वापस आना प्रमाणित होता है। 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा' [श्वेता० ३।१३] तथा 'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः। अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः...आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः' [श्वेता० ५।७—८] इत्यादि वाक्यों में आत्मा को परिच्छिन्न और संचरणशील बताया गया है, तब उसको वैसा ही स्वीकार कर लेना चाहिए। समाधान करता है—

मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः।

यदि आत्मा को परिच्छिन्न स्वीकार किया जाता है, चाहे वह मध्यमपरिमाण हो अथवा अणुपरिमाण, तथा गति आदि क्रिया के कारण वह सक्रिय भी होगा, तो वह क्रियावाला होने से मूर्त्त होगा, तो घट पट आदि पदार्थों के तुल्य ही वह माना जाएगा, तब उनके अन्य धर्मों के साथ भी आत्मा की समानता होगी। तात्पर्य यह है, कि आत्मा घट पट आदि पदार्थों की तरह अनित्य सावयव विनाशी आदि होना चाहिए। उस अवस्था में आत्मविषयक सिद्धान्त ही नष्ट होजाएगा। आत्मा का जैसा स्वरूप शास्त्र में माना गया है, यह उससे सर्वथा विपरीत होगा। अतः गतिविशेष आत्मा का बन्ध-कारण होना संभव नहीं॥

यदि आत्मा इस रूप में निष्क्रिय है, तो उसमें गति का प्रतिपादन करने वाले प्रमाणवाक्यों का क्या आधार होगा? समाधान किया—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्।

आत्मविषयक गतिश्रुति उपाधियोग से उपपन्न होजाएगी। जहां-कहीं वैदिक साहित्य में आत्मा की गति-आगति आदि का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, वहां वस्तुतः बुद्धिसत्त्व अथवा सूक्ष्मशरीर की गति-आगति का आत्मा में आरोप है। आत्मा जब बन्धन में होता है, तब बुद्धि आदि से अथवा सूक्ष्मशरीर से उपहित रहता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि आदि उपाधिगत गति का उपहित आत्मा में व्यवहार कर लिया जाता है। इस विषय में उदाहरण आकाश का दिया जाता है। जैसे पानी भरने के लिए घड़ा कुऐं या बावड़ी में डाला जाता है, और पानी भर जाने पर ऊपर उठा लिया जाता है। पानी जहां भरा है, वह आकाश है। पानी के साथ आकाश ऊपर नहीं आता। यहां घट उपाधि की गति का आकाश में आरोप समझना चाहिए। इसी आधार पर आत्मविषयक गति का उपपादन किया जाता है॥

वस्तुतः इस रूप में आकाश का दृष्टान्त उपयुक्त एवं प्रामाणिक नहीं है। मट्टी की गोलाकार पर्त्त का नाम घड़ा है, आकाश कभी घड़े से नहीं घेरा जाता, प्रत्युत घड़ा ही आकाश से घिरा रहता है। आकाश का कार्य किसी भी वस्तु को अवकाश देना है। आकाश द्वारा जैसे उस मट्टी की पर्त्त को अवकाश प्राप्त होता है, ऐसे ही उस पानी को भी जो उस पर्त्त से घिरा हुआ है। पानी पर्त्त से घिरा है, आकाश नहीं। इसीलिए उस पर्त्त अथवा घट के साथ पानी ऊपर आता है। आकाश तो इन वस्तुओं को केवल अवकाश प्रदान करता है। उसकी गति का प्रश्न ही नहीं। व्यवहार में भी—कुऐं से घड़ा खींच लिया अथवा पानी खींच लिया—ऐसा ही होता है। आकाश ऊपर खींच लिया-व्यवहार कहीं नहीं सुना-देखा गया।

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार क्रियावाली वस्तु वही मूर्त्त होसकती है, जो व्यक्त हो। अव्यक्त तत्त्व क्रियावान् होते हुए भी मूर्त्त नहीं होता, आत्मा अव्यक्त है, वह सक्रिय भी हो, तो भी मूर्त्त होना उसका संभव नहीं, इसलिए मूर्त्त पदार्थों के अन्य धर्मों का उसमें संभव होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन प्रक्षिप्त सूत्रों में अन्य भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें साधारणरूप से सांख्यसिद्धान्त की अपेक्षा नहीं रक्खी गई॥

भले ही गति आत्म-बन्ध का कारण न हो, कर्म अथवा कर्मजन्य अदृष्ट से आत्मा का बन्ध मान लेना चाहिए, इसका समाधान करता है—

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।

कारण पद से कभी कार्य का कथन कर दिया जाता है। यहां कर्मपद से कर्मजन्य अदृष्ट का भी ग्रहण होजाता है। कर्म अथवा धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट आत्मा के बन्ध का कारण नहीं माना जाना चाहिए। कारण यह है, कि कर्म अथवा अदृष्ट आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे बुद्धिधर्म हैं। अन्य के धर्म से अन्य का बन्ध होना संभव नहीं॥

अन्य के धर्म से अन्य का बन्ध होजाए, क्या हानि है ? इसका समाधान करता है—

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ।

आत्म-बन्ध के कारणों को यदि अन्य का धर्म माना जाए, तो अतिप्रसक्ति दोष होगा। जो बन्ध में न आने चाहिएं, उनका भी बन्ध में आना प्राप्त होजाएगा। जब अन्य के धर्म से अन्य कोई बन्ध में आसकता है, तो बद्ध आत्मा के निमित्त मुक्त आत्मा को भी बन्धन में लाने के प्रयोजक होजाने चाहिएं, तब मुक्त आत्मा भी बन्धन में आजाएगा, जो इष्ट नहीं है। इसलिए आत्म-बन्ध का उक्त निमित्त भी अयुक्त है ।।

कर्म अथवा अदृष्ट को आत्मा का ही धर्म मान लिया जाए, तो अन्य धर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर अदृष्ट आत्मधर्म होता हुआ आत्म-बन्ध का कारण होसकेगा। समाधान करता है—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।

यदि अदृष्ट आत्मा का धर्म मान लिया जाए, तो उपनिषद् आदि के जिन वाक्यों में आत्मा को निर्गुण अथवा असंग आदि बताया गया है, उनके साथ इस मन्तव्य का विरोध होगा। उपनिषदों में कहा है—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वेता० ६।११] 'असङ्गो ह्ययं पुरुष इति' [बृह० ४।३।१-१६], यहां चेतन आत्मा को स्पष्ट रूप से निर्गुण एवं असंग बताया गया है। ऐसी स्थिति में अदृष्ट को आत्मा का धर्म मानना शब्दप्रमाण के विरुद्ध होगा ।।

वस्तुतः सांख्यदृष्टि से आत्मा के निर्गुण रूप की व्याख्या उपर्युक्त रीति पर युक्त प्रतीत नहीं होती। धर्म-अधर्म आदि का अनुष्ठान चेतन आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं करता। बुद्धि आदि सब करण आत्मा के अनुष्ठान अथवा भोग आदि में साधनमात्र हैं, इनका नाम ही सांख्यशास्त्र में 'करण' है, जो उनके साधनरूप को स्पष्ट करता है। ये स्वयं अनुष्ठाता या कर्त्ता संभव नहीं। सांख्य में 'कर्त्तृ' पद कुछ पारिभाषिक है। अन्य शास्त्रों में जिस अर्थ को 'कर्त्तृ' पद प्रकट करता है, उस अर्थ का बोधन कराने के लिए सांख्य में 'अधिष्ठाता' पद का प्रयोग किया गया है, और कर्त्ता पद से यहां परिणाम का बोध होता है, इसी अर्थ में प्रकृति को कर्त्री कहा जाता है, वह परिणामिनी है। 'गुण' पद प्रकृति के ही सत्त्व-रजस्-तमस्रूप को प्रकट करता है। निर्गुण का अर्थ है—जो सत्त्व-रजस्-तमस्-रूप न हो। इसीलिए धर्मादि का अनुष्ठान करता हुआ भी चेतन आत्मा सदा स्वरूप से निर्गुण रहता है। 'सङ्ग' पद का अर्थ है—उक्त गुणों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता। ये गुण परस्पर एक दूसरे के साथ गुंथकर बुद्धि आदि दिव्य-अदिव्य जगत् के रूप में परिणत होते हैं, यह सङ्गधर्म गुणों में संभव है अन्यत्र नहीं। इसीलिए चेतन

आत्मा सदा असंग रहता हैं। फलतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि प्रस्तुत सूत्र में आत्मा को जिस रीति पर निर्गुण कहा गया है, उसमें सांख्यसिद्धान्त की अधिक अपेक्षा नहीं रक्खी गई।

सूत्र में 'इति' पद प्रक्षेप्ता के द्वारा प्रक्षिप्त किए गए प्रकरण की समाप्ति का द्योतक है। पैंतीस सूत्रों के इस प्रक्षेप को निम्नलिखित आधारों पर पहचाना गया है—

१. आत्म-बन्ध के निमित्तों में जिनकी कल्पना पूर्वपक्षरूप से सूत्रकार को अभीष्ट थी, सिद्धान्तपक्ष कहने से पहले उनको सूत्रित कर दिया गया है। उन्नीसवें सूत्र में सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन किया। उसके अनन्तर पुनः वही प्रसंग उठाना अनावश्यक था।

२. सूत्रों की पदानुबन्धी और अर्थानुबन्धी रचना के अनुसार वर्त्तमान उन्नीसवें सूत्र के ठीक अनन्तर २०वां वह सूत्र आना चाहिए, जो आजकल ५५ संख्या पर उपलब्ध होता है।

३. इन सूत्रों में वेदान्त की नवीन विचारधारा का खण्डन है।

४. षट्पदार्थवादी वैशेषिक का नामोल्लेख है, जिसकी रचना कपिल के समय से बहुत अनन्तरकाल में हुई है।

५. वौद्धमत का और बौद्धदार्शनिकों के अवान्तर संप्रदायों का उनके पारिभाषिक पदों का उल्लेख कर खण्डन किया गया है।

६. जैनमत और पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की आत्म-विषयक मान्यताओं का इन सूत्रों में खण्डन उपलब्ध है, जिनका सद्भाव कपिलकाल में किन्हीं भी प्रमाणों से संभव नहीं।

७. सूत्रों में कतिपय स्थलों पर वास्तविक सांख्यसिद्धान्त की उपेक्षा की गई है, और उन्हीं मान्यताओं को स्वीकार कर लिया गया है, जो मध्यकाल में सांख्य के नाम पर आरोपित की जाचुकी थीं।

८. एक सूत्र में 'स्रुघ्न' और 'पाटलिपुत्र' इन दो नगरों का नाम है, जो कपिल के बहुत अनन्तरकाल में अस्तित्व में आए। इस उल्लेख द्वारा यह भी निश्चय किया जासकता है, कि इन सूत्रों का प्रक्षेप किस काल में किया गया होगा।

९. ५४वें सूत्र का प्रकरणानुगत सम्बन्ध कोई भी व्याख्याकार ५५वें सूत्र के साथ उपपादन नहीं कर सका, उसके अनुगत सम्बन्ध के लिए १९वें सूत्र के आधार पर ही प्रसंग का अवतरण किया गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है।

ऐसेही आधारोंपर हमने इन सूत्रों को मूलग्रंथ से पृथक् कर दिया है। पाठकों को इनका भी अर्थ समझने में असुविधा न हो, इसलिए इन्हें परिशिष्ट में देदिया है। प्रक्षेप के विषय में अधिक जानना अपेक्षित हो, तो 'सांख्यदर्शन का इतिहास' देखें।

पञ्चमाध्याय के प्रक्षिप्त ४ सूत्रों की व्याख्या

(प्रचलित सूत्रक्रमानुसार ५७—६० तक)

अचानक आगन्तुक के समान शब्दविषयक विचार प्रस्तुत किया—

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ।

किसी अर्थ का बोधन कराने के लिए जिस पद का उच्चारण किया जाता है, उसके घटक अनेक वर्ण होते हैं। घड़े का बोध कराने के लिए 'घट' अथवा 'कलश' पद का प्रयोग किया। इन पदों के प्रत्येक वर्ण का उच्चारण क्रमिक होता है। जब 'घ' का उच्चारण होता है, तब 'ट' उच्चरित नहीं, और 'ट' के उच्चारण काल में 'घ' नष्ट या विलीन होचुका होता है। इसीतरह प्रत्येक पद में समझना चाहिए। 'घड़ा' अर्थ न केवल 'घ' वर्ण का है और न 'ट' का, और ये दोनों वर्ण इकट्ठे एक क्षण में उच्चरित हो नहीं सकते। तब 'घट' पद के उच्चारण के अनन्तर 'घड़ा' अर्थ का बोध कैसे होजाता है, यह एक समस्या है। इसके समाधान के लिए आभिधानिकों ने एक अखण्ड स्फोट की कल्पना की है। 'घट' पद में यद्यपि 'घ' और 'ट' अलग-अलग वर्ण हैं, पर इनके पीछे अव्यक्तरूप एक नित्य अखण्ड पद है—घट। ये वर्ण उसी को अभिव्यक्त कर देते हैं, और वह अर्थ को स्फुट करने—प्रकट करने—में समर्थ होता है, इसीकारण उसको 'स्फोट' पद से व्यवहृत किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र से प्रक्षेप्ता सूत्रकार इस विचार का प्रत्याख्यान करता है—शब्द स्फोटात्मक अर्थात् स्फोटरूप नहीं है, क्योंकि उच्चारण होने पर जिसकी प्रतीति होती है, वह ध्वनिरूप वर्णात्मक पद है, उसके अतिरिक्त किसी 'स्फोट' आदि की प्रतीति नहीं होती। यदि यह माना जाता है, कि उच्चरित वे वर्ण अखण्ड स्फोट को अभिव्यक्त कर देते हैं, तो वे वर्ण अर्थ को भी अभिव्यक्त क्यों नहीं कर सकेंगे ? अभिप्राय यह है, कि यदि वर्णों में स्फोट को अभिव्यक्त करने की शक्ति है, तो वर्णों की वह शक्ति सीधा अर्थ को ही अभिव्यक्त कर देगी, बीच में निरर्थक स्फोट को मानना अनावश्यक है।

स्फोट न मानने पर शब्द को ही नित्य मान लिया जाए। इसका समाधान करता है—

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ।

शब्द को नित्य नहीं माना जासकता। नित्य वही होता है, जिसका उत्पाद

और विनाश न हो; परन्तु शब्द ऐसा नहीं है, उसमें कार्यता—उत्पाद विनाशशीलता—की प्रतीति होती है । हम देखते हैं, कि विशेष प्रयत्नों के अनन्तर शब्द उच्चरित होकर फिर नहीं रहता । इसलिए उसे नित्य कहना असंगत होगा ।

शब्दनित्यतावादी आशंका करता है—

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ।

प्रयत्न के अनन्तर उच्चरित होकर शब्द जो सुना जाता है, वह शब्द की केवल अभिव्यक्ति है, शब्द की सत्ता पहले से सिद्ध है, श्रवण पहले से विद्यमान शब्द का ही होता है, अविद्यमान या उत्पद्यमान का नहीं । जैसे घट पट मंजूषा अन्य पात्र परिच्छद आदि अन्धकारपूर्ण घर में पहले से रक्खे रहते हैं, प्रकाश आदि साधन के अभाव में दृष्टिगोचर नहीं होते, पर प्रदीप आदि प्रकाश के उपस्थित होने पर वे सब पदार्थ दीखने लगते हैं । ऐसा नहीं है कि प्रदीप आने से पूर्व वे पदार्थ अविद्यमान हों, अथवा आने पर उत्पन्न हुए हों । इसीप्रकार शब्द जब अपने अभिव्यक्तिनिमित्तों के उपस्थित होने पर सुनाई पड़ता है, उससे पूर्व भी वह बराबर विद्यमान रहता है । निमित्तों के अभाव में केवल सुना नहीं जाता । 'ट' उत्पन्न होगया, 'घ' नष्ट होगया, शब्द में इसप्रकार का उत्पादविनाशव्यवहार तो उच्चारण के आधार पर होता है । तात्पर्य यह है कि उत्पाद-विनाश उच्चारण क्रिया के धर्म हैं शब्द के नहीं । उच्चारण स्वयं शब्द नहीं, उच्चारण अभिव्यक्ति है, शब्द उसके द्वारा उच्चरित अथवा अभिव्यक्त होता है । अतः शब्द को उच्चारण से पूर्व भी विद्यमान मानना चाहिए, इसलिए वह नित्य है ॥

इस आशंका का समाधान करता है—

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम् ।

विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति के द्वारा, शब्द की नित्यता सिद्ध करते हुए प्रतिवादी का सिद्धान्त क्या है ? यदि उसका तात्पर्य सत्कार्यसिद्धान्त के आश्रय पर अपने मन्तव्य की स्थापना करना है, अर्थात् वह अभिव्यक्ति के द्वारा यह प्रकट करना चाहता है, कि पूर्वविद्यमान शब्द ही कारणव्यापार से अभिव्यक्त होता है, तो यह सिद्धसाधन है । सांख्य जिस बात को स्वीकार करता है, उसीका यह साधन है, कोई नई बात नहीं ॥

प्रस्तुत सूत्र से जिस अर्थ को प्रकट किया गया है, सांख्यदृष्टि से वह चिन्त्य है । वस्तुस्थिति यह है, कि सत्कार्यसिद्धान्त कार्यकारणभाव के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है, अन्यत्र नहीं । इस दृष्टि से सांख्य का स्वारस्य इसमें है, कि कोई भी कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व कारणरूप में विद्यमान रहता है, अभी कार्यरूप अनभिव्यक्त है । कारणव्यापार उसे अभिव्यक्त कर देता है । यदि कार्य कारणव्यापार से पहले भी स्वरूप से विद्यमान रहता है, ऐसा माना जाए, तो फिर कारणव्यापार

की क्या आवश्यकता है ? इसलिए सांख्यमत में किसी भी कार्य को स्वरूप से नित्य नहीं माना जाता, परिणामी माना जाता है, धर्मपरिणाम से धर्मी परिणत हुआ-सा दीखता है। धर्मी का विद्यमान रहना ही सत्कार्यसिद्धान्त का तात्पर्य है। परन्तु शब्दनित्यतावादी इस विचार को स्वीकार नहीं करता, वह शब्द को स्वरूप से नित्य मानता है। जैसे घड़े का कारण मट्टी और कपड़े का सूत है, और घड़ा एवं कपड़ा अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व उस [कारण] रूप में विद्यमान रहते हैं, शब्द के ऐसे किसी कारण को शब्दनित्यतावादी स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य अर्थ सांख्यमत से सामञ्जस्य नहीं रखता, यह स्पष्ट है। इस कारण तथा अन्य कारणों से निश्चय है, कि ये सूत्र कपिल की रचना नहीं हैं। इस विषय का अधिक विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ २६० में द्रष्टव्य है ॥

◇ ◇ ◇

प्रचलित सूत्रक्रमानुसार पञ्चमाध्याय के ७८वें सूत्र के आगे एक सूत्र है—

एवं शून्यमपि ।

ऐसा ही मोक्षस्वरूप शून्यवाद में भी समझना चाहिए ॥

वस्तुतः यह सूत्र कपिल की रचना नहीं। ७८वें सूत्र में सर्वोच्छेद को मुक्ति का स्वरूप बताकर उसका प्रत्याख्यान किया गया है। किसी अध्येता ने मध्यकाल में सर्वोच्छेदवाद के साथ बौद्धमत के शून्यवाद की तुलना करने की भावना से अपने ग्रन्थ के हाशिए (प्रान्तभाग) पर यह वाक्य [एवं शून्यमपि] लिखा होगा, जो कालान्तर में प्रतिलिपिकारों की अज्ञानता के कारण मूलपाठ में सम्मिलित कर दिया गया ॥

इसीप्रकार इससे अगले सूत्र का अंश है—

संयोगाश्च वियोगान्ता इति ।

किसी देश आदि के साथ संयोग होने का परिणाम वियोग होता है। किन्हीं दो वस्तुओं का होनेवाला संयोग सदा नहीं रह सकता, उनका वियोग अवश्यम्भावी है, यही इसका तात्पर्य है ॥

वस्तुस्थिति यह है, कि यहां मूलसूत्र है—'न देशादिलाभोऽपि'—किसी देश-विशेष में प्राप्त होजाना मुक्ति का स्वरूप नहीं है। इसी बात की पुष्टि के लिए उक्त वाक्य सांख्य के किसी अध्येता ने हेतुरूप में सूत्र के साथ ग्रन्थ के प्रान्तभाग पर लिख दिया होगा, जो कालान्तर में प्रतिलिपिकारों की अज्ञानता व भ्रान्ति से सूत्र का अंश बन गया। इन्हीं कारणों से ये वाक्य सूत्रक्रम से पृथक् कर दिए गए हैं।

प्रचलित क्रमानुसार जिस सूत्र की संख्या ऊपर ७८ लिखी गई है, वह सूत्र इस प्रस्तुत विद्योदयभाष्य में ७४ संख्या पर मिलेगा, और ८०वां सूत्र ७५ संख्या पर ॥

३२ सूत्रों का प्रक्षेप

पञ्चम अध्याय में एक और इकट्ठा ३२ सूत्रों का प्रक्षिप्त प्रकरण है। मोक्षस्वरूपप्रतिपादन के प्रसंग में किसी व्यक्ति ने इन सूत्रों को अप्रासंगिक रूप से जोड़ दिया है, ये कपिल की रचना संभव नहीं। इसके लिए देखें—'सांख्य-दर्शन का इतिहास' पृष्ठ २६२ से २७६ तक। प्रचलित क्रमानुसार यह सूत्र संख्या ८४ से प्रारम्भ होकर ११५ पर समाप्त होती है।

पाठकों की सुविधा के लिए उन सूत्रों का अर्थ यथाक्रम प्रस्तुत किया जाता है। उनमें पहला सूत्र है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः।

पृथिव्यादि भूत इन्द्रियों के उपादानकारण [प्रकृति] नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियां सब अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं, ऐसा सुना जाता है ॥

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः।

पदार्थ केवल छह हैं, यह नियम नहीं है, और उनके ज्ञान से मोक्ष होता है, यह कहना भी संगत नहीं। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ छह माने गए हैं न न्यून न अधिक। परन्तु पदार्थविषयक यह नियमन युक्तियुक्त नहीं। कारण यह है, कि द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय—इन स्वीकृत छह पदार्थों में केवल पहले तीन पदार्थ अनित्य हैं। उनमें भी पहले दो में कुछ नित्य कुछ अनित्य माने गए हैं। इन सबके आधारभूत पदार्थ नौ द्रव्यों में पांच नित्य और पहले पृथ्वी, जल, तेज, वायु नित्यानित्य हैं। मूलकारणरूप परमाणु नित्य और उनके कार्यद्रव्य द्वयणुकादि अनित्य हैं। परन्तु इस प्रसंग में विचारणीय है, कि स्थूल पृथिवी आदि के समान मूलकारण पृथिव्यादि परमाणु भी गन्धादि धर्मों के सहित रहते हैं। सूक्ष्मविचारकों ने स्पष्ट किया है, कि गन्धादियुक्त अवस्था में वे भी संघातरूप हैं, इसलिए कार्य हैं नित्य नहीं। उनके कारण हैं—तन्मात्र। वे भी संघात हैं, उनके भी कारण-तत्त्व अन्य हैं। यह परम्परा मूल उपादान प्रकृति पर पर्यवसित होती है, वह भी सत्त्व-रजस् और तमस्रूप है, जो प्रत्येक अनन्त रहते हैं। सब तत्त्व केवल दो वर्ग में अन्तर्हित हैं—एक चेतनवर्ग है दूसरा अचेतन। चेतन आत्मा हैं और अचेतन प्रकृति। इनके भेद का साक्षात्कार ज्ञान होने पर मोक्ष होता है अन्यथा नहीं। इसलिए नियत छह पदार्थ स्वीकार करना और उनके ज्ञान से मोक्षप्राप्ति कहना अप्रामाणिक एवं अमान्य है ॥

षोडशादिष्वप्येवम्।

इसीप्रकार सोलह पदार्थ स्वीकार करने वालों के विषय में भी समझना चाहिए। न्याय [गौतम] दर्शन में सोलह पदार्थ बताए गए हैं, पर वे ही विद्वान् उनका अन्तर्भाव उपर्युक्त छह पदार्थों में कर लेते हैं। तब सोलह का नियम स्वतः

छिन्न होजाता है ।।

वैशेषिकादिस्वीकृत अणुतत्त्व नित्य नहीं हैं, यह बताया—

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ।

पृथिव्यादि भूतों के कारणतत्त्व परमाणु नित्य नहीं हैं, क्योंकि उनकी कार्यता श्रुतिद्वारा प्रतिपादित है, अथवा यह बात प्राचीन आचार्यों से सुनते चले आते हैं। पृथिवी आदि के अतिसूक्ष्म कण भी–जिन में पृथिवीपन [पृथिवीत्व] प्रतीत होता है–निश्चित रूप से संघात हैं, इसी कारण उनकी अनित्यता स्पष्ट है। 'अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यः' [मनु० १।२८] पदों द्वारा मनु ने पृथिव्यादि अणु-तत्त्वों को विनाशशील बताया है ।।

परमाणु निरवयव है, तब वह अनित्य कैसे होगा ? इस विषय में कहा—

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ।

पृथिवी आदि के तत्सजातीय अतिसूक्ष्म भी कारणतत्त्व निरवयव नहीं हैं, क्योंकि वह कार्य अर्थात् संघातरूप हैं, यह बात निश्चित है, जो संघात है वह निरवयव नहीं होता। गौतमसूत्र [न्याय० ४।१।११] में स्पष्टरूप से पृथिव्यादि के कारणभूत परमाणुओं को 'व्यक्त' बताया है। प्रत्येक व्यक्त तत्त्व संघातरूप होता है, वह निरवयव नहीं होसकता, इसलिए उसकी अनित्यता निश्चित है ।।

बाह्य इन्द्रिय से होने वाले वस्तु के प्रत्यक्ष में केवल रूप निमित्त होता है, इसका निरास करता है—

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ।

केवल रूपनिमित्त से वस्तु का बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है, यह नियम नहीं है। यदि ऐसा हो, तो द्व्यणुक का भी प्रत्यक्ष होजाना चाहिए, क्योंकि वह रूपवाला है। अथवा यदि प्रत्यक्षमात्र में केवल रूप को निमित्त माना जाए, तो प्रकृति-पुरुष का प्रत्यक्ष संभव न होगा। इसलिए केवल रूप प्रत्यक्षमात्र में निमित्त है, ऐसा नियम निराधार एवं असंगत है। अन्य निमित्तों से भी वस्तु का प्रत्यक्ष होना संभव है। फिर विभिन्न प्रत्यक्षों के क्षेत्र विभिन्न हैं, उनके अनुसार निमित्त भी अपने-अपने विभिन्न होसकते हैं ।।

परिमाण की चतुर्विधता का खण्डन करता है—

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ।

अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ–यह चार प्रकार का परिमाण वैशेषिक आदि दर्शनों में स्वीकार किया गया है। प्रक्षेप्ता सूत्रकार कहना चाहता है, कि परिमाण के चार भेद क्यों माने गए हैं, जब दो (अणु महत्) से ही कार्य-व्यवहार चलसकता है। जैसे मध्यम परिमाण की गणना अलग नहीं की जाती, उसे महत् परिमाण के अन्तर्गत माना जाता है, ऐसे ही ह्रस्व और दीर्घ परिमाण भी महत् के अन्तर्गत

समझे जासकते हैं। यदि ऐसा न मानकर उनकी पृथक् गणना करने का आग्रह किया जाता है, तो टेढ़ा-तिरछा आदि परिमाण भी पृथक् गिनने चाहिएं, और इस-प्रकार वस्तुओं के आकार अनन्त होने के कारण परिमाण भी अनन्त माने जाने चाहिएं। फलत: आकाश के कारणों को छोड़कर शेष सब कारणतत्त्व तन्मात्र कार्य-पर्यन्त अणु और इनके अतिरिक्त समस्त स्थूल कार्य महत् परिमाण के अन्तर्गत आजाते हैं। अत: परिमाण के दो भेद मानना युक्त है ॥

वस्तु अथवा व्यक्तिविषयक जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह सामान्य पर आश्रित रहता है, यह बताया—

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ।

कार्यवस्तु उत्पादविनाशशील होने से अनित्य रहती हैं, फिर भी कुछ काल तक उनका स्थिर रहना प्रत्यक्ष से जाना जाता है। यह वही घट है जिसे पिछले महीने मैं लाया था, अथवा यह वही देवदत्त है जिसे मैंने गतवर्ष मथुरा में देखा था, इसप्रकार का मिला हुआ ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहाता है। इसमें 'घड़ा' अथवा 'देव-दत्त' विभिन्न स्थान और काल में एक ही प्रतीत होता है, यह वस्तु की स्थिरता का द्योतक है, फिर भी वस्तु के सामान्यधर्म इस प्रतीति के प्रयोजक होते हैं।

यद्यपि कभी-कभी वस्तु के भिन्न होने पर भी प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। इस वर्ष फसल में हमने उत्तम दशहरी आम खाए, अगली फसल आने पर जब वैसे ही दशहरी आम खाए जाते हैं, तो साधारणरूप से उस समय प्रत्यभिज्ञान का ऐसा स्वरूप व्यवहार में आता है—ये तो बिल्कुल वे ही आम हैं जो हमने पिछले साल खाए थे। ऐसा व्यवहार अनेक वस्तुओं में अनेक प्रसंगों में देखा जाता है। निश्चित है कि ऐसे स्थलों में प्रत्यभिज्ञान का विषय पदार्थ 'वही' नहीं है, प्रत्युत 'वैसा' होता है। ऐसे स्थलों में प्रत्यभिज्ञा का औपचारिक या गौणरूप ही समझना चा-हिए, वे स्थल मुख्य हैं, जहां वस्तु वही होती है, यद्यपि प्रत्यभिज्ञा के प्रयोजक सामा-न्य धर्म ही रहते हैं ॥

प्रत्यभिज्ञा का विषय सामान्य रहो, इससे क्या? बताया—

न तदपलापस्तस्मात् ।

इसीकारण सामान्य का अपलाप करना शक्य नहीं। प्रत्यभिज्ञा का विषय अथवा प्रयोजक होने से सामान्य की उपेक्षा किया जाना संभव नहीं है, उसको स्वीकार करना ही चाहिए ॥

सब गायों में गोत्व (गौ-पना) रूप सामान्य कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है, वह केवल अतद्व्यावृत्तिरूप है। गाय से भिन्न जितना संसार है, उस सबका अभाव है गाय में। इसलिए समस्त गायों में जिसे हम सामान्य धर्म कहते हैं, वह गाय से अतिरिक्त समस्त जगत् का अभावरूप है, उसी आधार पर प्रत्यभिज्ञा व्यवहार भी

संपन्न होजाएगा, अतिरिक्त सामान्य मानना निरर्थक है। समाधान करता है—

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः।

गाय से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों की निवृत्ति अर्थात् उनका अभावरूप ही गोत्व सामान्य है, यह कथन असंगत है, क्योंकि सामान्य की प्रतीति भावरूप में होती है अभावरूप में नहीं। अभिप्राय यह है कि सामान्य भावरूप अर्थ है अभाव-रूप नहीं। जब 'यह वही घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, उसमें वह घटत्व (घट का होना, घट-पना) भावरूप में प्रतीत होरहा है, अतः सामान्य को अभावरूप कहना, या सामान्य की उपेक्षा कर उसकी जगह अभावरूप से व्यवहार संपन्न करना युक्त नहीं है॥

प्रत्यभिज्ञान सादृश्यद्वारा संपन्न होजाएगा, उसके लिए सामान्य को स्वी-कार करना व्यर्थ है। इस विषय में कहा—

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः।

वस्तुओं के अवयवों की अधिकाधिक समानता के अतिरिक्त, अन्य कोई स्वतन्त्र तत्त्व 'सादृश्य' नाम का नहीं है। गाय के सदृश-नीलगाय होती है, अथवा चैत्र के सदृश मैत्र है, इत्यादि सादृश्य प्रतीतियों में उन वस्तुओं के अवयवों की अधिकाधिक समानता ही प्रत्यक्ष से उपलब्ध होती है। यह समानता ही सामान्य का रूप है, तब सादृश्य को पृथक् तत्त्व कहना निरर्थक है॥

प्रत्येक वस्तु में अपनी एक स्वाभाविक शक्ति रहती है, वही सादृश्य है, वह सामान्य से अतिरिक्त है। इसका खण्डन करता है—

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः।

पहले सूत्र से 'न' और 'सादृश्यं' पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। वस्तु की अपनी शक्ति का अभिव्यक्त होना अर्थात् प्रकट होना भी सादृश्य नहीं है, क्यों-कि शक्तिज्ञान और सादृश्यज्ञान दोनों में परस्पर भेद होता है। शक्तिज्ञान दूसरे धर्मी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, सादृश्यज्ञान अन्य धर्मी की अपेक्षा के विना नहीं होता। इसलिए वस्तुशक्ति सादृश्य नहीं है।

यदि प्रत्येक वस्तु में शक्ति का होना सादृश्य माना जाए, तो बालक का सादृश्य युवा के साथ, बकरी का सादृश्य ऊंट के साथ और घट का सादृश्य पट के साथ होजाना चाहिए, क्योंकि शक्ति का होना सब में समान है। यदि युवाकालिक शक्ति का युवा के साथ सादृश्य कहा जाए, तो इसप्रकार व्यक्तियों के अनन्त होने से शक्ति को भी अनन्त मानना होगा। इससे उन-उन वस्तुओं में समानरूप से रहनेवाला एक धर्म 'सामान्य' को ही मान लेना युक्त होगा॥

घट आदि व्यक्तियों का सादृश्य यही है, कि समस्त घटों का एक नाम है-'घट'; ऐसे ही समस्त पटों की एक संज्ञा-'पट' है। इसप्रकार सब धर्मियों (संज्ञि-

यों) के साथ एक संज्ञा का सम्बन्ध होना उनका सादृश्य है। इसका निरास करता है—

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ।

पूर्वसूत्र से हेतुपदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में है. संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध भी सादृश्य नहीं कहा जासकता, क्योंकि संज्ञासंज्ञिसंबन्ध के ज्ञान में और सादृश्य के ज्ञान में भेद होता है। दो अथवा अनेकवस्तुओं के सादृश्य को वह व्यक्ति भी जान लेता है, जो उन वस्तुओं का नाम (संज्ञा) नहीं जानता। अभिप्राय यह है कि संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान न होने पर भी सादृश्य का ज्ञान संभव होता है, इसलिए संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध को सादृश्य कहना असंगत है ॥

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध है। यदि वह सम्बन्ध नित्य मान लिया जाए, तो अर्थ के देखने पर उसके संज्ञाशब्द का ज्ञान न होने की अवस्था में भी नित्य होने से सम्बन्ध की प्रतीति होजाएगी, इसप्रकार उस सम्बन्ध को सादृश्य मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इसका निरास करता है :—

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ।

शब्द और अर्थ दोनों के अनित्य होने से उनके सम्बन्ध का नित्य होना संभव नहीं। प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त अन्य समस्त महदादि पदार्थ कार्य होने से अनित्य हैं, तब ऐसे अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध नित्य नहीं होसकता ॥

दिक्काल अथवा काल-आकाश आदि नित्य पदार्थों का सम्बन्ध नित्य माना जासकता है. सम्बन्ध नित्य है ही नहीं, ऐसा क्यों ? समाधान करता है—

नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् ।

जिनका सम्बन्ध नित्य हो, ऐसे धर्मी का ग्रहण करने वाले प्रमाण की बाधा से सम्बन्ध का नित्य माना जाना संभव नहीं। किसी भी प्रमाण से ऐसे धर्मी को नहीं जाना जासका, जिनका सम्बन्ध नित्य कहा जासके। आकाश काल आदि सब पदार्थ अनित्य हैं। फिर इनका सम्बन्ध भी संयोगरूप कल्पना किया जासकता है। किन्हीं भी पदार्थों को संयुक्त कहना यह स्पष्ट करता है, कि कभी इनका विभाग अवश्य रहा है, इसप्रकार जो प्रमाण संयोगरूप धर्मी का ग्रहण कराता है, उसीसे उसके धर्म—नित्यता की बाधा होजाती है, क्योंकि संयुक्त पदार्थों की विभक्त अवस्था में संयोग न रहने से उसकी नित्यता नष्ट होजाती है ॥

इसप्रकार तो नित्य गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय भी नित्य न माना जा-सकेगा, इस आपत्ति का उत्तर देता है—

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ।

समवाय नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसके साधक प्रमाण का अभाव है। वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। जब ऐसा सम्बन्ध ही असिद्ध है,

तब उसके नित्यत्व का विचार करना सर्वथा निराधार है ॥

प्रमाणाभाव का उपपादन करता है—

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ।

'घड़ा लाल' है अथवा 'आम मीठा' है, यह अनुभव सर्वसाधारण को होता है । यहां घड़े में लाल रूप का और आम में मधुर रस का समवाय प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है । इसीप्रकार अनुमान से भी समवाय का ज्ञान होता है । कोई भी ज्ञान, जो विशिष्टरूप है, विशेषण,विशेष्य और सम्बन्ध तीनों को विषय करता है, यह एक नियम है । जैसे कहा जाता है—यह पुरुष दण्डी अर्थात् दण्डविशिष्ट है, यहां दण्ड विशेषण, पुरुष विशेष्य और उनका सम्बन्ध संयोग—तीनों का ज्ञान होता है । इसीप्रकार पृथिवी गन्धवती अर्थात् गन्धविशिष्ट है, यह ज्ञान भी गन्धविशेषण पृथिवी विशेष्य और सम्बन्ध समवाय—इन तीनों का ग्राहक होने से समवाय अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है । इस प्रसंग में सूत्रद्वारा बताया गया, कि उक्त स्थलों में सब व्यवहार स्वरूपसम्बन्ध अथवा तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा सम्पन्न होजाएगा, समवायसम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं है ।

अभिप्राय यह है, कि घट में रूप का सम्बन्ध समवाय मानने पर भी स्वयं समवाय घट या रूप में किस सम्बन्ध से रहता है ? यह प्रश्न उठ खड़ा होता है । यदि समवाय का भी सम्बन्ध अन्य समवाय है, तो अनवस्था होगी, इस कारण समवायसम्बन्ध स्वीकार करने वाले आचार्य भी समवाय की स्थिति घटादि में स्वरूपसम्बन्ध से ही मानते हैं । जब समवाय स्वरूपसम्बन्ध से ही घटादि में अवस्थित माना जाता है, तो रूप आदि भी अपने धर्मी घटादि में स्वरूपसम्बन्ध से अवस्थित क्यों नहीं माने जासकते ? ऐसा होने पर समवाय का कहीं अवकाश नहीं रहता ॥

क्रिया केवल अनुमेय है, इस मत का निराकरण करता है—

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ।

संयोग विभाग आदि चिन्हों के द्वारा क्रिया केवल अनुमान से जानी जाती है, यह कहना अयुक्त है । उचित सामीप्य होने पर क्रिया और क्रिया के आधारतत्त्व दोनों की प्रतीति प्रत्यक्ष से बराबर होती है । ऐसा अनुभव प्रत्येक पुरुष को आए दिन होता रहता है । सूर्य या पृथिवी आदि की गति अथवा क्रिया का प्रत्यक्ष अतिदूर अथवा अतिविशाल एवं अतिसामीप्य आदि दोषों के कारण नहीं होपाता, वहां क्रिया का ज्ञान अनुमान से होना ठीक है । यदि क्रिया संयोगविभाग के आधार पर केवल अनुमानद्वारा जानी जाती हो, तो वृक्ष पर चढ़ते हुए पुरुष के संयोग अथवा विभाग से, पुरुष में क्रिया के समान वृक्ष में भी क्रिया का अनुमानद्वारा भान होना चाहिए । स्पष्ठ ही वहां क्रिया प्रत्यक्ष से जानी जारही है, अतः

क्रिया की केवल अनुमेयता अमान्य है ॥

शरीर पांच भूतों से मिलकर बनता है, इस विचार का प्रतिषेध किया—

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ।

शरीर पृथिवी आदि पांच भूतों से बना हुआ नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि बहुतसे भिन्न जातीय उपादानों से मिलकर किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता। किसी भी वस्तु के उत्पादन में उपादान तत्त्व समानजातीय ही रहते हैं, भिन्नजातीय तत्त्व उस कार्यवस्तु के उत्पादन में सहयोगी या निमित्त होसकते हैं। शरीर की उत्पत्ति में केवल पार्थिव तत्त्व उपादान हैं, अन्य जलादि निमित्तमात्र हैं, इसी आधार पर शरीर को पाञ्चभौतिक कह दिया जाता है।

विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है, कि तृतीयाध्याय में सूत्रकार ने पाञ्चभौतिक आदि रूप से देहविषयक मतभेदमात्र दिखलाए हैं, विशेष अर्थ का अवधारण नहीं किया। यहां अन्य पक्ष का प्रतिषेध करता है। भिक्षु के विचार से देह के पाञ्चभौतिक होने का प्रतिषेध अन्य मत का प्रतिषेध है, और इसके अनुसार देह को पार्थिवरूप में ऐकभौतिक मानना सांख्यसिद्धान्त है।

भिक्षु का यह विचार कापिलसांख्यमत के सर्वथा विरुद्ध है। तृतीयाध्याय के १९वें सूत्र में 'ऐकभौतिकमित्यरे' कहकर कपिल ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि देह को ऐकभौतिक [पार्थिव] मानना सांख्यमत नहीं है। १७वें सूत्र में देह को पाञ्चभौतिक बताया है। सूत्रों की रचना से स्पष्ट है, कि यह सांख्य का अपना मत है, व्याख्याकारों ने भी ऐसा स्वीकार किया है।

जिस व्यक्ति ने अन्य सूत्रों के साथ इस सूत्र का यहां प्रक्षेप किया है, वह न्याय-वैशेषिक की विचारधारा से प्रभावित है। गौतमन्यायदर्शन सूत्र [३।१।२८] के भाष्य में देह की पाञ्चभौतिकता का प्रत्याख्यान करने के लिए वात्स्यायन ने जो हेतु प्रस्तुत किया है, वही भाव इस सूत्र में उपलब्ध है, जो सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। विजातीय उपादानतत्त्व किसी कार्य को आरम्भ नहीं करते या कार्यरूप में परिणत नहीं होते, ऐसा मत सांख्य का नहीं है, क्योंकि सत्त्वरजस्तमस् परस्पर विलक्षण एवं विजातीय होने पर भी समस्त जगत् के उपादान हैं। विलक्षणों के मिथुन से ही संसार विविधता के रूप में आविर्भूत होपाता है। त्रिगुण के विविध कार्य भी अन्योन्यमिथुन से आगे विविधरूपों में परिणत होते रहते हैं। देह भी इसीप्रकार पांच भूतों के मिथुनीकृत होने पर परिणत होता है। यह भी कहना ठीक नहीं, कि विजातीय तत्त्व बराबर-बराबर (समभाव में) रहकर कार्य के आरम्भक नहीं होते। क्योंकि उनका यह दावा नहीं, कि विलक्षण उपादानतत्त्व सम अवस्था में रहकर ही परिणामजनक हैं, प्रत्युत इसके विपरीत वे विजातीय उपादान तत्त्वों के विषम मिथुनीभाव से ही परिणाम की प्रवृत्ति मानते हैं।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि इस सूत्र में सांख्य-सिद्धान्त से विपरीत अर्थ प्रतिपादित है। वस्तुत: इस प्रसंग के अन्य भी अनेक सूत्र ऐसे हैं, जिनमें सांख्यसिद्धान्त की उपेक्षा की गई है, तथा विपरीत अर्थ का प्रतिपादन कर दिया गया है। यह भी एक कारण है, जिससे इन सूत्रों को कपिल की रचना नहीं माना जाना चाहिए ।।

शरीर स्थूलमात्र एकप्रकार का ही होता है, सूक्ष्मशरीर आदि की कल्पना असंगत है। इसका समाधान करता है—

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ।

स्थूलशरीर के अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार का शरीर नहीं है, ऐसा नियम अथवा ऐसी व्यवस्था करना असंगत है, क्योंकि आत्मा का स्थूलशरीर से अतिरिक्त एक आतिवाहिकशरीर भी विद्यमान रहता है। एक स्थूलशरीर के अतिक्रान्त होने अर्थात् छोड़े जाने पर देहान्तर में आत्मा का वहन करने से इसका नाम आतिवाहिकशरीर है। इसीको सूक्ष्मशरीर कहते हैं, जो दस बाह्य इन्द्रिय, तीन अन्त:करण और पांच तन्मात्र—इन अठारह अवयवों से घटित होता है। सर्ग के आदिकाल में सर्वप्रथम इन्हीं तत्त्वों की रचना होकर प्रत्येक आत्मा के साथ इनका सम्पर्क होजाता है। इस सम्पर्क में आत्म-कर्म और परमात्मा की प्रेरणा नियामक रहती हैं। आदिसर्ग से प्रलयकालपर्यन्त आत्मा इस शरीर से परिवेष्टित रहता है। यदि आत्मज्ञान होजाए, तो सर्ग के मध्यकाल में इससे छुटकारा होजाता है ।।

इन्द्रियां अर्थ से सम्बद्ध होकर अर्थ को प्रकाशित (बोधित) करती हैं, अथवा विना ही सम्बन्ध के कर देती हैं? उत्तर देता है—

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ।

इन्द्रियां अर्थ को विना प्राप्त (सम्बद्ध) हुए प्रकाशित नहीं करतीं। जबतक अर्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होजाए, तबतक इन्द्रिय उस अर्थ को बोधन कराने का साधन नहीं बन सकती। जो वस्तु अप्राप्त-असंबद्ध अर्थात् व्यवहित है, उसका ज्ञान नहीं होता। यदि सम्बन्ध के विना ही ज्ञान होजाया करता, तो सब वस्तुओं का ज्ञान सदा होता रहता। ज्ञान होने में व्यवहित—अव्यवहित का कोई भेद न रहता। पर यह अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। इसलिए इन्द्रियां असंबद्ध विषय को ग्रहण करने में साधन नहीं होपातीं ।।

चक्षु से दूरस्थ विषय का ग्रहण देखा जाता है, तब यही संभव होसकता है, कि चक्षु रश्मिद्वारा विषयदेश में जा उसके ग्रहण का साधन बने। ऐसी स्थिति में चक्षु को तैजस मानना चाहिए, आहंकारिक नहीं। समाधान करता है—

न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ।

गोलकस्थान से विषयदेश तक अपसर्पण (दूर तक सरकना या पहुंचना)

तेज का संभव है, अतः चक्षु को तैजस मानना चाहिए। यह कथन युक्त नहीं है, कारण यह है, कि इन्द्रिय का अपसर्पणद्वारा विषयदेश में पहुंचकर ही विषय का ग्रहण होसकता हो, ऐसा नहीं है, वह ग्रहण इन्द्रिय-वृत्तिद्वारा संभव होसकता है, इसलिए चक्षु को तैजस मानना आवश्यक नहीं ॥

ऐसी इन्द्रियवृत्ति के अस्तित्व में प्रमाण क्या है ? बताता है—

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः ।

प्राप्त अर्थ का बोध होजाना ही वृत्ति की सिद्धि में प्रमाण है। यदि इन्द्रिय-वृत्ति का अस्तित्व न हो, तो गोलकस्थित इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध और उसका ग्रहण संभव न हो; पर ग्रहण होता है, अतः इन्द्रियवृत्ति का मानना आवश्यक है ॥

इन्द्रिय गोलकदेश में रहता है, पर इन्द्रियवृत्ति विषयदेश में जाती है, इसकी उपपत्ति के लिए वृत्ति के स्वरूप का निर्देश करता है—

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति ।

इन्द्रियवृत्ति या तो इन्द्रिय का भाग अर्थात् अंश मानी जासकती है, जैसे चिनगारी आग का अंश है, या उसका गुण मानी जासकती है, जैसे रूपादि आग के गुण हैं। सूत्रकार कहता है—वृत्ति न इन्द्रिय का अंश है और न उसका गुण; प्रत्युत वह एक अतिरिक्त तत्त्व है, जो इन्द्रिय का परिणामविशेष कहा जासकता है। क्योंकि वह विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध करने के लिए विषयदेश तक अपसर्पण करता है। सूत्र में 'इति' पद हेतु अर्थ में है। यदि वृत्ति इन्द्रिय का अंश है, तो इन्द्रिय से विभक्त होने के कारण वह विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, यदि गुण माना जाए, तो अक्रिय होने से उसमें सर्पण संभव नहीं, पर वृत्ति विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध भी स्थापित करती है, और विषयदेश तक सर्पण भी करती है; इसलिए वृत्ति इन्द्रिय के अंश तथा गुण दोनों से अतिरिक्त तत्त्व है। जो इन्द्रिय का परिणामविशेष ही समझना चाहिए ॥

इन्द्रिय अथवा करणों की वृत्ति तत्त्वान्तर है और उनका परिणामविशेष है, विषयग्रहण के लिए वृत्ति विषयदेश में सर्पण करती है, पर इच्छा आदि बुद्धि की वृत्ति हैं, उनमें सर्पण कैसे होगा ? क्योंकि ये गुणरूप हैं। द्रव्य मानने पर सर्पण संभव होसकता है, उस अवस्था में इन्द्रियां भौतिक होनी चाहिएं, आहंकारिक नहीं। उत्तर देता है—

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ।

द्रव्य में ही क्रिया हो—हमारे शास्त्र में ऐसा कोई नियम नहीं है। क्रिया का अस्तित्व प्रमाण से जहां भी उपलब्ध होता है, वहां सब जगह क्रिया का होना युक्तियुक्त है। अर्थ को प्रकाशित करने के कारण वृत्ति में क्रिया का बोध होता

है, तो वहां क्रिया मानना असंगत नहीं। इससे इन्द्रियों के आहंकारिक होने में कोई बाधा नहीं आती ॥

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होजाता है, कि इन्द्रियवृत्ति-विषयक यह सम्पूर्ण प्रकरण सांख्यसिद्धान्त के साथ सामञ्जस्य नहीं रखता। वृत्ति को तत्त्वान्तर मानना किसीप्रकार सांख्यविचार के अनुकूल नहीं। वास्तविकता को ओझल कर अनिरुद्ध तथा महादेव ने इसके सामञ्जस्य के लिए सांख्य के अनियतपदार्थवादी होने की घोषणा की है। वस्तुतः इन्द्रिय अथवा करण का विषयाकार होना ही उसकी वृत्ति है। इसमें चक्षु को छोड़कर अन्य समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रिय देश में आकर गृहीत होते हैं। इन्द्रियदेश में जैसे ही विषय उपस्थित होता है, इन्द्रिय तदाकार हो उठती है, यह उसका स्वभाव है। इसप्रकार इन्द्रिय का विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है, इसीको इन्द्रिय का विषयाकारपरिणाम कहा जाता है।

चक्षु के विषय में यह कहा और समझा जाता है, कि यहां विषय इन्द्रियदेश में नहीं आता, प्रत्युत इन्द्रिय ही विषयदेश में जाती है। न्याय-वैशेषिक में चक्षु को तैजस मानकर चक्षुरश्मि विषयदेश में जाकर विषय को ग्रहण करती हैं, यह कल्पना की गई है। सांख्य में चक्षु को तैजस न माने जाने से उसका विषयदेश में जाना कैसे सम्भव होगा, यह प्रश्न होता है। जिस व्यक्ति ने इन सूत्रों को यहां प्रक्षिप्त किया है, वह न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त से इतना प्रभावित है, कि वास्तविक सांख्य-विचार उससे ओझल रहगया है, और उसने चक्षुर्वृत्ति को विषयदेश में पहुंचने के सामञ्जस्य के लिए वृत्तिमात्र को एक तत्त्वान्तर कल्पना कर डाला, और उसमें सर्पण क्रिया का होना भी कल्पना कर लिया गया। यह कल्पना वस्तुतः अनेक दोषों से परिपूर्ण हैं।

१. चक्षुर्वृत्ति यदि सर्पण करके विषयदेश में जाती है, तो दो गज़ पर रक्खी वस्तु और दो लाख अथवा दस लाख मील पर विद्यमान वस्तु के ग्रहण में काल का पर्याप्त अन्तर होना चाहिए। वृत्ति की सर्पण-क्रिया दो गज़ के लिए जितना समय लेती है, निश्चित ही दस लाख मील तक पहुंचने में उस क्रिया को अत्यधिक पर्याप्त समय लगना चाहिए। पर यह प्रत्यक्ष है, कि सामने रक्खी वस्तु को हम जितने क्षण में देखते हैं, प्रायः उतने ही क्षण में हम चन्द्र और सूर्य को देख लेते हैं। इससे स्पष्ट है, कि वृत्ति में सर्पण की कल्पना नहीं की जानी चाहिए।

२. वृत्ति सर्पणद्वारा यदि विषयदेश में पहुंचकर विषय का ग्रहण करती है, तो जैसे घट-देश में घट के यथार्थ आकार-प्रकार का हमें ग्रहण होता है, उसीप्रकार चन्द्र-देश में चन्द्र के और सूर्यादि देश में सूर्यादि के यथार्थ आकार-प्रकार का ग्रहण होना चाहिए, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। इससे यह निश्चित होता

है, कि वृत्ति सर्पण करके चन्द्रादि देश में नहीं पहुंचती। कहा जासकता है, कि चन्द्र आदि अतिदूर होने के कारण यथार्थ आकार-प्रकार में न दीखकर लघु आकार में दीखते हैं। यदि यही बात है, तो वृत्ति का सर्पण और विषयदेश में पहुंचकर विषय का ग्रहण करना दोनों कथन असत्य होजाते हैं, क्योंकि वृत्ति के विषयदेश में पहुंच-कर विषय का ग्रहण करने की स्थिति में दूरी का प्रश्न ही नहीं उठता। तब जिस वस्तु को हम दूरस्थित कहते हैं, उसका भी यथार्थ आकारप्रकार में ग्रहण होना चाहिए।

३. इन सूत्रों में समस्त इन्द्रियों की वृत्ति को तत्त्वान्तर माना गया है। उनमें भी सर्पण स्वीकार किया जाना चाहिए, और तब अन्य इन्द्रियों के विषय उतनी दूर पर स्थित होने पर भी गृहीत होने चाहिएं। तब हमें अतिदूरस्थित शब्द गन्ध और रस आदि का ग्रहण बराबर होता रहना चाहिए। यदि चक्षुर्वृत्ति को ही तत्त्वान्तर और सर्पणशील माना जाता है, तो इस विशेषता का कारण होना चाहिए, जबकि सांख्यमत में समस्त इन्द्रियां आहंकारिक होने से समानोपादानक हैं। कम-से-कम सांख्य के विचार के अनुसार यह नहीं कहा जासकता, कि यह अका-रणक विशेषता केवल चक्षुर्वृत्ति के लिए है।

४. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में भिक्षु न मालूम कहां विचरण कर रहे हैं। उन्होंने यहां वृत्ति को व्यापार बताया, जो स्वयं क्रियारूप है, उसमें और सर्पण आदि क्रिया की कल्पना। इस सूत्र पर भिक्षु का विवरण चिन्तनीय है।

अब विचारणीय यह है, कि वस्तु-ग्रहण की सांख्याभिमत प्रक्रिया क्या है? वस्तुतः सांख्य किसी इन्द्रिय का विषयदेश में जाना स्वीकार नहीं करता। अन्य इन्द्रियों के विषय जैसे इन्द्रियदेश में उपस्थित होने पर गृहीत होते हैं, इसी-प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के विषय भी इन्द्रियदेश में ही गृहीत होते हैं। कारण यह है कि चक्षु के गोलक की रचना इसप्रकार की है, कि उसमें विषय प्रतिबिम्बित हो-जाता है। जैसे ही विषय गोलक में प्रतिबिम्बित होता है, चक्षु इन्द्रिय तदाकार हो उठती है। आगे का सब व्यापार अन्य इन्द्रियों के समान ही है। अन्य इन्द्रियों के गोलकों की रचना ऐसी नहीं है, जिनमें दूरस्थित विषय प्रतिबिम्बित होसकें, इस-लिए उन्हें इन्द्रियदेश में उपस्थित होने पर ही ग्रहण किया जासकता है। चक्षु के गोलक में विषय के प्रतिबिम्बित होजाने की क्षमता होने के कारण विषय चाहे समीप हो या दूर, न्यूनाधिककाल की अपेक्षा के विना ही—प्रतिबिम्बित होजाता है। ऐसी स्थिति में वस्तु का दूर होना उसके यथार्थ आकार-प्रकार के प्रतिबिम्बित होने में बाधक रहता है।

सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, कि बुद्धि इन्द्रियप्रणा-लिकाद्वारा विषयाकार होती है, संभवतः कहीं पर ऐसे भी उल्लेख हों, कि बुद्धि

इन्द्रियद्वारा विषयदेश में पहुंचती है, और तदाकार हो विषय का ग्रहण करती है। इसप्रकार के सब उल्लेखों का तात्पर्य इतना ही है, कि बुद्धि का बाह्य-विषय के साथ सीधा संपर्क कभी नहीं होता, वह केवल इन्द्रियद्वारा संपन्न होसकता है। फलतः न इन्द्रिय शरीर से बाहर विषयदेश में कहीं जाती है, और न इन्द्रियद्वारा बुद्धि।

वृत्ति की सर्पणक्रिया को पुष्ट करने के लिए अनिरुद्ध और महादेव ने एक पुराना पद्य अपनी व्याख्याओं में उद्धृत किया है—

वृत्तयः प्रसरद्रूपाः स्फारिताक्षस्य यत्र च।
अदृष्टानुग्रहात्तत्र संबद्धार्थावबोधिकाः॥

जिस अवस्था में स्वस्थेन्द्रिय पुरुष की वृत्तियां (इन्द्रियवृत्तियां) प्रसर्पण-शील (—प्रसरद्रूपाः) होती हैं, उस अवस्था में धर्माधर्म के अनुसार वे संबद्ध अर्थ का अवबोधन कराती हैं।

इस पद्य का प्रथम चरण विचारणीय है, जिसमें वृत्तियों को 'प्रसरद्रूप' कहा गया है। व्याख्याकारों ने इसका यह अभिप्राय समझा है, कि वृत्ति सर्पणशील होने से विषयदेश में जाकर विषय को ग्रहण करती है, इसीकारण उन्होंने अपने कथन में इसे प्रमाणरूप से उपस्थित किया। यद्यपि पद्य में कोई ऐसा पद नहीं है, जिससे यह स्पष्ट हो, कि वृत्ति विषयदेश में जाकर विषय को ग्रहण करती है। समझना यह है, कि 'प्रसरद्रूप' पद का अभिप्राय क्या है।

घट पट आदि वस्तुरूप विषय अथवा अन्य गन्ध, रूप,रस आदि विषय सर्वदा एक जैसा नहीं होता। वस्तु गोल चपटी लम्बी तिकोन चौकोन चौड़ी खड़ी पड़ी विविध प्रकारों में होती है। इन प्रकारों की कोई सीमा नहीं है। वृत्ति का स्वरूप है—इन्द्रिय का विषयाकार होना। वस्तु के आकार-प्रकार के अनुरूप ही 'वृत्ति' का आत्मलाभ होगा। जैसा विषय है, उसके अनुरूप इन्द्रिय का होना, इन्द्रियवृत्ति का स्वरूप है। इसी आधार पर वृत्ति को 'प्रसरद्रूप' कहा गया है। उसमें अदल-बदल होती रहती है, वह एकरूप नहीं है। जब विषय अदलता-बदलता है, और इन्द्रिय का तदाकार होना ही वृत्ति है, तब वृत्ति का अदल-बदल होना—प्रसरद्रूप होना—अनिवार्य है। यही इसका अभिप्राय है। यही स्थिति गन्ध आदि विषयों में समझ-नी चाहिए। उनकी विविधता लोकप्रत्यक्ष है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि यह इन्द्रियवृत्ति का प्रसंग सांख्यसिद्धान्त की उपेक्षा कर प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल के व्याख्या-कार भी सांख्यमत के साथ इसका सामञ्जस्य बैठाने में सफल नहीं होसके। अनेक आधुनिक व्याख्याकारों ने भी अन्धकार में ही लकीर को पीटा है। वे इस विषय की वास्तविकता के आसपास पहुंचने में भी सफल नहीं होसके। फलतः यह सब

प्रसंग कपिल की रचना नहीं है, यह निश्चित होता है ।।

आहंकारिक होने पर भी देशभेद से इन्द्रियां भौतिक होसकती हैं। तब इन्द्रियों को सर्वथा आहंकारिक मानना अयुक्त है। समाधान करता है—

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ।

देशान्तर में भी इन्द्रियों का अन्य उपादान होना संभव नहीं। जैसे हमारे इस भूलोक मे इन्द्रियां आहंकारिक हैं, ऐसे ही सब लोकों में जहां भी प्राणी-सृष्टि है, इन्द्रियां अहंकारोपादानक हैं, क्योंकि जगत्सर्ग के उपादान सर्वत्र समान हैं, यह एक नियम एक व्यवस्था है, ऐसा समझना चाहिए ।।

अन्य वैदिक दर्शनों में भूतों से इन्द्रियोत्पत्ति का निर्देश क्यों है ? बताया—

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ।

कभी-कभी किसी कार्य में निमित्त की प्रधानता प्रकट करने के लिए उस निमित्त में उपादानता का व्यवहार होजाता है। दाह अग्नि का कार्य है। अग्नि अयोगोलक में हो या ईंधन में हो, दाह अग्निद्वारा होता है, पर व्यवहार ऐसा देखा जाता है, कि वह लोहे में हाथ लगने से जल गया अथवा ईंधन में पांव पड़ जाने से जल गया। जलने का उपादान आग है, लोहा या ईंधन केवल निमित्त है। उनकी प्रधानता प्रकट करने की दृष्टि से 'लोहे से जल गया' या 'ईंधन से जल गया' ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इसीप्रकार इन्द्रिय यद्यपि अहंकार उपादान से उत्पन्न हैं, पर वहां भूतों का निमित्तरूप में सहयोग होने से इन्द्रियों को कहीं-कहीं भौतिक कह दिया गया है ।।

इन्द्रियविषयक यह मन्तव्य भी सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल नहीं। सर्गोत्पत्ति के क्रम में अहंकार से इन्द्रियों के परिणत होने का जहां अवसर है, वहां पृथिव्यादि भूतों का अभी अस्तित्व प्रादुर्भाव में ही नहीं आया। इन्द्रियरचना के अनन्तर 'तन्मात्र' प्रादुर्भाव में आते हैं, तन्मात्र से पृथिव्यादि परमाणु का परिणाम होता है। जब इन्द्रियोत्पत्ति के अवसर पर भूतों का अस्तित्व ही नहीं है, तो उनका सहयोग इन्द्रियोत्पाद में कैसे संभव होगा। यह कथन सूत्रप्रक्षेप्ता की सांख्यप्रक्रिया से अनभिज्ञता का ही द्योतक है। इन्द्रियविषयक भौतिकता का व्यपदेश जहां-तहां जो उपलब्ध होता है, वह सब औपचारिक है, केवल व्यवहार की दृष्टि से; वह वस्तुस्थिति का द्योतक नहीं है। फिर इस प्रक्षिप्त प्रकरण के प्रारम्भ में ही इन्द्रियों की भौतिकता का प्रतिषेध किया है। यहां भूतों की निमित्तता का व्यपदेश परस्पर विरोध को प्रकट करता है ।।

शरीर चार प्रकार का है, यह किन्हीं आचार्यों का मत है। यह देहमात्र के वर्ग का विभाजन है, समस्त प्रकार के देह उत्पत्ति की दृष्टि से चार विभागों में अन्तर्हित होजाते हैं। इस विषय में कहा—

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकञ्चेति न नियमः ।

रचना की दृष्टि से देह चार वर्गों में विभाजित है, यह नियम नहीं है, प्रत्युत चार से अधिक वर्गों में विभाजित देखा जाता है, जो इसप्रकार समझना चाहिए। १—ऊष्मज—ऊष्मा अर्थात् सीमित गरमी पाकर जो देह उत्पन्न होते हैं, वे ऊष्मज हैं, जैसे—बहुत प्रकार के कीड़े, डांस, मच्छर आदि। २—अण्डज—जो अण्डे से पैदा हों, वे देह अण्डज कहे जाते हैं। जैसे—चींटी, पक्षी, सांप आदि के शरीर। ३—जरायुज—गर्भ जिस झिल्ली से लिपटा रहता है, उसका नाम 'जरायु' है। जरायु से आवेष्टित जो देह उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज हैं। जैसे मनुष्य तथा' गौ आदि पशुओं के देह। ४—उद्भिज्ज—भूमि को फाड़कर जो उत्पन्न होते हैं वे उद्भिज्ज हैं। जैसे—वृक्ष, लता, ओषधि तथा अन्य विविधप्रकार के क्षुप आदि। ५—सांकल्पिक—सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के संकल्पमात्र से जो ऋषि आदि के तथा अन्य प्राणियों के देह उत्पन्न होजाते हैं, वे सांकल्पिक हैं। ६—सांसिद्धिक—योगसाधनद्वारा सिद्ध्यतिशय प्राप्त होजाने पर योगीजन जिस देह की इच्छानुसार रचना कर लेते हैं, वे देह सांसिद्धिक कहे जाते हैं। इसप्रकार देहों के छह वर्ग हैं। संभव है, देहरचना के और भी कोई प्रकार हों, पर इन छह वर्गो में प्रायः सबका समावेश माना गया है। स्वेदजशरीर, जो पसीना आदि के सहयोग से उत्पन्न होते हैं, जैसे—जूं लीक आदि; इनका समावेष ऊष्मज वर्ग में होजाता है। ये सब ही प्रकार के शरीर भौतिक होते हैं, इसलिए सूत्र में इन सबका समाहारद्वन्द्वद्वारा निर्देश किया गया प्रतीत होता है। इसप्रकार इस सूत्रद्वारा देहविषयक विशेषताओं का निरूपण किया गया है।

इसी प्रकरण में पूर्वदेह की पाञ्चभौतिकता का निषेध कर वह केवल एक भूत पृथिवी से उत्पन्न होता है, यह कहा है; उसीका विशेष प्रतिपादन इस सूत्र से किया—

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ।

सब ही प्रकार के देहों में एकमात्र पृथिवीभूत उपादान है, क्योंकि यह देहों की रचना में असाधारण—प्रधान कारण है। लोक में भी देहों को पार्थिव समझा जाता है। तृतीय अध्याय में देह को जो पाञ्चभौतिक कहा है, वह व्यपदेश-कथन ऐसा ही समझना चाहिए, जैसाकि पूर्व इसी प्रकरण में इन्द्रियों के लिए आहंकारिक व्यपदेश है। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय का तेज आदि भूत के सहयोग से उत्पाद होने पर भी उसे आहंकारिक कहा गया है; ऐसे ही केवल पृथिव्युपादानक देह को साधारणनिमित्तरूप जलादि के सहयोग के कारण पाञ्चभौतिक कह दिया गया है

इन्द्रियों की आहंकारिकता और देह की पाञ्चभौतिकता के प्रतिकूल वर्णन जो इस प्रकरण के सूत्रों में हुआ है, वह वस्तुतः सांख्यसिद्धान्त का विरोध है।

इसका निर्देश हमने उन सूत्रों पर यथावसर कर दिया है। तृतीय अध्याय में जहां [३।१७] देह को पाञ्चभौतिक बताया है, वहां सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध ने लिखा है—विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वपक्षमाह। देह का पाञ्चभौतिक होना सांख्य का अपना पक्ष है। विज्ञानभिक्षु ने भी सूत्र का अर्थ किया है—पञ्चानां भूतानां मिलितानां परिणामो देह इत्यर्थः। पांचों भूतों का मिलित परिणाम देह है। इससे अगले सूत्रों में देह की ऐकभौतिकता तथा चातुर्भौतिकता को अन्यों का अर्थात् सांख्यातिरिक्त आचार्यों का मत बताया गया है। वे आचार्य चाहे कोई हों, पर देह की ऐकभौतिकता का मत सांख्य का नहीं है, यह निश्चित है। प्रस्तुत सूत्रों में सांख्यसिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। मध्यकालिक विद्वानों ने भी इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए सांख्यसिद्धान्तों को भुला दिया है। वस्तुतः सांख्य-सिद्धान्त से इन सूत्रों का सामञ्जस्य संभव नहीं। यह प्रकरण सर्वथा अकापिल है॥

देह में प्राण की प्रधानता देखी जाती है, अतः प्राण को देह का आरम्भक मान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है, जो देह का आरम्भक वायु है, उसे प्राणरूप वायु मान लेना चाहिए, क्योंकि देह में प्राण की प्रधानता देखी जाती है। इस विषय में कहा—

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः।

देह का आरम्भक जो वायु है, वह प्राणरूप नहीं है। अभिप्राय यह, कि प्राण को देह का आरम्भक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन्द्रियों की शक्ति से प्राण की सिद्धि है, इन्द्रियां रहती हैं तो प्राण रहता है, अन्यथा नहीं। प्राण समस्त करणों की सामान्यवृत्ति है, उसका अस्तित्व देह का उपादान नहीं होसकता। इन्द्रियों के अस्तित्व में ही यह वृत्ति जीवनधारणरूप में आत्मलाभ करती है। जब इन्द्रियां देह को छोड़ जाती हैं, तो उनका वृत्तिरूप प्राण भी नहीं रहता, पर देह मृत अवस्था में पड़ा रहजाता है।

इस सूत्र की विविध व्याख्याओं के आधार पर यह आशय भी प्रकट होता है, कि यहां प्राण को वायु मानने का निरास किया गया है, जबकि एक सूत्र [२।३१] में प्राण को वायु कहा है। यह भी विचारणीय बात है, कि समस्त करणों का सामान्यवृत्तिरूप प्राण वायु कैसे है? यह संभव होसकता है, कि देहारम्भक वायु प्राणरूप वायु से भिन्न प्रकार का हो। श्वास-प्रश्वास आदि तो उसका स्थूल विकाररूप हैं, स्वरूपतः प्राणवायु अतिसूक्ष्म है, जिसके आधार पर समस्त वातनाड़ीचक्र अपना कार्य करता है, तथा रक्त आदि का संचरण भी उसी के आधार पर होता है। इसप्रकार देहारम्भक वायु को प्राणरूप न कहना ठीक होसकता है, तथा प्राण को भौतिक वायुरूप न समझना चाहिए।

इस कथन में एक और नई आपत्ति खड़ी होजाती है। जब हम कहते हैं—

'देहारम्भक वायु प्राण नहीं है', तब हम वायु को देह का आरम्भक अवश्य मान लेते हैं। आरम्भक का अर्थ उपादान कारण है। अभी पहले सूत्रों में देह का उपादान केवल पृथिवी को बताया गया है, और अन्य भूतों की उपादानता का निषेध किया है, इन कथनों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है॥

भोक्ता जीवात्मा देहों में कब अधिष्ठित होता है? देहरचना हो जाने पर वह आता है, या उसके आजाने पर देहरचना प्रारम्भ होती है? इस विषय में बताया—

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात्।

भोक्ता जीवात्मा के अधिष्ठान से भोग के आधारभूत स्थूल देह का निर्माण प्रारम्भ होता है। शुक्रशोणितसंमिलन के साथ ही जीवात्मा उपस्थित रहता है, अर्थात् स्थूल देह के आरम्भक प्रथम अणुओं में जीवात्मा पहले से विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिए, अन्यथा संमिलित देहारम्भक अणुओं का सड़जाना आवश्यक है। जैसे जीवात्मा से रहित मृतशरीर सड़जाता है। देहरचना के प्रारम्भिक अणुओं में आत्म-चेतन की विद्यमानता के कारण यहां सूक्ष्म अवस्था में प्राण का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। आत्मा के सतत आवेष्टन सूक्ष्म-शरीर के घटक बुद्धयादि करणों की जीवनधारणरूप प्राण-सामान्यवृत्ति है, इसी से देह का जीवित रहना और बढ़ना आदि संभव होता है, अतः यह स्पष्ट है, कि चेतन आत्मा से अधिष्ठित अणु ही देह के आरम्भक होते हैं॥

यदि जीवन प्राण पर ही अवलम्बित है, तो प्राण से अधिष्ठित अणुओं को ही देहारम्भक मान लिया जाय, चेतन आत्मा को अधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता है? इस विषय में बताया—

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात्।

भृत्य के द्वारा स्वामी का अधिष्ठाता होना प्रकट होता है, साक्षात् नहीं, ऐसा व्यवहार लोक में देखा जाता है। स्वामित्व 'स्व' के होने पर ही प्रकाश में आता है, यदि स्व न हो, तो स्वामित्व अन्तर्हित रहता है। भृत्य ही नहीं, तो मालिक किसका? मालिकपना भृत्य के साम्मुख्य में प्रादुर्भूत होता है। इसीप्रकार स्वामी-चेतन आत्मा उस समय तक अप्रकट है, जब तक उसका भृत्यरूप प्राण प्रकाश में नहीं आता। क्योंकि इन्द्रियां तथा अन्तःकरण आत्मा के भोगसाधन हैं, और जीवनधारणरूप प्राण सब करणों का व्यापार है, इसलिए जैसे ही जीवन प्रारम्भ होता है, इस बात को हम समझते हैं, वैसे ही यह स्पष्ट होजाता है, कि यहां चेतन आत्मा आविराजा है, अन्यथा उसके आश्रित, उसकी छाया में उसके लिये दौड़धूप करने वाले भृत्यस्थानीय करण अपने व्यापार में सतत संलग्न न दीखते। इसप्रकार प्राणोंका अस्तित्व आत्माकी उपस्थिति के कारण हैं, वह अपने स्वामी को धक्का

देकर स्वयं उसके स्थान पर अधिष्ठाता बनने का साहस नहीं कर सकता। फलतः देहारम्भक अणु प्राणसे अधिष्ठित न कहे जाकर आत्म-चेतन से अधिष्ठित ही समझे जाने चाहिएं।

◇ ◇ ◇

वर्त्तमान सूत्रसंख्याक्रम के अनुसार पञ्चम अध्याय में १२० से १२३ तक उपलब्ध चार सूत्र और प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इस विषय का अधिक विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ १७७ से १७६ तक में देखें। सूत्रों का अर्थ यहां प्रस्तुत किया जाता है।

बाण आदि के फेंके जाने में तीव्र आघात से बाण में वेग संस्कार उत्पन्न होजाता है। वेग से क्रिया, और फिर क्रिया से वेग, इसप्रकार अनेक वेग आदि उत्पन्न होते हैं, इस मत का निरास करता है—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः।

बाण आदि में तीव्र आघात से जो वेग नामक संस्कार पैदा होजाता है, वही एक संस्कार आगे क्रियाओं को निरन्तर उत्पन्न करता रहता है। ऐसा नहीं है, कि प्रत्येक क्रिया को उत्पन्न करने के लिए संस्कार भिन्न-भिन्न माना जाए। ऐसा मानने पर व्यर्थ में बहुत से संस्कार स्वीकार करने की कल्पना करनी पड़ती है।

विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या में 'संस्कार' पद का 'वेगाख्य संस्कार' अर्थ न कर 'भावना संस्कार' अर्थ किया है, जो आत्मा का धर्म कहा जासकता है, और 'क्रिया' पद का अर्थ किया है–'भोग'। जब कोई व्यक्ति जीवन्मुक्त होजाता है, तब भी अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होजाने पर भी कुछ प्रारब्ध संस्कार शेष रह-जाने से शरीरधारण चालू रहता है। उस अवस्था में ज्ञानाग्नि से सञ्चित कर्म अथवा संस्कार दग्ध होचुके होते हैं, प्रारब्धसंस्कार केवल शेष रहते हैं, उनमें जो एक संस्कार क्रिया अर्थात् भोग का सम्पादन कर देता है, वह समाप्त होजाता है, प्रत्येक भोग के लिए नानासंस्कार इकट्ठे नहीं होते। जैसे कुलालचक्र की एक भ्रमणरूप क्रिया की समाप्ति तक एक ही वेगाख्य संस्कार उसका संचालक रहता है। एक भोग में बहुत से संस्कार मानने से व्यर्थ में कल्पनागौरव ही होगा॥

एक संस्कार से एक क्रिया होती है, क्रिया से फिर संस्कार और संस्कार से फिर क्रिया, लोक में ऐसा अनुभव होता है। इस विषय में कहा—

न बाह्यबुद्धिनियमः।

लोक में बाह्यविषयक ज्ञान होने में यह नियम नहीं है, कि एक संस्कार से एक ही क्रिया होने का अनुभव हो। लोक में एक संस्कार से अनेक क्रिया होने

का भी अनुभव होता है । बाह्यज्ञान में एक ही अर्थ भासता है, ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि जब 'घट है' ऐसी प्रतीत होती है, वहां घट, सत्ता सामान्य और उनका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है ॥

जंगमशरीर के समान ही स्थावरशरीर है, यह अतिदेश करता है—

वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि
भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ।

जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीर भोक्ता आत्मा के लिए भोगों के आयतन-स्थान है, इसीप्रकार वृक्ष, लता, ओषधि, वनस्पति, घास, तृण आदि शरीर भी भोक्ता के भोगायतन हैं। कर्मफलों को भोगने के लिए वृक्षादि योनियां हैं। यहां भी अज्ञानान्धकार की अवस्था में आत्माओं का निवास रहता है, और जैसे आत्मा का वियोग होजाने पर शरीर सड़ जाता है, ऐसे ही वृक्ष आदि में आत्मा का वियोग होने पर वह सूख जाता है। उपनिषद् [छा० ६।११।२] में कहा है—'अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति'। वृक्ष की जिस शाखा को जीव छोड़ देता है, वह सूख जाती है।

विज्ञानभिक्षु ने पहले सूत्र को इसी के साथ मिलाकर अर्थ किया है, और इन्हें एक सूत्र माना है। उसने कहा—उद्भिज्ज शरीर होता है, यह प्रथम प्रतिपादन किया गया है, परन्तु उद्भिज्ज में बाह्य-बुद्धि के अभाव से उसे शरीर अर्थात् भोगायतन कहना ठीक नहीं, क्योंकि भोग बुद्धि का ही नाम है, सुख दुःख आदि का ज्ञान होना ही भोग है। इस आक्षेप का उत्तर दिया—

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्म० यतनत्वं पूर्ववत् ।

जहां आवश्यकरूप से बाह्यज्ञान हो, वही शरीर है ऐसा नियम नहीं है। वृक्ष आदि बाह्यसंज्ञ न होकर अन्तःसंज्ञ होते हैं। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में जहां जंगम स्थावर सृष्टि का वर्णन किया गया है, वहां वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, ओषधि, वनस्पति आदि के विषय में बताया है—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विताः' [१।४९] वृक्ष आदि में बाह्यज्ञान का अभाव होने पर भी आन्तर-ज्ञान होता है, और ये सुख-दुःख से युक्त रहते हैं। अतः वृक्षादि शरीर भी आत्मा के भोगायतन है ॥

स्थावर शरीर भोगायतन है, यह स्मृति से प्रमाणित करता है—

स्मृतेश्च ।

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के आधार पर भी यह प्रमाणित होता है, कि स्थावर शरीर कर्मानुसार भोग आदि के लिए प्राप्त होता है। मनुस्मृति में बताया गया है—

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ [१२।९]

शरीर द्वारा किए जाने वाले पापकर्मों से प्राणी स्थावर योनि को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है, कि पापकर्मों के भोग के लिए जीवात्मा वृक्षादि स्थावर शरीरों में जाता है, इसलिए स्थावर को भोगायतन होने से देह मानना चाहिए ॥

परिशिष्ट ३

सांख्यदर्शन—सूत्रसूची

[अकारादिक्रमानुसार]

परिशिष्ट ४

प्रक्षिप्तसूत्रसूची

[अकारादिक्रमानुसार]

अक्टूबर 2009 में प्रकाशित नया साहित्य

राजर्षि मनु व उनकी मनुस्मृति : *सम्पादक : डॉ. सुरेन्द्र कुमार*—पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, आचार्य रामदेव, पं. भगवद्दत्त, पं. वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. भवानीलाल भारतीय, डॉ. कृष्णलाल, डॉ. कृष्णवल्लभ पालीवाल, डॉ. उर्मिला रुस्तगी—इन सभी सुलझे हुए विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों से मनुस्मृति संबंधी भ्रान्तियों को दूर करने में सहायता मिलेगी। डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी ने इसका सम्पादन कर अपने मनुस्मृति-संबंधी चिन्तन को भी पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया है। सुधी पाठकों के लिए यह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। (पृ. सं. 280)

सुविचार : *मदन रहेजा*—हमारा जीवन बीता जा रहा है, परन्तु हम अपनी ही धुन में जिए जा रहे हैं। हमने कभी अपना आत्मनिरीक्षण नहीं किया कि हमने आज तक क्या किया? यदि हम प्रतिदिन एक नया विचार पढ़ें और अपने जीवन में धारण करें तो हमारे जीवन में नया मोड़ आ सकता है। सुविचारों को अपने जीवन में अपना कर अपने अनमोल जीवन को सुधार एवं सँवार सकते हैं। (पृ. सं. 72)

बड़ों की बड़ी बातें : *प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु*—यह पुस्तक ऐसी ही विचारोत्तेजक घटनाओं का संकलन है, जो कि कुछ प्रेरक लोगों के जीवन से ली गई हैं। यह घटनाएँ जो शिक्षा दे रही हैं वह किसी स्कूल-कॉलिज की पाठ्य पुस्तक में नहीं मिलती। यह हमारे विचारों पर गहरी छाप छोड़ते हुए हमारे आचार-व्यवहार में परिवर्तन लाने में सक्षम हैं। (पृ. सं. 144)

गीत भण्डार : *पं. नंद लाल वानप्रस्थी*—लोक व्यवहार में गीतों का बड़ा सार्थक महत्व है। वैदिक काल, मध्य काल और वर्तमान काल में गीतों को पढ़कर, गाकर तथा सुनकर मनुष्य ने अपने दुखों को दूर करने की अनुभूति प्राप्त की है। इसीलिए गीत हमारे सुखों को बढ़ाने में सहायक होते हैं। (पृ. सं. 176)

त्याग की भावना : *पं. धर्मदेव वेदवाचस्पति*—त्याग मनुष्य जीवन का आधार-स्तम्भ है, सब धर्मों का मूल है। त्याग से मनुष्य के आत्मिक तथा सामाजिक जीवन का विकास होता है। श्रेय मार्ग का अनुकरण करने के लिए त्याग का रथ ही सामर्थ्यवान है। पवित्र भाव से किया हुआ त्याग मनुष्य में देवगुणों की पूर्ति करता है। (पृ. सं. 88)

सन्ध्या योग ब्रह्मसाक्षात्कार : *पं. जगन्नाथ पथिक*—प्रत्येक मानव क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता है, और आनन्दमयी अक्षय शांति पाने के लिए कटिबद्ध दिखता है, किंतु उसके हाथ प्रायः असफलता ही लगती है। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक सन्ध्या की वैज्ञानिक व्याख्या को लेखक ने चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। (पृ. सं. 276)

सांख्यदर्शनम्

आचार्य
उदयवीर
शास्त्री

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द